चरकसंहिता

का

सांस्कृतिक अनुशीलन

[चरकसंहिता के अध्ययन एवं स्नातकोत्तर परीक्षा के लिए]

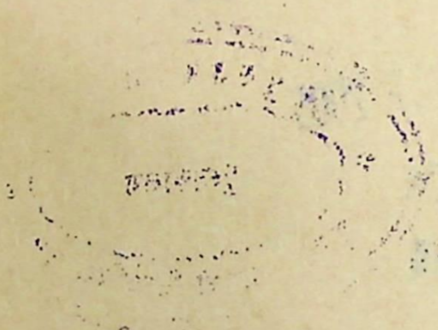
अत्रिदेव विद्यालंकार

शान्ति प्रकाशन
शान्तिसदन, वाराणसी-५

आदरणीय श्री धर्मदत्त जी की
सेवा में

१८/१०/६४

सधन्यवाद
धर्मदत्त वैद्य
१८-१०-६४



चरक संहिता का सांस्कृतिक अनुशीलन

आरोग्यं दोषसमता सर्वाबाध निवर्त्तनम् ।
तदर्थमृषयः पुण्यमायुर्वेदमधीयते ।। काश्यप०

प्रस्तुतकर्ता

अत्रिदेव विद्यालंकार, एम. ए.

शान्ति प्रकाशन
डुमराँव बाग, वाराणसी—५

प्रथम संस्करण : विजयादशमी १९६४

मूल्य—१५ रुपया

प्रकाशक : शान्ति प्रकाशन, शान्ति सदन, डुमराँव बाग, वाराणसी–५ ।
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी—६२८५–२१

कहने योग्य

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः
पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः
पुरातनोक्तानपरिक्ष्य रोचयेत् ॥[1]

सिद्धसेन दिवाकर ।

वैदिक वाङ्मय की अन्तिम कड़ी उपनिषदें हैं । उपनिषदों के अर्थ में वेदान्त शब्द आता है । उपनिषदों में आत्मा, पुनर्जन्म के विषय में सन्देह, श्रेयस और प्रेयस विचार मिलता है । सृष्टि का कर्त्ता—पाप-पुण्य फल देनेवाले ईश्वर की चर्चा इनमें नहीं हुई ।[2] श्वेताश्वेतर उपनिषद् में पुरुष कहाँ से उत्पन्न हुए । इस प्रश्न का विचार परिषद् रूप में हुआ है और इसका उत्तर भी चरक की भाँति ही दिया गया है । इस उपनिषद् से तथा अन्य उपनिषदों से चरक संहिता की भाषा और उपमाओं की साम्यता हमको बहुत स्थानों में मिलती है । श्वेताश्वेतर उपनिषद् की तिलों में तेल, दही में घी यह उपमा इसी रूप में चरक संहिता में मिलती है ।[3]

---

१. जो पिछला काल था, वह मर चुका; वह दूसरों का था । आज का जन उसको पकड़ कर बैठेगा, तो वह भी पुराना हो जायेगा—मर जायेगा । पुराने विचार अनेक प्रकार के हैं; बिना परीक्षा किये कौन बुद्धिमान मनुष्य अपने मन को उधर जाने देगा ?

२. देखिये इसी में पृष्ठ···१८०, १२५, १९५, एवं उपनिषदों से साम्य [चरक संहिता की भाषा, अध्याय १०, पृष्ठ—२७९-२८०] ।

३. तिलेषुतैलं दध्नीन सर्पिः—श्वेता० १।१५ ।
रसईक्षौ यथादध्निसर्पिः तैलं तिले यथा—चरक चि० २।४।४६ ।

उपनिषदों में पालि भाषा के शब्द नहीं मिलते, चरक संहिता में जहाँ पर उपनिषदों के विचार, उनकी भाषा, उपमायें मिलती हैं, वहाँ पर पालि भाषा के शब्द पर्याप्त हैं। वेदना शब्द चरक में सुश्रुत के बरते अर्थ में नहीं मिलता, परन्तु पालि साहित्य के अर्थ में है।[४] इसी प्रकार से अन्य बहुत से शब्द इसमें दीखते हैं।

इन सब बातों को देखकर विचार हुआ कि संस्कृत भाषा से पालि का विकास होते समय बीच की कोई कड़ी होनी चाहिये। मेरे अपने विचार से चरक संहिता इस प्रकार की एक कड़ी है; जिसमें कि संस्कृत और पालि के मिलित शब्दों का प्रयोग हुआ है।

चरक संहिता आयुर्वेद का एक ग्रन्थ है। प्रोफेसर कीथ या अन्य पाश्चात्य विद्वानों की आयुर्वेद में कोई रुचि नहीं हुई; इनको इस चिकित्सा के प्रति कोई आकर्षण नहीं था, इसलिये वे इस ओर आकर्षित नहीं हुए। उनके आकर्षित न होने से उनके पदचिह्नों पर चलने वाले भारतीय विद्वानों ने भी इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया, इसलिये यह विषय आजतक अछूता ही रहा है।

इस विषय पर सबसे पहले ध्यान देनेवाले भारतीय विद्वान् डा० सुरेन्द्रनाथ गुप्त हैं, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलौस्पी' के पहले और दूसरे भाग में चरक के ऊपर दो सौ के लगभग पृष्ठ लिखे है। उन्होंने चरक-संहिता का विचार दार्शनिक दृष्टि से किया है; परन्तु भाषा, भूगोल की दृष्टि से भी चरक संहिता अपना विशेष स्थान आज भी सुरक्षित रखती है। इन सब बातों को देखकर इसे अध्ययन के लिये चुना था। चरक संहिता में बदिराकाश्रम के लिये आया पंचगंगा शब्द आज भी महत्त्वपूर्ण है।

इस कार्य को बढ़ावा देने में सबसे बड़ा हाथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का है, आपने इसको पसन्द ही नहीं किया, अपितु पूरी सहायता भी की। दूसरा सहयोग मिला डाक्टर श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल का, जिन्होंने पुस्तकों,

---

४. 'या वेदना शस्त्र निपात जाता–' सुश्रुत० सूत्र० अ० ५।४१; में वेदना शब्द पीड़ा अर्थ में है; चरक में इस अर्थ में वेदना शब्द मुझे नहीं मिला।

समय आदि देकर पूरी मदद की; और अन्तिम निर्देश मिले डा० श्री मंगलदेव शास्त्री, भूतपूर्व प्रिंसीपल राजकीय संस्कृत कॉलेज [अब संस्कृत यूनिवर्सिटी] बनारस से, जिनके निरीक्षण में यह सब गूँथा गया। आगरा विश्वविद्यालय ने इसको पी० एच० डी० परीक्षा के लिये स्वीकार कर लिया था; परीक्षकों ने इसको जाँचा भी; उन्होंने इसको संशोधित करके पुनः उपस्थित करने को कहा था। परन्तु परिस्थितियों ने साथ नहीं दिया; इसलिये, इसको पुस्तक रूप में छपवाना ही उचित समझा और उपस्थित करने का विचार भविष्य के लिये छोड़ दिया।

चरक संहिता की भाषा का अध्याय विस्तार से लिखा जा सकता था, परन्तु यह विषय बहुत अंशों में अपनी पुस्तक **'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद'**[1] में अश्वघोष की भाषा की तुलना में लिख चुका हूँ, इसलिये पुनः लिखने का आकर्षण नहीं रहा।

आभार सूचन—आचार्य हजारीप्रसादजी, डाक्टर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल एवं डाक्टर श्री मंगलदेवजी का इस कार्य में बहुत ही सहयोग मिला; उनसे समय-समय पर मिली सूचनायें; उनके द्वारा प्राप्त पुस्तकें और समय के समयोग से ही यह कार्य पूरा हुआ। इसके लिये मैं उनके प्रति बहुत कृतज्ञ हूँ। भूगोल सम्बन्धी अध्याय लिखने मे मेरे पुत्र आयुष्मान् नरेन्द्रकुमार अग्रवाल एम० ए० ने अपने ज्ञान का जो सहयोग दिया, वह भुलाने की बात नहीं है। साथ ही इसके मुद्रक श्री ओमप्रकाश कपूर जी को भूल नहीं सकता, जिन्होंने समय पर अच्छी प्रकार से इसके प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया है। पुस्तक का मुद्रण पुस्तक-प्रकाशन में विशेष मूल्य रखता है, इस बात को हम भूल नहीं सकते; अपने सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन के लिये ज्ञानमण्डल अपना स्थान बनाये हुए है।

इसके साथ ही रूसी चित्रकार रौरिक के चित्र की प्रतिलिपि बनाकर

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड से प्रकाशित।

श्री कर्णमान सिंह [चित्रकार-कलाभवन, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी] ने जो मदद की, उसके लिये उनका श्रम भूल नहीं सकता।

अन्त में कवि की मंगल कामना से विदा लेता हूँ।

जयन्तु मे शत्रुगणाः सदैव,
येषां प्रसादात् सुविचक्षणोऽहम्।
यदा यदा मे विकृतिं लभन्ते;
तदा तदा मां प्रतिबोधयन्ति॥

विषय-सूची

विषयप्रवेश

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

चित्र सूची

आवश्यक सूचनायें

१. [पृष्ठ २२ में चार युग]

ऐतरेय ब्राह्मण के इस वचन को कुछ विद्वान् द्यूत के अर्थ में लगाते हैं। ऋग्वेद में द्यूत, अक्ष (पासों) का वर्णन है, इसीसे कलि का इक्का, द्वापर का दुक्का, त्रेता का तिक्का और कृती का चौका करते हैं। जिसका चौका आता है, वह सफल होता है; यह अर्थ जँचता भी है।

२. पृष्ठ २४९ का नकशा २५९ के साथ देखें।

विषय प्रवेश

चरक संहिता का प्रारम्भ और उसका सामान्य रूप

चरक संहिता विशाल संस्कृत साहित्य में अपना अप्रतिम महत्त्व रखने वाला ग्रन्थ है। चरक संहिता आयुर्वेद का एक मुख्य आकर ग्रन्थ होने के साथ-साथ अपनी सुन्दर भाषा के प्रसन्न गम्भीर प्रवाह की दृष्टि से भी अद्वितीय है। स्थान-स्थान पर उसमें ऐसे स्थल आ जाते हैं, जिससे प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास पर बड़ा मूल्यवान प्रकाश पड़ता है। ऐसी अद्‌भुत कृति का प्रारम्भ और विकास कैसे हुआ, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा का प्रश्न बन जाता है।

प्रथम इसके कि इस विषय पर हम अपना विचार उपस्थित करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वयं ग्रन्थ की इस विषय में जो धारणा है, उस पर पहले विचार कर लिया जाये। उसके अनुसार दीर्घ जीवन की इच्छा से भरद्वाज इन्द्र के पास पहुँचे, क्योंकि इन्द्र की शरण में जाना उत्तम था।

'ब्रह्मा ने जिस प्रकार से आयुर्वेद को कहा था, प्रजापति ने ठीक उसी प्रकार से उसे ग्रहण किया था, इसके पीछे अश्विनौ ने इसे पूर्ण रूप से लिया। अश्विनौ से इन्द्र ने इसे सम्पूर्ण रूप में प्राप्त किया। इसलिए ऋषियों से भेजे भरद्वाज शक्र-इन्द्र के पास आये।'

"ऋषियों ने भरद्वाज को इसलिए भेजा कि 'तप-उपवास-अध्ययन-ब्रह्मचर्य-व्रत और आयु में विघ्न करने वाले रोग उत्पन्न हो गये थे। तब प्राणियों पर दया करके पुण्यकर्मा महर्षि-हिमालय के पार्श्व में एकत्रित हुए'।"[1]

'वहाँ पर उन्होंने निश्चय किया धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष का मूल; उत्तम आरोग्य ही है। (तुलना कीजिये कालिदास के वचन से 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्—कुमार० ५)। रोग, आरोग्य एवं जीवन के सुख और हित दोनों को नष्ट करने वाले हैं। मनुष्यों के लिए रोग रूप महान विघ्न उत्पन्न हो गया; इसकी

---

१. इसी प्रकार का सन्दर्भ सुश्रुत संहिता में भी मिलता है—सुश्रुत पृ० १।४।

शान्ति का क्या उपाय है, यह जानने के लिए समाधि में बैठ गये। ज्ञान चक्षुओं से उन्होंने इन्द्र की शरणमें जाना उचित समझा; वही इनकी शान्ति का उपाय बतायेगा।'

'यह सब पूछने के लिए इन्द्र के पास कौन जाये—यह प्रश्न होने पर भरद्वाज ने सबसे प्रथम कहा कि मुझको यह काम सौंपना चाहिये, इसलिए ऋषियों ने यह कार्य भरद्वाज को सौंपा। भरद्वाज ने इन्द्र के पास जाकर देवता और ऋषियों के बीच में बैठे, अग्नि के समान तेजस्वी, बल नामक राक्षस को मारने वाले इन्द्र को देखा। इन्द्र का आशीर्वाद वचनों से अभिनन्दन करके भरद्वाज ने विनय से ऋषियों का संदेश कहा, कि सब प्राणियों के लिए भयंकर रोग उत्पन्न हो गये हैं, आप कृपया उनकी शान्ति का उपाय कहें। भरद्वाज के लिए इन्द्र ने थोड़े से ही शब्दों में आयुर्वेद को कहा, क्योंकि भरद्वाज ऋषि बुद्धिमान थे (बुद्धिमान व्यक्ति के लिए थोड़ा कहना—इशारा ही पर्याप्त होता है—'सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्प ज्ञानाय भवति—चरक० वि० अ० ८-१४९)।'

"हेतु-लिंग-औषध रूप ज्ञान को, रोगी और स्वस्थ दोनों के लिए उपयोगी, नित्य, पुण्यशाली जिस आयुर्वेद को ब्रह्मा ने जाना था, उस असीमित अनन्त पार वाले, तीन स्कन्ध रूप (हेतु-लिंग-औषध रूप), आयुर्वेद को महामति भरद्वाज ने तन्मय होकर थोड़े समय में ही जान लिया (तुलना कीजिये-चरक के इस वचन से 'न चैव ह्यस्ति सुतरामायुर्वेदस्य पारम्-तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेद्'—आयुर्वेद का कहीं भी छोर नहीं, इसलिए विना आलस्य के इसमें निरन्तर जुटा रहे—वि० अ० ८। १४)।"

इस ज्ञान से भरद्वाज ने सुख से युक्त अनन्त आयु को प्राप्त किया। उसने ऋषियों को यह ज्ञान वैसा-का-वैसा ही (विना कुछ जोड़े ही) पूर्ण रूप से कह दिया। ऋषियों ने प्रजा के हितकारी भरद्वाज के वचन को वैसे-का-वैसा ही ही ग्रहण किया। यह वचन-ज्ञान आयु को बढ़ाने वाला है (वेदं वर्धनमायुषः)[१]।

एक दूसरे स्थान पर इसी संहिता में कहा है कि—"यदि वैद्य से कोई पूछे कि ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चार वेदों में से वैद्य को किस वेद का

१. चरक० सू० अ० १।३-७, १५-२७।

ज्ञान करना आवश्यक है, तब वैद्य को ऋग् , यजु, साम, और अथर्व इन चारों में से अथर्ववेद में अपनी भक्ति (श्रद्धा) बतानी चाहिये। अथर्वण वेद में दान, स्वस्तिवाचन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, मन्त्र आदि रूप में चिकित्सा कही है। चिकित्सा आयु के हित के लिए कही जाती है[१] (तुलना कीजिये—तत्रदैवव्यपाश्रयं औषधम्—मंत्रौषधि मणि मंगल बल्युपहार प्रायश्चोपवास स्वस्त्यन प्रणिपात गमनादि—चरक० सू० ११। ४—दैवव्यपाश्रय चिकित्सा मंत्र, औषधि, मणिधारण, मंगलाचार, बलि देना, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात गमन आदि रूप की है)।

भरद्वाज से आत्रेय ने किस प्रकार आयुर्वेद पढ़ा; इस सम्बन्ध में यह स्थल मौन हो जाता है। आयुर्वेद की परम्परा मर्त्यलोक में पुनर्वसु आत्रेय से मिलती है। चक्रपाणि ने इस सन्दर्भ को जोड़ने के लिए हारीत का एक वचन उद्धृत किया है, उस के अनुसार भरद्वाज ने कहा कि "शक्र से मैंने पढ़ा और मुझ से आत्रेय आदि सात ऋषियों ने सीखा"। परन्तु चरक संहिता, काश्यप संहिता आदि से इस की प्रमाणिकता सिद्ध नहीं होती। वाग्भट में तो अत्रिपुत्र का स्वयं इन्द्र से आयुर्वेद सीखने का उल्लेख है।[२]

---

१. चरक० सू० अ० ३०। २०-२१, आयषुः पालकं वेदमुपवेदमथर्वणः—अ० स० सूत्र० १। १०। अथर्व वेद को अथर्वांगिरस भी कहते हैं। अथर्वा अंगिरस नाम से इसका सम्बन्ध अथर्वा और अंगिरस इन दो ऋषियों से प्रतीत होता है। अथर्व-वेद में दो प्रकार की चिकित्सा मिलती है, एक चिकित्सा पवित्र पौष्टिक, और शमन औषध सम्बन्धी है। दूसरी चिकित्सा में शत्रुओं की हिंसा (अभिचारिक–कृत्या सम्बन्धी), भयानक घोर उपचार हैं। प्रथम प्रकार की चिकित्सा का सम्बन्ध अथर्वा से हैं, और दूसरी प्रकार की चिकित्सा का सम्बन्ध अंगिरस से है—"ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलौस्फी—श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त—भाग १–पृष्ठ २८१। एक दूसरा भी अनुमान है—वशिष्ठ का एक नाम 'मैत्रावरुणी' भी है, इस प्रकार के दो नामों से यह भी आभास होता है कि एक ऋषि का क्षेत्र (पत्नी) होता था, और दूसरा ऋषि उस में वीज वपन करता था—नियोग प्रथा पहले थी, इस में संदेह नहीं। इस प्रकार की संतान का नाम दोनों ऋषियों के नाम पर पड़ता था—'संस्कार विधि विमर्श' (अत्रिदेव विद्यालंकार)—पृष्ठ ९४, इस से सम्भवतः अथर्वांगिरस नाम के एक ही ऋषि हुए हों।

२. अष्टांग हृदय० सू० १।

इस से अनुमान होता है कि चक्रपाणि के समय में भी भरद्वाज और आत्रेय के सम्बन्ध का कोई निश्चित आधार नहीं था। चरक के सन्दर्भ से इन दोनों के सम्बन्ध की कड़ी ढीली ही रहती है। विशेषकर जब आगे हम पुनर्वसु और भरद्वाज के परस्पर विरोधी मत देखते हैं, और उस में पुनर्वसु आत्रेय द्वारा भरद्वाज के मत का निराकरण मिलता है, तब स्पष्ट होता है कि इन दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं, साथ ही इन में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इस विषय में नहीं है।[१]

मर्त्यलोक में आयुर्वेद की परम्परा अत्रिपुत्र—पुनर्वसु से प्रारम्भ होती है—पुनर्वसु आत्रेय ने प्राणियों पर दया भाव रख कर छह शिष्यों को आयुर्वेद सिखाया, अग्निवेश, भेल(ड़), जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। इन्होंने ऋषि के वचन को ग्रहण किया।

इन छह शिष्यों में से अग्निवेश में बुद्धि की विशेषता थी, ऋषि के उपदेश में कोई अन्तर नहीं था, जिससे तंत्र का कर्त्ता अग्निवेश पहला व्यक्ति हुआ। इसके पीछे भेल आदि ने भी अपने-अपने तन्त्र बनाये। ऋषियों सहित बैठे आत्रेय को उन्होंने सुनाया। ऋषियों ने उनका अनुमोदन किया और कहा कि भली प्रकार से संग्रह किया। इसके पीछे ये तन्त्र पृथ्वी पर फैले; इनका प्रचार हुआ।[२]

ऊपर के सन्दर्भ से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) ब्रह्मा से आयुर्वेद की उत्पत्ति

(२) आत्रेय का प्रवचन

(३) शिष्यों द्वारा आत्रेय के वचन को तन्त्र का रूप देना

(४) सम्मिलित ऋषियों के सामने उसको सुनाकर उनका अनुमोदन या स्वीकृति प्राप्त करना और पीछे से उनका प्रचार।

ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रारम्भ और हिमालय में ऋषियों का एकत्रित होना—केवल कथा प्रारम्भ करने के लिए एवं रोचक बनाने का सन्दर्भ ही दीखता है, क्योंकि एकत्रित हुए ऋषियों की नामावली में सब ऋषि एक काल के नहीं हैं। इसी प्रकार का सन्दर्भ नावनीतक में लशुन का प्रारम्भ करने में ग्रन्थ के

१. चरक० शा० ३। ४ (१-६)।

२. वही, सू० अ० १।३०-४०।

प्रारम्भ में भी मिलता है। उसमें भी कई ऋषियों के नाम दिये हैं, जो एक समय के नहीं हैं, इन ऋषियों की नामावली में आत्रेय, धन्वन्तरी सुश्रुत का नाम है, परन्तु अग्निवेश का नहीं, अपितु अग्निवेश के सहाध्यायी भेल, हारीत, पाराशर का नाम मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि नावनीतक का यह कथन केवल कथा प्रारम्भ करने का ही है। चरक में इस प्रकार की कथायें अन्य स्थानों पर भी मिलती हैं (उदाहरण के लिये सिद्धि स्थान अ० ११।३-४)। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ ब्रह्मा से ही बताया जाता है, यथा, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, का भी प्रारम्भ भी ब्रह्मा से ही माना गया है।[1] प्राचीन शास्त्रकारों में यह एक विद्वत्सम्प्रदाय दीखता है कि वे अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ ब्रह्मा से बताते हैं, इसमें ग्रन्थ की आप्तता बढ़ जाती है।[2]

साथ ही निरुक्त में ज्ञान की परम्परा एक अन्य प्रकार से बताई है, वह बुद्धि अनुसारी भी है, इसमें ब्रह्मा को कोई स्थान नहीं दिया। इसके अनुसार 'सबसे प्रथम ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार स्वयं किया था, इन्होंने अपने पीछे आनेवालों को उपदेश द्वारा मन्त्रों को दिया था—सिखाया था। इसके पीछे ऐसे लोग उत्पन्न हुए, जिनके लिये केवल उपदेश पर्याप्त नहीं था; इन्होंने अपनी सुविधा के लिये ग्रन्थ प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ किया था। इसी समय वेद-वेदांगों आदि को ग्रन्थों का रूप मिला'।[3]

व्याकरण का प्रारम्भ भी ब्रह्मा से ही बताया है।[4] धर्म, अर्थ, काम से

---

१. कामसूत्र० १।५, कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में भी स्वयम्भू-ब्रह्मा से इनका प्रारम्भ कहा है।

२. ब्रह्मा से प्रारम्भ शास्त्र आगे क्रमशः विभक्त और संक्षिप्त होता गया बताया है, क्योंकि मनुष्यों की आयु और शक्ति कम होती जाती थी। उदाहरण के लिये—पंचतन्त्र का श्लोक प्रसिद्ध है—'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं, स्वल्पं तथायुर्बहवश्चविघ्नाः। सारं ततो ग्राह्यमपास्यफल्गुः हंसैर्यथाक्षीरमिवाम्बु मध्यात्॥'

३. वैदिक संस्कृति की धारा (डा० मंगलदेव शास्त्री), परिशिष्ट।

४. महर्षि शाकटायन ने ऋक्तन्त्र (पृ० ३) में लिखा है कि ब्रह्मा शाकटा ने बृहस्पति को व्याकरण कहा, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को।

सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रारम्भ ब्रह्मा से कहा है, यह विद्वत्सम्प्रदाय है, इसका एक ही अर्थ प्रतीत होता है कि इससे ग्रन्थ की आप्तता-प्रामाणिकता सिद्ध हो जाये।

आयुर्वेद की परम्परा पुनर्वसु आत्रेय से मर्त्यलोक से प्रारम्भ होती है। आत्रेय-पुनर्वसु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, इनका समय उपनिषदों का अन्तिम चरण और बौद्ध-काल का प्रथम चरण प्रतीत होता है। इसमें बौद्धों के अनात्मवाद, क्षणिकवाद, निर्हेतुक विनाश आदि सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है, अवक्रान्ति, वेदना आदि शब्द पालि साहित्य के अर्थों में ही इसमें प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही वेदों की आप्तता एवं सांख्य सिद्धान्तों का भी स्पष्ट एवं समुचित उल्लेख मिलता है। कठोपनिषद् की भाँति आत्मा, पुनर्जन्म आदि विषयों के सन्देह पर भी विचार मिलता है।

आत्रेय के शिष्य अग्निवेश का नाम बृहदारण्यकोपनिषद् तथा पाणिनि व्याकरण में भी मिलता है। इसी प्रकार हारीत, पाराशर, भेल आदि का भी अस्तित्व उनकी संहिताओं से उपलब्ध है। यहीं से वास्तविक परम्परा का प्रारम्भ हुआ मिलता है। लगभग यही काल ग्रन्थ प्रणयन का रहा होगा।

प्रवचन काल—ग्रन्थ प्रणयनसे पूर्व जो युग था, उसे प्रवचन युग कह सकते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिये पाणिनि व्याकरण के 'तेन प्रोक्तम्' (४।३। १०१) और 'कृते ग्रन्थे' (४। ३। ११६) ये दो सूत्र हैं। ग्रन्थ शब्द ही ग्रथित या ग्रन्थित को बताता है। प्राचीन पुस्तकें एक डोरे द्वारा ग्रथित रहती थी। प्रवचन से मिलने जुलने वाला आजकल का शब्द व्याख्यान है।

वेद को श्रुति कहते हैं, जिसका अर्थ सुनना है, श्रुति के साथ पठ् धातु का प्रयोग नहीं मिलता। श्रुति में जिस प्रकार श्रु धातु है; उसी प्रकार 'ब्रु' धातु का प्रयोग भी मिलता है, चरक संहिता में आत्रेय के सम्बन्ध में उवाच, स्माह आदि शब्द आते हैं। वैदिक साहित्य में इसी अर्थ में अनूचान शब्द मिलता है।

मिश्रित काल—चरक संहिताका समय मिश्रित काल है, इस समय पुनर्वसु आत्रेय ने उपदेश किया, प्रवचन दिया, अग्निवेश, भेल, हारीत, चक्रपाणि आदि शिष्यों ने उस प्रवचन को तन्त्र का रूप दिया। यह समय चरण, शाखा, परिषदों का था। यह बात इससे स्पष्ट होती है कि इन शिष्यों ने अपने अपने बनाये तन्त्र ऋषियों सहित बैठे आत्रेय को सुनाये, उनका अनुमोदन प्राप्त होने

पर ही संसार में उनकी प्रसिद्धि हुई। इससे स्पष्ट है कि प्रवचन के पीछे ग्रन्थ प्रणयन और ग्रन्थ प्रणयन के पीछे ऋषियोंसे उसका अनुमोदन या स्वीकृति मिलने पर ही उनका प्रचार होता था। चरक संहिता का आदि रूप यही था। ग्रन्थ बनाने के पीछे उस पर अपनी शाखा या चरण को स्वीकृति लेनी आवश्यक प्रतीत होती है; इसी से ऋषियों सहित बैठे आत्रेयको सुनाकर उनकी स्वीकृति प्राप्त की गई।

ग्रन्थ प्रणयन—काल क्रम से देश की राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियाँ बदल जाने से शाखा, चरण, परिषदों का लोप हो गया। इनके लुप्त होने से विचार प्रदर्शन, विचार विनिमय, स्वपक्ष स्थापन, परपक्ष दूषण आदि कार्यों के लिये लिपि की आवश्यकता हुई (स्वपक्ष स्थापन, परपक्ष दूषण आदि के सम्बन्ध में चरक संहिता में जो वाद मर्यादा मिलती है। वह सम्भवतः सबसे पहली है, न्याय दर्शन में यह विषय चरक सहिता के आधार पर ही लिखा प्रतीत होता है—वि० अ० ८)। व्यापक दृष्टि से ग्रन्थ प्रणयन आवश्यक हो गया क्योंकि आचार्य का प्रवचन पास के ही शिष्यों के लिये पर्याप्त था।

ग्रन्थ प्रणयन होने पर ग्रन्थ कर्ता की मोहर—छाप उस पर लगने लगी, इसी से हम पढ़ते हैं कि—

महर्षिणा पुनर्वसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता
चरक दृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता
चरक संहिता।

महर्षि पुनर्वसु से उपदेश की गई; उनके शिष्य अग्निवेश से प्रणीत, चरक और दृढबल से प्रतिसंस्कृत चरक संहिता। इस चरक संहिता का प्रणयन अग्निवेश ने किया।

प्रति संस्कार काल—देश की राजनीतिक, सामाजिक स्थिति के कारण, कुछ तो ग्रन्थों के भाग का लोप होने से तथा कुछ विदेशियों के सम्पर्क में आने से ज्ञान का विस्तार होने पर ग्रन्थों को सामयिक बनाने की जरूरत अनुभव हुई[१]।

---

१. इस विषय में अष्टांग-संग्रह का यह वचन ध्यान देने योग्य है—
"युगानुरूप सन्दर्भो विभागेन करिष्यते"—संग्रह अ० १। २०

प्रति संस्कर्ता अपना कार्य दो प्रकार से कर्त्ता है, एक संक्षेप से कही वस्तु का विस्तार करता है, दूसरा अति विस्तार से कही वस्तु को संक्षित करता है, इस प्रकार से प्रति संस्कर्ता पुराने ग्रन्थ को फिर से नया कर देता है।[१] चरक संहिता इसका अच्छा उदाहरण है, प्रतिसंस्कार में ग्रन्थ का पुराना रूप छिप जाता है, उस का नया ही रूप हो जाता है, इसी कारण से यह संहिता अग्निवेश के नाम से प्रसिद्ध न होकर प्रति संस्कर्ता चरक के नाम से प्रसिद्ध हुई।[२]

यह प्रश्न पृथक् है कि चरक शाखा के अन्तर्गत इसका प्रति संस्कार हुआ है अथवा चरक नाम के किसी व्यक्ति विशेष ने इसका प्रतिसंस्कार किया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में 'मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजामः।'[३] यह वाक्य मिलता है इसमें तथा अन्य स्थानों में चरक बहुवचन मिलता है, इससे तथा पाणिनि सूत्र में कठ शाखा के साथ में चरक शाखा का नाम पढ़ने से चरक शाखा की प्रतीति होती है। इसके साथ ही काशिका में वैशम्पायन का नाम चरक दिया है, इससे उसके सब शिष्यों को चरक कहा है।

दृढ़बल ने पुनः इसको सम्पूर्ण किया—इसने चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के सतरह अध्याय, कल्प और सिद्धि स्थान को पूर्ण किया। इससे स्पष्ट है, उसके समय चरक से प्रति संहिता अपूर्ण रूप में मिलती थी, इसी से उसने अन्य तन्त्रों की सहायता से इसको पूर्ण किया।

आयुर्वेद का नित्यत्व—यद्यपि लोक में आयुर्वेद का उपदेश अत्रिपुत्र से हुआ ऐसा चरक संहिता में कहा है, तथापि आयुर्वेद को अनादि स्वीकार किया है, अनादि का अर्थ यही है कि अंगुली निर्देश से इसका आदि-प्रारम्भ नहीं बताया जा सकता।[४] आयुर्वेद का प्रारम्भ अवबोध एवं उपदेश के रूप में ही

---

१. चरक० सि० १२। ३६-३७

२. भगवान् बुद्ध ने भी प्रवचन किया था, उसके वचनों का पीछे से संग्रह किया है, ये संग्रह समय-समय पर मिली संगितियों में हुए थे—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत।

३. वृहदारण्यकोपनिषद् ३।३।१

४. चरक० सू० अ० ३०।२७।

हुआ (नह्यायुर्वेदस्याऽभूत्वोत्पत्तिरूपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्) ।[१] आयुर्वेद नहीं था (अस्तित्व नहीं था), फिर उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है । इसका ब्रह्मा को अवबोध-ज्ञान हुआ और भरद्वाज को इन्द्र ने उपदेश दिया । इन्हीं दो रूपों में आयुर्वेद की उत्पत्ति मिलती है, इसका आदि अंगुली से निर्देश नहीं किया जा सकता, इस अर्थ में आयुर्वेद अनादि है ।

शैली—चरक संहिता की शैली वैदिक संहिताओं से भिन्न है, साथ ही सुसंस्कृत, पाणिनि व्याकरण से जकड़ी भाषा से भी भिन्न है । इसमें ग्रन्थ के लिये सर्वत्र 'शास्त्र' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, ग्रन्थ शब्द नहीं आता, इसी प्रकार पढ़ने के लिये अभ्यस्येत् शब्द आता है, पठ या दूसरे धातु का प्रयोग नहीं ।[२] यद्यपि उपलब्ध चरकसंहिता कई संस्करणों का परिणाम है, जैसा कि हम आगे स्वीकार करेंगे कि इसका वर्त्तमान रूप ईस्वी सन् के पश्चात् ही हो सकता है; तो भी मूल रूप में इसकी जो भी शैली रही होगी, उसका मूल इसमें रहना चाहिये । काश्यप संहिता या भेल संहिता जिनका इस प्रकार से प्रतिसंस्कार नहीं हुआ, उनके साथ मिलाने पर इसका यह भेद बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है । प्रतिसंस्कार में भी मूल रूप नीचे से थोड़ा बहुत झलक ही जाता है । चरक के शारीर स्थान में वर्णित (अ. ४) में ब्राह्म, आर्ष, असुर आदि शरीरों का उल्लेख काश्यप संहिता के सूत्र स्थान में आता है [सूत्र० अ० २८] । भेल में भी यह शारीर स्थान में ही है ।

चरक विमान स्थान [अ० ३] में ज्वर रोगी को गरम पानी वैद्य क्यों देते हैं—इस बात को भेल संहिता में ज्वर चिकित्सा [पृ० ११८] में 'शीतोदक पान दोषाः' शीर्षक से कहा है; यह ठीक स्थान है, प्रकरण संगत है ।

चरक संहिता में 'सूत्र' शब्द का अर्थ भी पाणिनि के सूत्र अर्थ से भिन्न है । इसकी मूल भाषा से इतना स्पष्ट है कि यह भाषा लगभग वैदिक काल के अन्त की, और बुद्ध के समय से पहले की है । इसमें बौद्ध धर्म के विचार मिलते हैं । इसकी भाषा गद्य-पद्यमय है । इसमें विषय का प्रतिपादन चार रूपों में मिलता है—जैसा कि चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है—'सूत्र चार प्रकार के होते हैं,

---

१. देखिये सांख्य कारिका—असद्करणात् ९ वीं ।

२. चरक० सू० अ० ८।२४, वि० अ० ८।७ ।

१—गुरू सूत्र—जिनको गुरू कहता है, २—शिष्य सूत्र—जिनको शिष्य कहता है, ३—प्रतिसंस्कर्तृ सूत्र—जिनको प्रतिसंस्कर्ता कहता है, और ४—एकीय सूत्र—एक पक्ष को कहने वाला सूत्र।"[1]

इस प्रकार से चरकसंहिता में कुछ वचन आत्रेय के प्रवचन के हैं, कुछ वचन अग्निवेश के हैं, कुछ वचन प्रतिसंस्कर्ता चरक और दृढ़बल के हैं। इन सब वचनों को पृथक् करना सरल नहीं, क्योंकि आत्रेय से प्रारम्भ होकर दृढ़बल का समय लगभग एक हजार वर्ष का है। इतने लम्बे समय के कई स्तर चरक संहिता में आने सम्भव हैं, जिससे इसका वास्तविक रूप पूर्ण रूप में आमूल चूड़ छिप गया—इसी से अब यह संहिता प्रतिसंस्कर्त्ता चरक के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी शैली भी इसी रूप में मिलती है।

दृढ़बल से पूरित भाग में अपाणिनीय शब्दों का अभाव है। उसकी भाषा व्याकरण से सम्मत एवं सुसंस्कृत है। इस भाग में गद्य भाग की रचना बहुत कम है, अनुमान से दस प्रति शतक से अधिक नहीं। इसके किसी भी अध्याय में पूर्णतः गद्य की रचना नहीं है (सिद्धि स्थान के अध्याय २ और १२ बहुत गद्य वाले अवश्य हैं, परन्तु इनका विषय ही ऐसा है, जिसके लिये इनको गद्य में कहना उत्तम था। इसी प्रकार कल्प स्थान का प्रथम अध्याय भी गद्यमय रचना है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं)। दृढ़बल की रचना अधिकतः पद्यमय है। गद्यमय रचना चरक संहिता के सूत्र, निदान, शारीर स्थान में विशेष रूप से है, इन स्थानों में पद्य की रचना बीस-तीस प्रतिशतक से अधिक नहीं है।

संहिता का बाह्य रूप (ढाँचा)—तन्त्र—ग्रन्थ के लिये प्राचीन नाम तन्त्र भी है। चरक संहिता के लिये चरक तन्त्र और सुश्रुत संहिता के लिये सुश्रुत तन्त्र, वृद्ध जीवक संहिता के लिये वृद्धजीवकीय तन्त्र भी प्रसिद्ध है।[2] तन्त्र शब्द का अर्थ शरीर धारण से है—जैसा कि इसकी निरुक्ति में कहा है—

---

१. गुरु सूत्र—नैतद् बुद्धिमता द्रष्टव्यमग्निवेश—सू० स्थान० अ० ४, शिष्य सूत्र—नैतानि भगवन् पंचशतकषायाणि पूर्यन्ते—सू० अ० ४, प्रतिसंस्कर्ता सूत्र—तमुवाच भगवानात्रेयः; सू० अ० ४, एकीय सूत्र—कुमारस्य शिर : पूर्वमभिनिर्वर्त्तत इति-कुमार शिरा भरद्वाजः—शा० अ० ६। चक्रपाणि-टीका (सु० अ० १।२)।

२. चरक संहिता-निर्णय सागर का प्रकाशन—में उपोद्घात—प्रथम पृष्ठ।

तन्त्रणात्तन्त्रं—सू० अ० ३०।७०

तन्त्रणादिति-शरीर धारणात्-इति चक्रः, तन्त्रणादिति-व्युत्पादनात्, एतेन तन्त्र्यते व्युत्पाद्यतेऽ नैनेति तन्त्रं शास्त्रम्-शिवदास सेनः, शरीर धारण करने से शास्त्र तन्त्र कहलाता है, व्युत्पादन करने से शास्त्र तन्त्र कहाता है। तन्त्र का अर्थ शरीर है—(तंत्र यन्त्रेषु भिन्नेषु—इ० अ० १२।४४), तन्त्रं-शरीरं इति चक्रः। तन्त्र का अर्थ शरीर है (यथा राज्य तन्त्र, प्रजातन्त्र), शास्त्र के शरीर के लिये तन्त्र शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में होता है—साकार रूप में होता है। इसीसे चरक तन्त्र, सुश्रुत तन्त्र, वृद्ध जीवक तन्त्र कहे जाते हैं।[1]

स्थान—आयुर्वेद संहिताओं में विभागों का नाम **स्थान** मिलता है, यथा सूत्र स्थान, निदान स्थान, विमान स्थान आदि। इसमें प्रधान भूत अर्थ एक स्थान पर एकत्रित किया गया है, एक प्रकार का अर्थ—विषय जहाँ पर संगृहीत हुआ है, वह एक स्थान है (भाग है)—

स्थानमर्थप्रतिष्ठ्या—सू० अ० ३०।३०

अर्थ प्रतिष्ठ्येति-प्रधान भूतार्थावस्थानात्—इति चक्रपाणिः, जहाँ प्रधान भूत अर्थ एक स्थान पर संगृहीत होता है, उसे स्थान नाम दिया है।

चरक संहिता में ऐसे स्थान आठ हैं, यथा—सूत्र स्थान, निदान स्थान, विमान स्थान, शारीर स्थान, इन्द्रिय स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान और सिद्धि स्थान। उत्तर तन्त्र था, यह बात सिद्धिस्थान के एक वचन से पता चलता है[2], परन्तु इस समय मिलता नहीं। उत्तर तन्त्र परिशिष्ट रूप में होता है, जैसा कि सुश्रुत में उत्तर तन्त्र, काश्यप संहिता में खिल स्थान।

सूत्र स्थान का अर्थ—सूत्र रूप में कहे हुए अर्थ जहाँ पर एकत्रित हुए हैं, उसको सूत्र स्थान कहते हैं। जिस प्रकार कि फूलों को गूँथने के लिये सूत्र की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार से अर्थों को—संगृहीत करने के लिये

---

१. तन्त्र का एक और भी अर्थ है, विपुल अर्थों का विस्तार करने से (तनोति विपुलानर्थान्), तथा इससे रक्षा होने के कारण तन्त्र कहते हैं।

२. सि० अ० १२।५०—चक्रपाणि ने इसको अनार्ष माना है।

(विषयों को एक स्थान पर रखने के लिये) ऋषि ने यह सूत्र स्थान बनाया है।[1]

बौद्ध-साहित्य में या पाणिनि व्याकरण में 'सूत्र' शब्द का जो अर्थ है, वैसा अर्थ यहाँ पर नहीं दीखता। यहाँ पर यही पता चलता है कि अग्रिम सब विषय इस स्थान पर संक्षेप में आ गया है, जैसा कि इसकी रचना से स्पष्ट है।[2]

सूत्र स्थान के तीस अध्यायों में अट्ठाईस अध्याय, चार चार (चतुष्क) अध्यायों के समूहों में विभक्त हैं, शेष दो अध्याय संग्रहाध्याय नाम से हैं। इन चार चार अध्यायों के विभाग में एक एक विषय आता है, यथा—

प्रथम चार अध्याय (१-४) **भेषज चतुष्क** नाम से कहे जाते हैं, इन में औषधि सम्बन्धी जानकारी है।

दूसरे चार अध्याय (५ से ८) **स्वास्थ्य चतुष्क** नाम से कहे जाते हैं, इन में स्वास्थ्य सम्बन्धी विषय है।

तीसरे चार अध्याय (९ से १२) **निर्देशिक चतुष्क** नाम से कहे जाते हैं, इन में चिकित्सा सम्बन्धी सूचनायें हैं!

चौथे चार अध्याय (१३ से १६) **प्रकल्पना चतुष्क** नाम के हैं, इन में औषध कल्पना सम्बन्धी सूचना है।

पाँचवें चार अध्याय (१७ से २०) **रोग चतुष्ट्य** नाम के हैं, इन में रोग सम्बन्धी जानकारी है।

छठे चार अध्याय (२१ से २४) **योजना चतुष्क** नाम से कहे जाते हैं, इन में योजना-युक्ति कही है।

---

१. (क) यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते।
संग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा संग्रह कृतः॥ चरक० सू० अ०। ३०।८९

(ख) श्री योगीन्द्रनाथ सेन ने अपनी चरकोपस्कार के संस्करण में श्लोक स्थान नाम दिया है। साहित्य दर्पण में—'कोशः श्लोक समूहः' अर्थ दिया है, अर्थात् श्लोक समूह को कोष कहते हैं। इस प्रकार से अर्थों का संग्रह-समूह भी कोष है; यही कोश श्लोक समूह होने से श्लोक स्थान नाम से कहा है।

२. सूत्र का अर्थ—थोड़े से अक्षरों—शब्दों में सम्पूर्ण वस्तु को कह देना है, इस स्थान में सम्पूर्ण विषय संक्षेप में थोड़े शब्दों में कह दिया है। इसी से इस को सूत्र स्थान कहते हैं।

सातवें चार अध्याय (२५ से २८) **अन्नपान चतुष्क** नाम से कहे जाते हैं, इन में खान पान सम्बन्धी सूचनायें हैं।

आठवें दो अध्याय (२९ और ३०) **संग्रहाध्याय** नाम के हैं, इन में वैद्य के गुणों का तथा दूसरे विषयों का संग्रह किया है।

सूत्र स्थान का दूसरा नाम **श्लोक स्थान** भी है, श्लोक स्थान या सूत्र स्थान को इस तन्त्र का शिर कहा है (तंत्रस्यास्य शिरः शुभम्—सू० अ० ३० । ४५, शिर इव शिरः—प्रधानत्वात्—इति शिवदाससेनः)। श्लोक का अर्थ भी संग्रह ही है (श्लोकार्थः संग्रहार्थश्च श्लोकस्थानमतः स्मृतम्—सू० अ० ३० । ४६)। संग्रह शब्द के लिए श्लोक का प्रयोग चरक में नवीन लगता है, आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस अर्थ में श्लोक शब्द देखने में नहीं आता, सूत्र शब्द ही मिलता है।

जिस प्रकार से सब अंगों में मस्तिष्क सब से श्रेष्ठ होने से शिर कहाता है (यदुत्तमांगमंस्य शिरस्तदभिधीयते--सू० अ० १७ । १२), उसी प्रकार से सूत्र स्थान इस तंत्र का शिर है, सब स्थानों में सम्पूर्ण तंत्र में श्रेष्ठ है, इसी के द्वारा सम्पूर्ण तंत्र व्यवस्थित होता है। यह सम्पूर्ण तंत्र का निचोड़ है।

निदान स्थान—निदान का अर्थ कारण है, इस में आठ रोगों के कारण की विशेष रूप में तथा अन्य इस सम्बन्ध की जानकारी दी है, रोग-रोग का कारण होता है, उत्तम चिकित्सा क्या है; आदि बातों की विवेचना मिलती है।

विमान स्थान—विमान शब्द को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि ने कहा है 'विशेषण मीयते ज्ञायते दोष भेषजाद्यनेनेति विमानम्'—दोष, भेषज आदि का विशेष रूप में जिस से ज्ञान होता है, वह विमान है। इस स्थान में रस, दोष, द्रव्य, विकार, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, सार, आहार, सत्व, सात्म्य, प्रकृति, वय का विशेष रूप से विचार किया है।

शारीर स्थान—इसमें शरीर के कारण उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदि का प्रतिपादन किया है।

इन्द्रिय स्थान—इन्द्रिय से प्राण का ग्रहण है, इन्द्रिय का अर्थ आत्मा भी है, इसी से इस स्थान में मृत्यु सम्बन्धी विचार है, (इन्द्र शब्देन प्राणी उच्यते,

तस्यान्तर्गतस्थ लिंगरिष्टाख्यमिन्द्रियम्—इति चक्रः, इन्द्र आत्मा-तस्य लिंग मिन्द्रियम्-काशिका) ।[१]

चिकित्सा स्थान—रोगों की चिकित्सा-शान्ति सम्बन्धी ।

कल्प स्थान—वमन-विरेचन सम्बन्धी कल्पनायें इस स्थान में बताई हैं ।

सिद्धि स्थान—वमन-विरेचन आदि कार्यों के असम्यक् योग होने से उत्पन्न व्यापदों की भेषज से जो सफलता मिलती है वह सिद्धि होती है, उसके बताने के लिये यह सिद्धि स्थान है ।

सूत्र स्थान, और चिकित्सा स्थान तीस-तीस अध्याय के हैं, निदान स्थान, विमान स्थान, और शारीर स्थान—आठ-आठ अध्याय के हैं, इन्द्रिय स्थान, कल्प स्थान और सिद्धि स्थान बारह-बारह अध्याय के हैं, इस प्रकार एक सौ बीस अध्यायों में यह संहिता पूर्ण हुई है ।[२] चरक संहिता में श्लोक संख्या बारह हजार हैं [यस्य द्वादश सहस्त्री हृदि तिष्ठति सर्वदा । सोऽर्थज्ञःस विचारज्ञः चिकित्सा कुशलश्चसः ॥ सिद्धि अ० १२।९०] ॥

आयुर्वेद की संहितायें एक सौ बीस अध्यायों में प्रायः समाप्त होती हैं, ज्योतिषशास्त्र में मनुष्य की आयु की विंशोत्तरी दशा (१२० वर्ष की) निकाली जाती है, मनुष्य और हाथी की आयु की अवधि एक सौ बीस वर्ष पाँच दिन कही है ।[३] एक सौ पचीस वर्ष की आयु जो कही जाती है, वह सम्भवतः पाँच दिन को पाँच वर्ष समझ कर कहने लगे हैं । इसी से सम्भवतः आयुर्वेद संहिताओं में एक सौ बीस अध्याय रक्खे गये हों [विशेष विवेचन इसी में आयुर्वेद संहिता की अध्याय संख्या-रचना वैशिष्ट्य में देखें] ।

१—पाणिनि सूत्र० ५ । २ । ९३-इन्द्रियमिन्द्रलिंगमित्यादि-इन्द्रियेणात्मना दृष्टं, सृष्टं जुष्टं वा इन्द्रियम् ॥

२. सम्पूर्ण चरक संहिता में बारह हजार श्लोक हैं; श्लोक का अर्थ बत्तीस अक्षरों की इकाइयाँ हैं—जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के ६,००० श्लोकों के लिये लिखा है—धर्म शस्त्र का इतिहास; हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३० ।

३. समाः षष्टीद्विघ्नामनुजकरीणानां पञ्च च निशाः—मा. नि. वात व्यापि में मधुपको टीका ।

अध्याय—का अर्थ जिसे अधिकार करके—मुख्य मान कर विषय कहा हो (अधिकृत्यार्थ अध्याय नाम संज्ञा प्रतिष्ठिता—सं० अ० ३०।७०, अध्याय नाम संज्ञा च योगा रूढ़ा संज्ञा चोच्यते—इति चक्रपाणिः)।

आरग्वधीय अध्याय (सू० अ० ३) का प्रारम्भ आरग्वध शब्द से हुआ है, इसमें प्रथम शब्द को प्रधान मानकर अध्याय का नाम किया है, खुड्डाक चतुष्पाद (सू० अ० ९) में विषय की प्रधानता से अध्याय का नामकरण हुआ है। इसमें चतुष्पाद का संक्षिप्त वर्णन है। इस प्रकार से चरक संहिता में अध्याय का नामकरण दो प्रकार से मिलता है, कहीं पर प्रथम शब्द के आधार से और कहीं पर विषय की प्रधानता से।

ग्रन्थों से तुलना—चरक संहिता में कौटिल्य अर्थशास्त्र, वात्स्यायन कामसूत्र संहिता, अष्टांग संग्रह से एक भेद यह मिलता है कि इस संहिता में अध्यायों का नाम, ग्रन्थ का सम्पूर्ण परिचय, ग्रन्थ का सम्पूर्ण विवरण सूत्र स्थान के अन्तिम अध्याय (तीसवें अध्याय) में दिया है, वहाँ पर ग्रन्थ का पूरा रूप स्पष्ट कर दिया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामसूत्र, सुश्रुत संहिता, अष्टांग संग्रह में ग्रन्थ का पूरा विवरण प्रथम अध्याय के अन्त में या प्रारम्भ में ही मिल जाता है। सुश्रुत संहिता में परिचय सूत्र स्थानके तीसरे अध्याय में आता है।

कुछ बातों में चरक संहिता की इन ग्रन्थों से समानता भी है, उदाहरण के लिये तन्त्र युक्तियों का वर्णन। कौटिल्य अर्थशास्त्र, सुश्रुत संहिता और अष्टांग संग्रह में ग्रन्थ की समाप्ति में तन्त्र युक्तियाँ दी है (यद्यपि इनकी संख्या में थोड़ा सा भेद है), इसी प्रकार से चरक संहिता में भी सिद्धि स्थान के अन्तिम अध्याय में (सि० १२।४१-४४) तन्त्र व्यक्तियाँ लिख दी हैं, इनकी व्याख्या नहीं मिलती। यद्यपि एक श्लोक है, जिसमें कहा है कि इनको पुनः विस्तार से उत्तर तन्त्र में कहेंगे (सि० अ० १२।५०) चक्रपाणि इस श्लोक को अनार्ष मानते हैं।

तन्त्र युक्तियाँ ग्रन्थ के लिए आवश्यक हैं, जिस प्रकार से कमल वन के लिये सूर्य, घर के लिये दीपक आवश्यक है, सूर्य कमल वन को विकसित करता है,

दीपक घर को प्रकाशमान बना देता है, उसी प्रकार से ये तन्त्र युक्तियाँ हैं; शास्त्र को प्रकाशित करती है।[1]

इन तंत्र युक्तियों को उपर के सब ग्रन्थों में ग्रन्थ की समाप्ति पर विस्तार से कहा है, इसी प्रकार चरक संहिता में भी ये तन्त्र युक्तियाँ उपलब्ध चरक संहिता के अन्तिम स्थल में ही दी हैं।

इस तरह अध्यायों की संख्या में; स्थानों के विभाग में, गद्य-पद्य रचना की शैली में चरक संहिता आयुर्वेद के दूसरे ग्रन्थों के समान है, आयुर्वेद ग्रन्थों का जो अपना रचना वैशिष्ट्य है, वह चरक संहिता में भी मिलता है।

---

१. देखिये अष्टांग संग्रह उत्तर स्थान अ. ५०।

पहला अध्याय

सांस्कृतिक दृष्टि से चरक संहिता का महत्व

पाणिनि अष्टाध्यायी में तथा पातंजल महाभाष्य में यह विशेषता है कि उन्होंने व्याकरण शास्त्र का विचार करते हुए अन्य भी आवश्यक वस्तुओं का विचार किया है। इनमें देश का भूगोल, उस समय का मनुष्य का जीवन यापन, रहन, सहन, शिक्षा का ढंग, वस्त्र परिधान आदि सामान्य बातों के साथ-साथ समाज का, आत्मा-पुनर्जन्म आदि विचार भी मिलता है। ये विचार इनमें इतने अधिक हैं कि विद्वानों को इन पर इस दृष्टि से पृथक् विचार करने की आवश्यकता अनुभव हुई।[1]

चरक संहिता आयुर्वेद का ग्रन्थ होने पर भी इसमें अन्य विषय इतनी अधिक मात्रा में आये हैं, इन पर व्याकरण शास्त्र के महाभाष्य, पाणिनि अष्टाध्यायी की भाँति इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है। कुछ लोगों की यह मान्यता हैं कि पतंजलि और चरक एक ही हैं[2] (अब इसको महत्व नहीं दिया जाता)। चरक संहिता में पुनर्जन्म, आत्मा, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि उपनिषदों के विचार चिन्तन के साथ-साथ सामान्य जीवन सम्बन्धी सद्वृत्त, वस्त्रों के भेद, गृहस्थी के साधन, स्त्रियों की स्थिति, उनका सामाजिक जीवन, अध्ययन-अध्यापन, जाति-आश्रम-विवाह आदि का विचार मिलता है। साथ ही दार्शनिक पृष्ठभूमि का प्रारम्भ इसी संहिता से होता प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन के मौलिक चौबीस तत्वों का निरूपण हमको इसी संहिता में पहले दीखता है, वाद मर्यादा की विस्तृत विवेचना, परिषद् में जीत और हार के रूप से शास्त्रार्थ की परिपाटी का विस्तृत उल्लेख चरक संहिता में है। उस समय के वैद्य, उनके भेद, छद्मचर

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', इसी प्रकारका अध्ययन है।

२. देखिये 'चरक संहिता' (श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य सम्पादित) का उपोद्घात पृ० ८ पर टिप्पणी (४)।

या सिद्ध साधित (बने हुए) वैद्य, उनके लूटने के ढंग, उस समय के चिकित्सालय, रोगियों की शुश्रुषा, आतुरालय का प्रबन्ध आदि बातों की जानकारी इसमें दी है। उस समय लोगों के धार्मिक विश्वास एवं अन्य विचार उनका जीवन आदि विषयों पर इस संहिता के अध्ययन से विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

चरक संहिता की भाषा के विषय में कहा जाता है कि इसकी भाषा पतंजलि के महाभाष्य की भाँति सरल एवं तात्कालिक लोकभाषा के शब्दों से बनी हुई है। चरक संहिता की भाषा में भी बहुत से शब्द उस समय की लोकभाषा की दृष्टि से आये प्रतीत होते हैं, यथा –

भूतधात्री—शब्द चरक में निद्रा के लिये; मुद्राराक्षस नाटक में पृथ्वी के लिये आया है [शिश्रिये भूतधात्री'—भरतवाक्य]; **अवक्रान्ति**—गर्भाशय में आना, **पत्रभंगोदक**—पत्तों को पानी में पकाकर बनाया क्वाथ, **जेन्ताक** (गरम घर, जिसमें धूम नेत्र बना होता है), **खुड्डाक**—छोटे अर्थ में आता है। ये शब्द संस्कृत साहित्य या वैदिक साहित्य में इन अर्थों में नहीं मिलते। इन शब्दों की समानता—पालि साहित्य में हैं, पालि साहित्य से इन शब्दों का अर्थसाम्य है। इससे अनुमान होता है कि चरक की रचना के समय इन शब्दों का प्रचार लोक में था।

दकोदर—या **दकलावणिक** [चरक सू० अ० १५] में दक शब्द ईषत्-थोड़े अर्थ में हैं। यथा-कदुष्ण जिसका अर्थ ईषत् गरम है; यही कद शब्द यहाँ बदल गया; जैसे—खन का अर्थ खोदना है; उल्टा होकर नख बन गया। इसीसे थोड़ा पानी या थोड़ा नमक अर्थ है।[1]

पेय औषध के लिये कषाय शब्द है,[2]

इसीप्रकार से चरक संहिता में काश्यप संहिता की भाँति भाषा के भिन्न-

---

१. अष्टांग संग्रह में दकलावणिक का अर्थ "अल्पमांसादयः स्वच्छा-दकलावणिकाः स्मृताः"—सूत्र अ० ७ में दिया है, इसमें भी थोड़ा अर्थ दीखता है।

२. यः कषायः कषायः स्यात् स निषिद्धः तरुणे ज्वरे—चरक-चिकि० अ ३। जो औषध कषाय रस हो, वह तरुण ज्वर में निषिद्धः है—। सूत्र अ० ४ में कषाय शब्द औषध अर्थ में ही आया है। पंचाशत महाकषायः ; काश्यप संहिता में भी कषाय शब्द औषध के अर्थ में ही है—यथा—कण्ठस्य कषणात् प्रायो, रोगाणां वाऽपि कर्षणात्। कषाय शब्दः प्राधान्यात् सर्व योगेपुलक्ष्यते॥ खिल० अ ३।२९।

भिन्न स्तर नहीं दीखते, काश्यप संहिता की भाषा में स्थान-स्थान पर; 'भो ! य एवं वेद, इति परिषद्' आदि रचना मिलती है, जो कि उपनिषद् शब्दावली के समान है। चरक संहिता में इस प्रकार की शैली नहीं आती। नाहीं चरक संहिता में समानार्थक या समान पदावली रचना का उपयोग वाक्य में मिलता है, जैसा कि काश्यप संहिता में स्थान-स्थान पर देखने में आता है।[1]

चरक संहिता में सुश्रुत संहिता की भाँति वर्ण विचार नहीं है, सुश्रुत संहिता में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये घर बनाने, पलंग की लकड़ी आदि की भिन्नता बताई है, अध्यापन विधि में भी शूद्र को आयुर्वेद पढ़ने का सब के समान अधिकार न देकर एक देशीय विचार दिखाया है। चरक संहिता में इस प्रकार का कोई भेद इस विषय में नहीं है।

विवाह सम्बन्धी कोई विचार नहीं है, चरक संहिता के अध्ययन से पता चलता है कि समान गोत्र में सन्तान उत्पन्न नहीं होती थी, इस से अधिक इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती।

यज्ञों का विधान चरक संहिता में मिलता है, परन्तु श्रौत्र यज्ञों का उल्लेख नहीं है। अत्रिपुत्र को स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र करता हुआ दिखाया है, कौटिल्य अर्थशास्त्र में वानप्रस्थी के लिये अग्निहोत्र का विधान किया है।[2] परन्तु इस में अग्निहोत्र का स्वरूप नहीं दिया। इसी प्रकार अध्ययन-अध्यापन विधि में, एवं जाति सूत्रीय अध्याय में पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान मिलता है। पुत्रेष्टि यज्ञ में वैदिक ऋचा का भी उल्लेख है। चरक संहिता में वेद को आप्तागम माना है, वेद की प्रामाणिकता स्वतन्त्र स्वीकार की है, दूसरे शास्त्रों की या वचनों की प्रामाणिकता का आधार वेद को ही बताया है।[3]

---

१. काश्यप संहिता पृष्ठ १६१ में 'प्रत्युपतिष्ठते अभिवादयते संव्यहरते संवदति संस्पृशति संभुवतेऽभिहन्त्यात्क्रोशत्युपशेते।'

२. "वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्यं भूमौ शय्याजटाजिनधारणमग्निहोत्राभिषेका देवता पित्र्यतिथि पूजा वन्यश्चाहारः"—१। ३। ११।

३. चरक० सूत्र० अ० ११। २७—"तत्राप्तागमस्तावद् वेदः, यश्चान्योऽपिकश्चिद्वेदार्थाद-विपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रह प्रवृत्तः शास्त्रवादः सचाऽऽप्तागमः॥" स्वामी दयानन्द जी ने भी वेद को स्वतः प्रमाण माना है, अन्य शास्त्रों को परतः प्रमाण स्वीकार किया है।

उपनिषदों के पीछे अनात्मवाद का, क्षणिकवाद आदि विचार जब फैलने लगे थे, तब इनका निराकरण चरक संहिता में देखने में आता है। साथ ही सांख्यों के वचनों की प्रति श्रद्धा दिखाई है, सांख्य वचनों की तुलना सूर्य के साथ की है (जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, उसी प्रकार से सांख्य ज्ञान प्रकाशक है)।[१]

इस के साथ चरक संहिता में विष्णु सहस्र नाम, गंगा की पूजा, हिमालय की पूजा, शिव के मातृगणों की, शिव और पार्वती की सम्मिलित रूप में (अर्ध-नारीश्वर रूप में) पूजा का उल्लेख भी मिलता है। ईश्वर शब्द शिव के लिये चरक में आता है, योग दर्शन सम्मत क्लेश, कर्मविपाक से अपरामृष्ट ईश्वर का उल्लेख चरक संहिता में नहीं मिलता।[२]

दृढ़बल से पूर्ण किये भाग में वासुदेव, कृष्ण, वृषाकापि के नामों के साथ साथ में हिलिमिले आदि शब्द भी आ गये हैं[३]। ये शब्द बौद्ध साहित्य में (महामायूरी विद्या में—नावनीतक में) देखे जाते हैं। मरुद्गण की पूजा का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार से चरक संहिता में ब्रह्मा, प्रजापति, अग्नि, अश्विनौ, रुद्र, इन्द्र, धन्वन्तरि का जहाँ उल्लेख है, वहाँ पर गंगा, हिमालय आदि अवैदिक देवताओं की भी पूजा मिलती है। चरक संहिता में सुरालय और पाषाण्डायतन शब्द आते हैं[४]। सुरालय-देवमन्दिर में मूर्ति का उल्लेख नहीं, केवल स्थान का उल्लेख है, इस से पूजा-स्थान भी अर्थ हो सकता है। पाषाण्डायतन का अर्थ चक्रपाणि ने कापालिकों का स्थान किया है। सम्भवतः श्मशान अर्थ होगा।[५] ये शब्द भी उस समय की स्थिति पर सांस्कृतिक दृष्टि से प्रकाश डालते हैं।

गो-ब्राह्मण—शब्द इसी रुप में चरक संहिता में जितना अधिक आता है,

---

१. चरक० त्रि० अ० ८। ३४।
२. वही, चि० अ० ३। ३१०-३११।
३. वही, चि० अ० २३। ९१-९४।
४. वही, चि० अ० २३। १५९।
५. 'मालती माधव' में भवभूति ने कापालिकों का उल्लेख किया है, उसका स्थान श्मशान के पास ही बताया है।

उतना शायद ही किसी अन्य आयुर्वेद ग्रन्थ में मिलता होगा। चरक संहिता में 'गो-ब्राह्मण' शब्द इसी रूप में प्रायः बरता जाता है। उपनिषद् में यह शब्द इस रूप में नहीं है। वाल्मीकि रामायण के आदि-काण्ड में यह शब्द मिलता है।[1] गौ की हत्या ब्राह्मण की हत्या के समान निन्दनीय थी। गौओं की पवित्रता ब्राह्मणों और कुमारी कन्याओं के समान पवित्र मानी गई है। राम के अभिषेक के समय गाय और ब्राह्मण एकत्रित किये गये थे।[2] विश्वामित्र ने गायों और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये राक्षसों को मारने का आदेश दिया था (गो ब्राह्मण हितार्थं जहि दुष्ट पराक्रमम्—१।२५।१५)।

काश्यप संहिता में गाय को मारने वाले तथा गो-मांस खानेवालों की निन्दा की गयी है (पृष्ठ १६३)। चरक संहिता में गाय का मांस पशुओं के सब मांसों में बुरा कहा है (सू० अ० २५।३९)।

महाभारत में कैकेय देश के राजा ने अपने राष्ट्र का वर्णन करते हुए कहा है कि मेरे राष्ट्र में गो-ब्राह्मण सदा सुखी रहते हैं, गो-ब्राह्मण की रक्षा होती है (शान्ति पर्व, ७७।२८-३०)।

चरक संहिता में गो-ब्राह्मण का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है, कोई भी धार्मिक कृत्य इन शब्दों के बिना पूरा नहीं होता, शिष्य को अनुशासन देते हुए आचार्य उसे गो-ब्राह्मण की शुभ कामना करने के लिये कहता है (वि० अ० ८।१३), कुटी प्रवेश विधि में गो-ब्राह्मण की पूजा बताई है (चि० अ० १। १। २३), आचार रसायन में गो-ब्राह्मण की पूजा रसायन कही है, (चि० अ० १। ४। ३१), सद्वृत्त में गो-ब्राह्मण को नमस्कार करने के लिये कहा है (सू० अ० ८। १८)। इस प्रकार से यह प्रतीत होता है कि चरक संहिता के समय गो-ब्राह्मण शब्द जातीय या राष्ट्रीय शब्द हो गया था (जिस प्रकार से वन्देमातरम् शब्द आजकल बन गया है)। गो-ब्राह्मण शब्द उस समय का राष्ट्रीय शब्द हो गया होगा इसी से चरक संहिता में इतने अधिक रूप में मिलता है। सुश्रुत में यह शब्द नहीं है, काश्यप संहिता में तथा अष्टांग-संग्रह में एक या दो स्थानों

---

१. वाल्मीकि रामायण १। २५। १५, २। १२८। ३८।

२. वही, २। १४। ४०-४१।

में आता है। चरक संहिता जितना अन्य ग्रन्थों में नहीं है। महाभारत एवं रामायण में आये गो-ब्राह्मण शब्द के विषय में निश्चय से कहना सम्भव नहीं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह शब्द पीछे का है।

चार युग—वैदिक संहिताओं में, उपनिषदों में सतयुग (कृत युग), त्रेता, द्वापर, एवं कलियुग का उल्लेख नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण में इन युगों में उल्लेख जो है, वह अपवाद रूप में है।[१] इन युगों का उल्लेख चरक संहिता में दो स्थान पर आया है।

चरक संहिता में युगों का वर्णन पुराणों के अनुसार मिलता है।[२] वेदों में या अन्य वैदिक वाङ्मय (उपनिषदों) में युगों का उल्लेख नहीं है। अधर्म की उत्पत्ति बताते हुए सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का जो वर्णन किया है, और जिस प्रकार से मनुष्य की आयु कम होती गई है, यह उल्लेख पुराणों से मिलता है। पुराणों के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ उस दिन से हुआ है जिस दिन श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई।

यस्मिन कृष्णो दिवं यातस्तिस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगं तस्य संख्या निबोध मे ॥विष्णु अंश ४।२४।११३

मनुष्यों में संचय प्रवृत्ति प्रारम्भ होने से ही अधर्म बढ़ा, यह भाव चरक और पुराणों में समान है। इससे भी स्पष्ट होता है कि ये विचार पीछे की देन है, कम-से-कम ईसा की पहली शती के पीछे की है।

दो प्रकार के ऋषि—चरक संहिता में वैदिक साहित्य के बालखिल्य, वैखानस, यायावर, शालीन ऋषियों का नाम आता है।[३] यायावर और शालीन ऋषियों का उल्लेख पृथक् रूप में है।[४]

---

१. कलि : श्यानोभवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उतिष्टंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥ ऐतरेय ब्राह्मण, ३।

२. चरक संहिता, विमान अध्याय ३। पुराणों में—पद्म पुराण १७, देवीभागवत; ब्रह्म-पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त, भागवत, मत्स्य, वायु, विष्णु, स्कन्द पुराण देखे जा सकते हैं।

३. चरक, सू० अ० १।१३।

४. वही, चि० अ० १।४।३।

श्री योगीन्द्रनाथ सेन जी ने चरकोपस्कार में इनको स्पष्ट करते हुए लिखा है–

"शाला प्रवेशायर्हन्तीति शालीना, गृहं निर्माय एकत्रकृतावस्थाना:, यायावरा :—पुनर्गमनशीला :—श्री योगीन्द्रनाथ सेन।"[१]

जो ऋषि घर बनाकर रहते थे वे शालीन कहाते थे और जो सदा गमन करते थे, उनको यायावर कहते थे। बोधायन धर्मसूत्र के अनुसार शाला का आश्रय लेने से शालीन, उत्तम वृत्ति से निर्वाह करने वाले यायावर, निरन्तर चलने से चर कहे जाते थे[२] (वृत्यावरया यातीति यायावरत्वम्, शालाश्रयत्वात् शालीनत्वम्)।[३]

"वैखानस' का अर्थ एक यह भी है कि जिनकी गाड़ियों के पहियों में छेद नहीं रहता (विगतः खः येषामनसात् ते वैखानसः)। इस प्रकार की एक जाति आज भी मिलती है (जिनको बोलचाल की भाषा में गड्डी लोहार कहते हैं), जिनका सारा घर गाड़ी में रहता है, वह कहीं स्थायी नहीं रहते, घूमने से रोजी कमाते हैं। इनकी गाड़ियों के पहिये में आर और नाभी नहीं होते, लकड़ी का एक ठोस चक्का पहिया होता है। ये सदा घूमते रहते हैं।[३] निरन्तर चलने का लाभ बताते हुए कहा है कि—

"निरन्तर चलते रहने से जंघायें पुष्ट होती हैं, आत्मा प्रबल होती है, यात्रा-श्रम से इनके पाप दूर हो जाते हैं।"[४] संस्कृत के कवि राजशेखर को यायावर कहा है।

इस निरन्तर गमन को देखकर अनुमान होता है कि अत्रिपुत्र पुनर्वसु भी यायावर होंगे; क्योंकि उनको हम धन्वन्तरि के समान एक स्थान पर बैठकर अध्यापन या उपदेश देता नहीं देखते। चरक संहिता में उनको कैलाश,

---

१. तीन टिप्पणी में मूल पुस्तक के फुटनोट में देखें।

२. बोधायन धर्म निरूपण—११।२।

३. वानप्रस्थ के लिये प्राचीनकाल में सम्भवतः वैखानस शब्द प्रयुक्त होता था। गौतम (३।२) ने वानप्रस्थ आश्रम के लिये वैखानस शब्द प्रयुक्त किया है। बौधायन धर्मसूत्र (३।६।१९) में उसी को वानप्रस्थ माना है; जो वैखानस शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है।—धर्मशास्त्र का इतिहास [हिन्दी अनुवाद] पृ० ४८२।

४. पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णारात्मा फले ग्राहिः। शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेणप्रपथे हतः॥ ऐ० ब्रा० ७।१५।२।

काम्पिल्य, चैत्ररथवन, पंचगंगा, हिमवान के उत्तर भाग में भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमता पाते हैं। भेल संहिता में उनका गान्धार जाना भी लिखा है; परन्तु चरक संहिता में गान्धार का नाम नहीं आता।

चरक संहिता के अध्ययन से दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि वे अग्निहोत्र करते थे। अग्निहोत्र कर चुकने के पीछे शान्ति से बैठे अत्रिपुत्र से अग्निवेश अपने संशय को पूछता है[१]। अग्निहोत्र वानप्रस्थी के लिये आवश्यक बताया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वानप्रस्थी के लिये लिखा है कि—ब्रह्मचर्य, भूमि में शय्या, जटा और अजिन-मृग चर्म का धारण, अग्निहोत्र, अभिषेक, देवता, पितर, अतिथि की पूजा एवं वन से प्राप्त आहार करें।[२] मनुस्मृति में भी वानप्रस्थी के लिये अग्निहोत्र जरूरी कहा है।[३]

इससे यह अनुमान होता है कि अत्रिपुत्र-वानप्रस्थी यायावर वृत्ति के ऋषि थे। चरक संहिता में निर्वृत्ति मार्ग का उपदेश करते हुए कहा है कि 'वनेष्वनिकेत वासः' = वनों में घर बना कर न रहे, (शा० अ० ५।१२)। जगह-जगह भ्रमण करते हुए तथा अग्निहोत्र रूपी दैनिक कार्य को नियमपूर्वक करते हुए देखने से अनुमान होता है कि अत्रिपुत्र यायावर श्रेणी के ऋषि थे। वानप्रस्थियों के लिये वैखानसों का आचार बताया है।[४] इस दृष्टि से अत्रिपुत्र वैखानस श्रेणी के यायावर थे, चरक संहिता से यह स्पष्ट होता भी है।

ज्योतिष विचार— चरक संहिता में ज्योतिष के सम्बन्ध में तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र और योग इन पाँच का ही उल्लेख मिलता है[५]। सोमवार आदि दिनों का उल्लेख नहीं। डाक्टर हजारीप्रसादजी ने बताया कि ज्योतिषमें प्रचलित होरा शब्द ग्रीक शब्द ही है। अवर (Hour-घंटा) शब्द होरका ही रूपान्तर है। मुसलमान लोग शुक्रवार को पहला दिन मानते हैं, यहूदी शनिवार को और ईसाई आदित्यवार या रविवार को पहला दिन मानते हैं।

१. चरक० चि० अ० १९।३, १४।३।

२. कौटिल्य अर्थशास्त्र—१।३।११।

३. मनुस्मृति—वानप्रस्थ धर्मप्रकरण, अ० ६।४।

४. बौधायन—६।१९।

५. चरक० वि० अ० ८।९, शा० अ० ८।३५, चि० अ० ११।२१।

भारतीय भी आदित्यवार या सोमवार को प्रथम दिन गिनते हैं। चरक के समय गणना तिथि, नक्षत्र, से ही थी ऐसा चरक संहिता के अध्ययन से स्पष्ट होता है, दिनों से नहीं।

अन्य आवश्यक सूचनायें—१. शिष्य के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वह समय देखकर, विनय से अपनी जिज्ञासा गुरु से पूछें। अग्निवेश ने अपना संशय, या प्रश्न अत्रिपुत्र से उसी समय किया जब वे अग्निहोत्र कर चुके थे, शान्त बैठे थे, तब विनयपूर्वक नम्रता के साथ उसने अपनी जिज्ञासा उनसे कही।[1]

२. ज्ञान के संशय को दूर करने के लिये दूसरों से मिलकर परामर्श करके, निश्चय करना चाहिये, समय पड़ने पर दूसरों से भी सहायता लेनी चाहिये। दूसरों के अधिकार में जबर्दस्ती में अपना पैर नहीं फँसाना चाहिये, (पराधिकारे न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः—चि० अ० २६।१३१) आदि उदारता सम्बन्धी विचार चरक संहिता में मिलते हैं।[2]

काश्यप संहिता में स्पष्ट रूप से ही कह दिया कि दूसरे वैद्यों के साथ विरोध-झगड़ा न करे, उनके साथ मिलकर औषध करे।[3]

३. पौराणिक कथायें उस समय चलती थीं, यह निदान स्थान में रोगों की उत्पत्ति पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है—ज्वर की उत्पत्ति महादेव के क्रोध से बताई है, गुल्म की उत्पत्ति दक्ष के यज्ञ का ध्वंस होने पर प्राणियों के इधर-उधर दौड़ने से कही है, प्रमेह और कुष्ठरोग की उत्पत्ति हवि के खाने से, उन्माद की उत्पत्ति भय और त्रास से, अपस्मार की उत्पत्ति नाना प्रकार की मलिनता से, रक्त-पित्त ज्वर के संताप से, क्षय को चन्द्रमा से उत्पन्न कहा है।[4]

आत्मा, पुनर्जन्म, सांख्य, सद्वृत्त विचार—चरक संहिता में उपनिषदों की भाँति आत्मा, पुनर्जन्म का विचार है, काल मृत्यु और अकाल मृत्यु का युक्तिपूर्वक विचार करके दोनों प्रकार की मृत्यु को स्वीकार किया है।

---

१. चरक० चि० अ० १९।३, २१।५।
२. वही, सू० अ० २५, चि० अ० ५।४४।
३. काश्यप संहिता—पृ० ४१।
४. चरक० नि० अ० ८।११।

सांख्य के सिद्धान्तों की सम्भवतः पहली स्थिति चरक संहिता में ही मिलती हैं। सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः (सू० अ० २५-१५) से पता चलता है कि आदि सांख्यों के सिद्धान्त उस समय चलते थे।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिस इन्द्रियजय की प्रशंसा की है, और जिसके लिये उसने कहा कि यह सारा शास्त्र ही इन्द्रिय जय के लिये है, इसके विरुद्ध बरतनेवाला राजा चारों समुद्रों पर राज्य करता हुआ भी जल्दी नष्ट हो जाता है (१।६।३-४), उस इन्द्रिय जय को देने वाला सद्वृत्त चरक संहिता का अपना वैशिष्ट्य है। शायद ही किसी और ने इतनी सरल और सुन्दर भाषा में इस प्रकार का उपदेश दिया होगा।

कादम्बरी में शुकनास का चन्द्रापीड़ को उपदेश भाषा, ज्ञान और कला की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में बेजोड़ माना जाता है, जो बहुत अंशों में ठीक भी है। परन्तु चरक संहिता का सद्वृत्त अपनी पृथक् विशेषता रखता है। इसमें वैयक्तिक, सामाजिक, अध्यापन सम्बन्धी, स्त्रियों से सम्बन्धित सब प्रकार के सद्वृत्त को बहुत ही सीधी सादी भाषा में, छोटे छोटे पदों में कह दिया है, जिसके लिए किसी भी प्रकार की टीका या व्याख्या की जरूरत नहीं। इतनी सरलता से मनुष्य को कर्तव्य, आचार, धर्म शायद ही किसी शास्त्रकार ने समझाया होगा। सद्वृत्त के पालन करने के लाभों में आरोग्य और इन्द्रिय जय ये दो लाभ कहे हैं।

अन्य विचार—चरक संहिता में उपनिषदों के विचारों के सिवाय दूसरी मान्यताएँ—विचार भी मिलते हैं। ये विचार सिद्धान्त रूप से नहीं हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा आत्मा, पुरुष, रोग आदि का विचार करते हुए स्पष्ट किये गये हैं, इन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय दूसरी विचार-धाराएँ भी बहने लगी थी। लोग पुनर्जन्म, आत्मा आदि के विषय में सन्देह-शील हो गये थे, ईश्वर की पृथक् सत्ता स्वीकृत नहीं थी। आत्मा के विषय में भी सन्देह था। कर्मों का महत्व समझा जाने लगा था। पूर्वजन्म में किये कर्म दैव शब्द से कहे जाते थे और इस जन्म में किये कर्मों को पौरुष कहते थे। प्रवृत्ति (संसार में प्रवृत्ति) और निवृत्ति (मोक्ष हेतु) का कारण कर्म माना जाता था।[1]

---

१. चरक० शा० अ० २।४४।

इसके साथ ही अवैदिक देवताओं की पूजा भी इसमें मिलती है। गंगा, हिमालय, विष्णु सहस्र नाम, शिव और पार्वती की पूजा, उनके गणों की पूजा आदि विषय भी इसमें आ गये हैं। ऐसा वैदिक और अवैदिक मेल शायद ही किसी दूसरे ग्रन्थ में मिले। इसी से इस संहिता में इतने स्तर आ गये हैं, कि जिससे इसका सांस्कृतिक अध्ययन विशेष महत्व का है।

चरक संहिता के उपदेश काल से लेकर (सम्भवतः ७०० ई० पूर्व) इसके सम्पूर्ण होने तक दृढ़बल तक (लगभग ३०० या ४०० ईस्वी) एक सहस्र वर्षों के इतिहास, संस्कृति, भाषा आदि की जानकारी देने वाली यह एक संहिता है। इस संहिता का कई हाथों से प्रतिसंस्कार होने से इसमें कई स्तर आ गये हैं, ये स्तर इतने रूप में चढ़े हुए हैं कि जिससे इसका वास्तविक स्वरूप ही पूर्णतः छिप गया है। फिर भी कहीं-कहीं पर ये निचले स्तर इसमें से चमक जाते हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि इसकी भाषा पाणिनि व्याकरण से पूर्णतः जकड़ी नहीं, इसकी भाषा सुसंस्कृत भाषा पूर्णतः नहीं, इसमें पालि साहित्य के शब्द मिले हैं। जिनसे अनुमान हो जाता है कि इसकी रचना—इसकी संस्कृति बुद्ध से पूर्व की है।

इन सब दृष्टियों से इस संहिता का अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है। अभी तक विद्वान् चरक संहिता को आयुर्वेद चिकित्सा की एक पोथी समझते हैं। चरक संहिता चिकित्सा की पुस्तक अवश्य है, परन्तु साथ ही चिकित्सा की अपेक्षा सांस्कृतिक महत्व इसका अधिक है। श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉस्फी' में इस विषय पर बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला है। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, वही एक विद्वान् हैं, जिन्होंने चिकित्सा दृष्टि को छोड़कर दर्शन दृष्टि से इसका अध्ययन सबसे प्रथम किया है। उनके प्रथम और दूसरे भाग में चरक संहिता पर कई सौ पृष्ठ लिखे गये हैं।

किसी भी देश की संस्कृति के समझने के लिये एक हजार वर्ष की जानकारी एक ही स्थान पर देनेवाली चरक संहिता ही है। इसमें आये बहुत से विषय प्राचीनतम है (यथा वाद मर्यादा)। इसीलिये इसके अध्ययन की ओर ध्यान खींचा, इसमें वैद्यक विषय मुख्यतः दृढ़बल द्वारा पूर्ण किये भाग में है, शेष भाग में सांस्कृतिक विवेचना अधिक रूप में मिलती है। दोनों का विभाग भाषा, साहित्य, वर्णन शैली से स्पष्ट हो जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से प्रथम भाग

में (चिकित्सा स्थान के १३ वें अध्याय तक) प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। उसमें से यहाँ पर कुछ सामग्री केवल दिग्दर्शन रूप में उपस्थित की है, जिससे कि विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो सके।[1]

अध्ययन के लिये स्वीकृत संहिता

अध्ययन के लिये स्वीकृत संस्करण—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित (१९४१) चक्रपाणि की टीकावाली चरक संहिता को अध्ययन के लिये चुना है। यही एक संस्करण है, जो कि अन्य पुस्तकों के साथ मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। इसका सम्पादन बम्बई के वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने अनेक पुस्तकों की सहायता से किया है। इस सम्पादन में कुछ विशेषतायें हैं, जो दूसरों में नहीं हैं, यथा—

(१) इसमें मूल पाठ पर विशेष ध्यान दिया गया है, चक्रपाणि की टीका से जो पाठ समीचीन लगा उसे मूल में स्वीकार किया गया है, शेष उपयोगी पाठान्तर नीचे टिप्पणी में दिये हैं।

(२) टिप्पणी में अन्य व्याख्याकारों के सन्दर्भ, उनका स्पष्टीकरण, व्याख्या भी दी है, इसमें जेजट, श्री योगीन्द्रनाथ सेन, शिवदास सेन आदि के वचनों का उल्लेख किया है, जो अर्थ जिस व्याख्याकार में कुछ विशेषता लिया मिला, उनका उल्लेख कर दिया।

(३) ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपयोगी पत्रक भी दिये हैं, इनमें एक पत्रक में महर्षियों के नाम सम्बन्धी पत्रक हैं, इसमें मूल ग्रन्थ में जिन-जिन ऋषियों का

---

१. अभी तक यह माना जाता है कि विष्णुसहस्रनाम गुप्त काल की रचना है, परन्तु चरक संहिता में यह नाम आता है (चि० अ० ३।३११)। इस रचना को देखने से यह प्रतीत होता है यह गुप्त काल की है। इससे अनुमान है कि चरक ने जो प्रति संस्कार किया है, उसमें भी परिवर्तन हुआ होगा। चरक का अन्तिम समय सामान्यतः कनिष्क का समय (७८ ईस्वी) मानते हैं। यही समय अश्वघोष का है; अश्वघोष की कृतियों में एवं चरक संहिता में उपमा, दर्शन सम्बन्धी विचार, पुनर्जन्म आदि बातों में बहुत समानता है। देखिये 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक में अश्वघोष कवि—लेखक अत्रिदेव विद्यालंकार।

उल्लेख हुआ है उनका नाम तथा स्थान निर्देश किया है। टिप्पणी में इन ऋषियों के सम्बन्ध की संक्षिप्त सूचना है।

दूसरा पत्रक चक्रपाणि की टीका सम्बन्धी है, चक्रपाणि दत्त ने अपनी टीका आयुर्वेद दीपिका में जिन-जिन ग्रन्थों का तथा ग्रन्थकर्ताओं के नाम का उल्लेख किया है, उनका उदाहरण रूप में एक-दो स्थान का उल्लेख कर दिया है, जो कि खोज के लिये विशेष उपयोगी हैं। सूची से स्पष्ट हो जाता है कि चक्रपाणि के समय कौन-कौन से ग्रन्थ उपलब्ध थे। अभी तक प्रकाशित सब संस्करणों में यह संस्करण सबसे अधिक शुद्ध एवं सुसंस्कृत सम्पादित है।

चक्रपाणि दत्त की व्याख्या सम्पूर्ण चरक संहिता पर मिलती है, शेष व्याख्यायें प्रायः अपूर्ण एवं अप्रकाशित हैं। श्री गंगाधर कविराज की व्याख्या जल्पकल्पतरु बहुत विस्तृत दार्शनिक विचार वाली है, इसलिये छात्रों के लिये सुगम नहीं। श्री योगीन्द्रनाथ सेन की चरकोपस्कार व्याख्या चिकित्सा स्थान तेरह तक ही है, इसलिये उसका अधिक प्रचार नहीं है। चक्रपाणि की व्याख्या सुलभ, सम्पूर्ण संक्षिप्त और उपयोगी होने से समस्त भारत में उसी का अधिक महत्व है।

यह व्याख्या लाहौर, कलकत्ता, बम्बई तीनों स्थानों से प्रकाशित हुई है। इसमें भी बम्बई की प्रकाशित व्याख्या अधिक शुद्ध है, तथा परिश्रम से सम्पादित है। श्री शिवदास सेन जी विरचित तत्वप्रदीपिका व्याख्या भी अप्रकाशित है। श्री यादव जी महाराज ने रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई से इसकी हस्त-लिखित प्रति प्राप्त करके टिप्पणी में इसका कहीं-कहीं उपयोग किया है। इसी प्रकार चरकोपस्कार, जल्पकल्पतरु टीकाओं के उद्धरण भी इन व्याख्याकारों के नाम से पाद टिप्पणी में स्थान-स्थान पर दे दिये हैं।[१]

---

१. सहायक पुस्तकों की सूची के लिये परिशिष्ट देखें।

दूसरा अध्याय

आत्रेय, अग्निवेश, चरक, दृढ़बल का समय और इनकी अपनी-अपनी देन

चरक संहिता का उपदेश-काल—उपलब्ध चरक संहिता में कई स्तर दीखते हैं, इसकी भाषा पाणिनि के व्याकरण से पूर्णतः नहीं बँधी[1]। काश्यप संहिता की भाषा सुश्रुत संहिता की भाषा की शैली से पृथक् है। काश्यप संहिता में कई स्थानों की भाषा उपनिषद् से मिलती है, (काश्य संहिता में 'या एवं वेद' पृ० १६२; यह प्रयोग उपनिषद् के ढंग हैं (छान्दोग्य उपनिषद् में या एवं वेद ३।१३ १-२)। इसी प्रकार 'इतिपरिषत्' पृ० ५३ यह वचन उपनिषद् के 'य एवं वेद। इत्युपनिषत्' (तैत्तिरीयोपनिषत्–३।१०।६) से मिलता है।

काश्यप संहिता की भाषा चरक संहिता से सर्वथा कई स्थानों पर भिन्न है, यथा—

'अथो वृद्ध जीवक। वैश्यां जातहारिण्याविष्टामथो महाशूद्रीं स्त्रीं प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते, संव्यवहरते, संवदति, संस्पृशति, संभुक्तेऽभिहन्त्याक्राशत्युशेते पदमृतुनिर्माल्यवसोलंकारमाक्रामति वा'—पृ० १६१।

चरक संहिता में इस प्रकार की भाषा नहीं मिलती। इसी प्रकार सुश्रुत की भाषा सुसंस्कृत है, उसकी भाषा सरल है, उस में कोई भी शब्द लोकभाषा का नहीं मिलता। चरक संहिता में प्रचरण, भंगोदक, संख्यात आदि शब्द मिलते हैं, ऐसे कोई भी शब्द सुश्रुत में नहीं हैं। 'अवक्रान्ति' शब्द पालि में विशेष अर्थ में—गर्भाशय में आने के अर्थ में आया है, परन्तु आयुर्वेद साहित्य में (चरक, सुश्रुत में) इस को इसी अर्थ में ले लिया है।

---

१. 'अध्ययनमभ्यसेत्'—वि० अ० ८।७ में अभ्यसेत्—अपाणिनीय है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत के पश्चात् पालि भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। इसका समय ५०० ई० पू० से पहली ईस्वी तक है। चरक संहिता में पालि भाषा के शब्द हैं, जो पिछले ग्रन्थों में नहीं। इस से अनुमान होता है कि चरक संहिता के उपदेश का समय ५०० ई० पू० और पहली शती का मध्यवर्त्ती होना चाहिये।

अवक्रान्ति शब्द का पालि भाषा में प्रयोग एक भिन्न अर्थ में आता है। बौद्ध दर्शनों में पुनर्भव का सिद्धान्त अन्य दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में पुरुष का मूलभूत व्यक्तित्व एक शाश्वत, नित्य, कूटस्थ, आत्मा या जीव माना है, जो एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में संक्रमण करता है। जैसा गीता में कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता २।२२

चरक में 'देहात्कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च'—शा० अ० २। २८ प्रश्न के उत्तर में कहा है—'भूतैश्चतुर्भिः सहितः ससूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैतिदेहात्'—शा० अ० २। ३१।

किन्तु बौद्ध-दर्शन में इस लक्षण का संक्रमण करने वाला कोई आत्मतत्व नहीं है। इस के अनुसार चित्त की संतति ही पुरुष के व्यक्तित्व का मूल स्रोत है। प्रत्येक विचार या कर्म के संस्कार चित्त की संतति में आते रहते हैं, जिन के अनुसार उसका व्यक्तित्व बदलता रहता है। जीवन के अन्तिम क्षण में जन्म भर के संचित संस्कारों के अनुरूप एक **स्वप्निल** (स्वप्न की भाँति) छाया प्रगट होती है, जिसे **च्युति** कहते हैं। उसी छाया का अवलम्बन कर के भावान्तर में माता के गर्भ में उसी सन्तति के क्रम में एक चित्तक्षण उत्पन्न होता है, इस को **पतिसन्धिचित** कहते हैं। इस क्षण के साथ ही हृदय वस्तु का **प्रथम बीज** प्रादुर्भूत होता है, फिर क्रमशः शरीर का विकास होता है, एक-एक कर के इन्द्रियाँ उद्भूत होती हैं और गर्भ परिपक्व होता है।

पतिसन्धिचित्त के क्षण को **अवक्रान्ति क्षण** भी कहते हैं। भगवान् बुद्ध अपने जन्म से पूर्व तुषित लोक में थे। निश्चित काल के आते ही वे श्वेत हस्ति के

रूप में आकर माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए। इसका चित्रण पुराने शिला फलकों में जहाँ कहीं हुआ है, वहाँ पर **'भगवतो अवक्रान्ति'** उत्कीर्ण मिलता है।

पालि अभिधम्म में भी इस क्षण का संकेत 'ओवकन्ति खणें' से किया है (देखिये—पट्ठान प हावाक सहजात प चय)।[१]

चरक-सुश्रुत में अवक्रान्ति शब्द इसी अर्थ में आया है (संस्कृत साहित्य में अवक्रान्ति का अर्थ नीचे जाना है, वह अर्थ यहाँ पर नहीं है) जैसा कि काश्यप-संहिता के इस वचन से स्पष्ट है—जीव एक शरीर से निकलकर—दूसरे शरीर में जाता है—

"जीवस्तु खलु सर्वगतत्वादीश्वर गुण समन्वितः पूर्वशरीराच्चावक्रामति पर शरीरं चोपक्रामति युगपत्"—पृ० ४७ (गर्भावक्रान्तिशारीराध्याय—१)।

चक्रपाणि ने अवक्रान्ति का अर्थ उत्पत्ति, मेलक दिया है, परन्तु अवक्रान्ति शब्द पालि भाषा में एक विशेष अर्थ के साथ सम्बद्ध है। चरक में 'जीवाऽवक्रामति' (शा० अ० ३।३) से जीव की अवक्रान्ति कही है। सुश्रुत में गर्भावक्रान्ति नामक अध्याय है। चरक में खुड्डाकगर्भावक्रान्ति और महती गर्भावक्रान्ति दो अध्याय हैं।

वेदना—यह शब्द भी चरक संहिता में पालि साहित्य के अर्थ में ही आया दीखता है, वेदना का अर्थ सामान्यतः पीड़ा या दुःख है। परन्तु पालि अभिधम्म के अनुसार वेदना पहिले तीन प्रकार की मानी गई है। यथा—(१) सुखवेदना, (२) दु खवेदना और (३) अदु खमसुख वेदना।

सभी प्रिय वेदना सुखवेदना है, सभी अप्रिय वेदना दुःखवेदना है, और

---

१. श्री भिक्षु जगदीश काश्यप से प्राप्त सूचना के आधार पर—

इसको इस प्रकार से समझ सकते हैं—एक लकड़ी के सिरे में एक धागा लटका है, लकड़ी का दूसरा सिरा एक मनुष्य के हाथ में है। सामने गड्ढा है, गड्ढे के दूसरे सिरे पर भी एक लकड़ी में बँधा धागा लटक रहा है। स्वप्निल चित्त-वृत्तियाँ मनुष्य से पकड़े धागे के साथ लटक रही है। जब अन्तिम क्षण मृत्यु का आता है, तो वे यहाँ से अलग होकर गड्ढे को पार करके दूसरी ओर लटकते हुए धागे को पकड़ लेती हैं—यह अवक्रान्ति है। काश्यप संहिता में इसी को स्पष्ट किया है—"पूर्वशरीराच्चावक्रामति पर शरीरं चोपक्रामति युगपत्॥" शारीर०

वह वेदना जो न तो प्रिय है, और न अप्रिय है, उसको अदुःखमसुखवेदना कहते हैं।

आगे चलकर यह विचार हुआ कि स्पर्श की वेदना अन्य इन्द्रियों की वेदना से भिन्न प्रकार की है। प्रिय स्पर्श की सुखवेदना सुन्दर फूल के देखने या मधुर गान के सुनने के अनुभव से भिन्न है। भिन्नता इस बात में है कि स्पर्श की वेदना प्रधानतः शारीरिक वेदना है और अन्य इन्द्रियों के अनुभव प्रधानतः मानसिक हैं। अतः सुखस्पर्श को तो सुख माना गया और अन्य इन्द्रियों के प्रिय अनुभव को **सौमनस्य** संज्ञा दी है (तुलना कीजिये चरक के इस वचन से—'सौमनस्यं गर्भधारणानाम् श्रेष्ठतमः—सू० अ० २५।४०)। उसी प्रकार से अप्रिय स्पर्श को दुःख कहा है और अन्य इन्द्रियों के अप्रिय अनुभव को दौर्मनस्य कहा है (तुलना कीजिये—चरक के इस वचन से 'दौर्मनस्यमवृष्याणाम् –श्रेष्ठतमः—सू० अ० २५।४०) और जो इनसे भिन्न है, उस अनुभव को उपेक्षा वेदना नाम से कहा है (अभिधम्मत्य संग्रहो ३।१)।[1]

चरकसंहिता में 'वेदना' शब्द पालि साहित्य के वेदना अर्थ में ही आता है। वेदनाओं की अधिष्ठान-भूमि केश, रोम नख के अग्रभाग, अन्न, मल, द्रव इनके गुणों को छोड़कर शेष मन और इन्द्रियों सहित शरीर है। योग और मोक्ष में सब प्रकार की वेदनायें शान्त हो जाती हैं।[2] वेदना का अर्थ केवल दुःख नहीं, अपितु प्रिय-सुख भी वेदना है, योग और मोक्ष में सुख, दुःख, उपेक्षा ये तीनों नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार से चरक संहिता में आया वेदना शब्द पालि साहित्य के वेदना शब्द के अर्थ को ही कहता है।

पत्रभंगोदक—विनयपिटक में यह शब्द पत्तों के क्वाथ के लिये आया है। चरक संहिता में भी यह शब्द इसी अर्थ में मिलता है (चि० अ० १४। १६९)। आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में यह शब्द इस अर्थ में नहीं देखने में आता।

इसी प्रकार से खुड्डाक (खुद्दक), जेन्ताक (जन्ताक), संख्यात (जाने हुए अर्थ में), हिमवत या हिमवन्त (हिमालय के लिये) शब्द पालि साहित्य के हैं, जो कि इस भाषा को बौद्धकाल की सिद्ध करते हैं।

---

१. श्री भिक्षु जगदीश काश्यप जी से प्राप्त सूचना के आधार पर।

२. चरक० शा० अ० १।१३६-१३७।

उपनिषद् परम्परा—उपनिषदों की भाँति चरक में आत्मा और पुनर्जन्म का विचार हुआ है। कठोपनिषद् में आत्मा और पुनर्जन्म के अस्तित्व में विचार-विमर्श मिलता है, कुछ लोग इनकी सत्ता स्वीकार करते हैं, और कुछ नहीं करते (कठोपनिषद् १।१।२०, १।२।६)। चरक संहिता में भी पुनर्जन्म का विचार (शा० अ० १।४३-४५) में मिलता है।

इसी प्रकार कठोपनिषद् में वर्णित श्रेयस् और प्रेयस्—का विचार चरक संहिता में प्रवृत्ति और निवृत्ति शब्द से हुआ है (शा० अ० ५।९-१०, शा० अ० ३।३८)। गीता में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति शब्द ही मिलते हैं (अ० १८।३०)। चरक संहिता में उपनिषदों की भाँति परिषद् प्रणाली से विचार विनिमय मिलता है। संशय को दूर करने के लिये वैद्य समूह से मिलकर विचार करना [सम्भाषा-परिषद् को] सबसे श्रेष्ठ कहा है। बृहदारण्यक तथा प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार से मिलित रूप में विषय की चर्चा, करना मिलता है (सुश्रुत में इस प्रकार की परिपाटी नहीं मिलती, काश्यप संहिता में मिलती है)।

इसलिये अनुमान होता है कि चरक संहिता का प्रथम उपदेशकाल उपनिषद्काल का अन्तिम तथा बौद्धकाल का प्रारम्भिक समय है, जो कि सम्भवतः लगभग ७५० या ७०० ईस्वी पूर्व का होगा।

तक्षशिला—चरक संहिता का समय निश्चित करने में चरक में तक्षशिला का या गान्धार का उल्लेख न होना महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध के जन्म से पूर्व तक्षशिला का विकास हो चुका था। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला के राजा ने उससे सन्धि कर ली थी। बुद्ध के समय तक्षशिला विद्या का केन्द्र—विद्यापीठ था। जीवक ने तक्षशिला में ही विद्याध्ययन किया था। काशी का राजकुमार ब्रह्मदत्त भी वहीं अध्ययन करता था।

गान्धार का प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य को सिकन्दर के पीछे उसके उत्तराधिकारी सैल्युकस से सन्धि में मिला था। भेल संहिता में गान्धार का नाम मिलता है [पृ०-३०] चरक संहिता में गान्धार या तक्षशिला का नाम नहीं; वाह्लीक भिषक कांकायन का उल्लेख है। परन्तु चैत्ररथवन का उल्लेख (वर्तमान चित्राल) होने से इतना स्पष्ट है कि इस प्रदेश से आत्रेय परिचित थे। इस अवस्था में तक्षशिला का उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण है कि तक्षशिला के उन्नत होने से पूर्व

ही चरक का उपदेश हुआ था। चैत्ररथ और वाह्लीक दोनों जनपद सटे प्रतीत होते हैं[1]; जैसा कि पाणिनि के गणपाठ के सूत्र में आया है—"चित्ररथो वाह्लीकम्" २।२३१।

बुद्ध का जन्मकाल ६०० या ६५० ईस्वी पूर्व माना जाता है। पाणिनि ने तक्षशिला का उल्लेख किया है (४।३।९३)। तक्षशिला को उन्नत होने में लगभग ४०-५० वर्ष अवश्य लगे होंगे—इसलिये बुद्ध से पचास वर्ष पूर्व तो चरक संहिता का उपदेश हुआ होगा—यह सम्भावना करना उचित ही है।

काम्पिल्य—चरक संहिता में काम्पिल्य को द्विजातिवराध्युषित बताया है। काम्पिल्य पंचाल जनपद की राजधानी कही है। उपनिषद् में पंचालों की समिति का उल्लेख आता है। जनक विदेह के बहु दक्षिणा वाले यज्ञ में कुरु-पंचाल के ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। इससे स्पष्ट है कि पंचाल जनपद उस समय भी विद्वानों का स्थान रहा है, जिसका उल्लेख चरक संहिता में मिलता है।

उपनिषद् में (बृहदारण्यक–३।१।१) जनक वैदेह का नाम आता है, चरक में भी जनक वैदेह का मत दिया है (शा० अ० ६।२१)। वैदेह जनक, राजा जनक से भिन्न माने जाते हैं।

इन सब प्रमाणों के आधार पर चरक का समय ७०० या ७५० ईस्वी पूर्व मानना ही उचित दीखता है। यह समय उपनिषदों की परम्परा का अन्तिम चरण है, इसी समय अत्रिपुत्र ने अपने शिष्य अग्निवेश को उपदेश दिया, अग्निवेश का नाम बृहदारण्यकोपनिषद् में भी आता है (२।६।२)।

आत्रेय—चरक संहिता में अग्निवेश के गुरु के लिये कृष्णात्रेय, पुनर्वसु, चान्द्रभाग, अत्र्यात्मज, अत्रिसुत नाम आते हैं। भेल संहिता में पुनर्वसु, चान्द्र-भाग नाम आता है (पृ० ३० और ३९)। इसके सिवाय भिक्षु आत्रेय भी नाम आता है। यह भिक्षु आत्रेय अग्निवेश के गुरु कृष्णात्रेय से भिन्न हैं। कृष्णात्रेय द्वारा भिक्षु आत्रेय के वचन का खण्डन मिलता है (चरक० सू०अ० २५।२४)।

---

१. भेल संहिता में गान्धार का नाम है; वहाँ पर आत्रेय के जाने का भी उल्लेख है। चैत्ररथवन [चितराल] गान्धार का ही एक भाग प्रतीत होता है, इससे सटा हुआ है, जैसा आज भी नक्शे में स्पष्ट है। चरक के समय में वाह्लीक [बलख], चित्राल (चैत्ररथ) और गान्धार ये तीनों जनपद सटे हुए थे जो आज भी वैसे ही हैं।

कृष्णात्रेय का नाम महाभारत में भी चिकित्सा के सम्बन्ध में आया है।[१] आत्रेय के साथ कृष्ण विशेषण व्यास के साथ लगे कृष्ण द्वैपायन का स्मरण कराता है। यह कृष्ण विशेषण सम्भवतः इनको यजुर्वेद की कृष्ण-शाखा का होना सिद्ध करता है, क्योंकि काशिका वृत्ति में वैशम्पायन के सब शिष्यों को 'चरक' कहा है। वैशम्पायन का एक नाम चरक भी था। वैशम्पायन का सम्बन्ध यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से है।

पुनर्वसु नाम इनका पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न होना बताता है। क्योंकि नामकरण विधि में नक्षत्र के ऊपर एक नाम रखने को कहा है (शा० अ० ८।५०)।

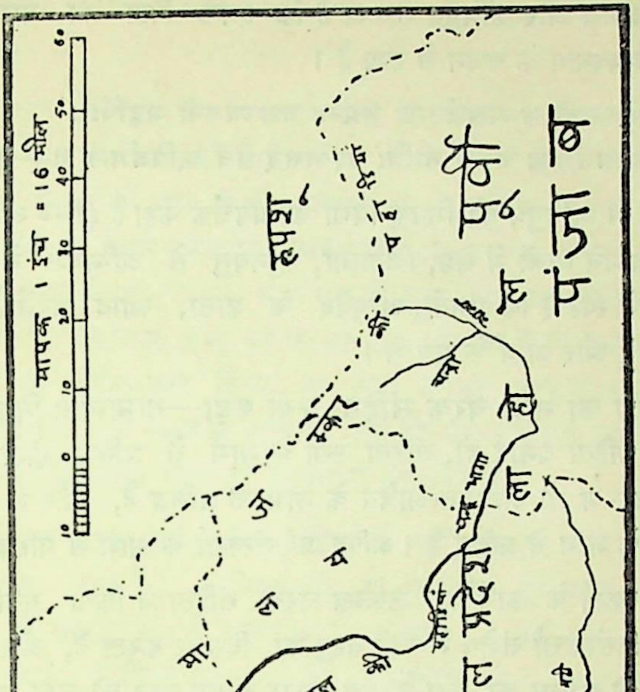
चान्द्रभागि या चान्द्रभाग नाम इनकी माता के नाम से पड़ा प्रतीत होता है।[२] इसके सिवाय एक अनुमान यह भी है कि चन्द्रा और भागा—इन दो नदियों के दोआबे में या चन्द्रभागा (चनाब) के पास के देश में उत्पन्न होने से यह नाम हुआ होगा। लाहौल घाटी में चन्द्रा और भागा दो नदियाँ हैं, जो आगे मिलकर चन्द्रभागा नाम ले लेती है (पृष्ठ ३७ देखिये)। जिस प्रकार से दक्षिण भारत में तुंगा और भद्रा ये दो नदियाँ प्रारम्भ में पृथक्-पृथक् हैं और आगे मिलकर 'तुंगभद्रा' नाम से एक नद बन जाती हैं। दूसरा विचार यह भी हो सकता है कि चन्द्रभागा (चनाब) नदी के प्रदेश में उत्पन्न होने से यह नाम पड़ा हो। यह अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि चन्द्रभागा नदी काश्मीर में बहती है। काश्मीर चित्राल और वाह्लीक के साथ का है। आत्रेय के समय काश्मीर स्वतन्त्र प्रदेश नहीं दीखता। इसका कुछ भाग चित्राल में कुछ वाह्लीक में रहा होगा। इस प्रदेश में होने से ही चैत्ररथ की समितिमें उपस्थित होना आत्रेय के लिये सरल था साथ ही वाह्लीक भिषक् कांकायन के लिये भी समय-समय पर आना सरल था। भेल संहिता में गान्धार में जाने का आत्रेय का जो उल्लेख है, वह भी इस प्रदेश में होने से सम्भव दीखता है।[३]

---

१. देवर्षि चरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेय चिकित्सितम्॥ महाभारत शा०, २१२।३३।

२. काश्यप संहिता का उपोद्घात, पृ० ७७।

३. काश्मीर रियासत की किस्तवार तहसील में डोडा जिले में पनाखोट स्थान पर चन्द्रा और भागा नाम की दो नदियाँ मिलती हैं। ऐसा एक सज्जन ने मुझे कहा है—परन्तु नक्शों में प्रमाणित नहीं हुआ।


मापक 1 इंच = 16 मील
हिमाचल प्रदेश
पंजाब
चम्बा
किश्तवार
चिनाब नदी

अत्र्यात्मज और अत्रिसुत से स्पष्ट है कि इनके पिता का नाम अत्रि था, जैसा कि अश्वघोष के वचन से स्पष्ट है ।

वाल्मीकरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्नच्यवनो महर्षिः ।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥—बुद्ध चरित

चरक में अत्रिपुत्र को भिषक् विद्या का प्रवर्त्तक कहा है (चि० अ० १३।)। आयुर्वेद जानने वालों में श्रेष्ठ, जितात्मा, पुनर्वसु से अग्निवेश ने संशय को पूछा। इससे स्पष्ट है कि पुनर्वसु-आयुर्वेद के ज्ञाता, आदि प्रवर्तक [लोक में लाने वाले] और अत्रि के पुत्र थे।

संहिता का नाम चरक संहिता क्यों पड़ा—सामान्यतः नियम यही है कि जिसने संहिता बनाई हो, संहिता उसी के नाम से प्रसिद्ध होती है। परन्तु चरक संहिता—न तो अत्रिसुत-आत्रेय के नाम से प्रसिद्ध है, और न इसके कर्ता अग्निवेश के नाम से प्रसिद्ध है। अपितु प्रतिसंस्कर्ता के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रतिसंस्कर्ता के कार्य का उल्लेख चरक संहिता में किया गया है, उसके अनुसार प्रतिसंस्कर्त्ता संक्षेप में कही वस्तु का विस्तार करता है, और विस्तार में कही वस्तु को संक्षिप्त कर देता है, इस प्रकार से वह वस्तु को नया कर देता है, नये ढाँचे में उतार देता है (वाग्भट के अनुसार—युगानुरूप सन्दर्भ—समय के अनुसार रचना बना देता है)[1]। चरक ने इस संहिता का प्रतिसंस्कार करके इसको नया ही रूप दे दिया है, इसलिये उसी के नाम से यह संहिता प्रसिद्ध हुई।

इस समय तक इस संहिता के रूप में परिवर्तन आ चुका होगा—क्योंकि प्रतिसंस्कार होने के ३००-४०० वर्ष पीछे ही दृढ़बल ने इस संहिता का शेष भाग दूसरे तन्त्रों के आधार पर पूर्ण किया। यह शेष भाग उसके समय उपलब्ध नहीं था।[2] इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक है कि अग्निवेश से लेकर चरक के प्रतिसंस्कार करने के समय तक (लगभग ७००-८०० वर्ष का समय) इस संहिता का कुछ भाग लुप्त हो गया होगा या उसमें परिवर्तन भी हो गया—जिससे इस उपयोगी संहिता के प्रतिसंस्कार की जरूरत अनुभव हुई और यह संहिता इसके

---

१. चरक० सि० अ० १२।३६-३७।

२. वही, सि० अ० १२। ३८-४०।

बनाने वाले के नाम से न कही जाकर प्रतिसंस्कर्ता के नाम से कही जाने लगी।

इसके साथ ही अग्निवेश के सहाध्यायी भेल की बनाई संहिता आज भी भेल संहिता के नाम से ही प्रसिद्ध है और चौथी-पाँचवी ईस्वी के वाग्भट के समय में भी भेल के नाम से ही प्रसिद्ध थी।[1] क्योंकि इसका पठन-पाठन अधिक न होने से, इसमें परिवर्त्तन नहीं हुआ, इसका रूप वैसा-का-वैसा बना रहा, केवल समय के कारण कुछ भाग लुप्त हो गया—जो प्रकाशित नहीं हुआ। अष्टांग संग्रह के टीकाकार इन्दु का कहना ठीक लगता है कि चरक ने आधी संहिता का ही प्रतिसंस्कार किया था; फिर उनकी मृत्यु हो गई [जैसा कि कादम्बरी को पूर्ण किये बिना ही बाण की मृत्यु हो गई थी; शेष भाग उसके पुत्र ने पूरा किया] और शेष भाग को दृढ़बल ने पूर्ण किया।[2]

अग्निवेश का समय—चरक संहिता में अग्निवेश के लिये अग्निवेश या वह्निवेश शब्द आते हैं। उपनिषद् में भी अग्निवेश का नाम आता है।[3] पाणिनि ने भी गर्गादि गण में अग्निवेश नाम पढ़ा है। अग्निवेश नाम प्राचीन है, पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य का नाम भी अग्निवेश था। जिसने चरक संहिता के आदिरूप में संहिता बनाई थी, जिस प्रकार आत्रेय के दूसरे शिष्यों ने बनाई थी। परन्तु अग्निवेश में बुद्धिवैशिष्ट्य होने से उसने सब से प्रथम रचना की थी—और उसकी संहिता का प्रचार हुआ। इस प्रकार प्रचार की अधिकता से ही इसमें बहुत परिवर्तन हुआ होगा—(जैसा कि महाभारत के रूप में मिलता है) और चरक को इसके प्रतिसंस्कार की ज़रूरत प्रतीत हुई (जैसा आज पूना से महाभारत का प्रामाणिक संस्करण निकलने की आवश्यकता अनुभव हुई)।

अग्निवेश के नाम से अग्निवेश संहिता भी प्रचलित थी। चक्रपाणिदत्त और विजय रक्षित ने अपनी अपनी टीकाओं में इससे वचन उद्धृत किये हैं।

---

१. अष्टांगहृदय—उत्तर० अ० ४०।८८।

२. स्नेह पाक विधिस्तूक्त एव दृढ़बलेन तु।
चरकोऽर्धकृते शास्त्रे ब्रह्मभूय गतो यतः॥ अष्टांग-कल्प टीका २५ वां श्लोक।

३. आग्निवेश्यादग्निवेश्यम्—वृहदारण्यक० २।६।२।

उपलब्ध चरक संहिता में ये वचन नहीं मिलते।[1] इससे स्पष्ट है कि यह संहिता चरक संहिता से भिन्न है। इन टीकाकारों के समय अग्निवेश संहिता उपलब्ध रही होगी। आज तो उपलब्ध चरक संहिता ही अग्निवेश संहिता के नाम से कही जाती है। चक्रपाणि ने अपनी टीका में अग्निवेश तन्त्र के वचन उद्धृत किये हैं—

	पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति
अग्निवेशः (कायचिकित्सातन्त्रकारः)			
	२६	१	४
	४१४	२	१६
	४५३	२	१७
	४३२	१	६

अग्निवेश के नाम से अंजन निदान भी प्रचलित है। परन्तु यह बहुत अर्वाचीन है। इसमें सुश्रुत और माधव निदान के बहुत से वचन उद्धृत हैं। प्राचीन टीकाकार चक्रपाणि दत्त और विजय रक्षित भी इससे अपरिचित थे। इसकी भाषा, रचना-शैली आर्ष नहीं दीखती।

अग्निवेश का समय पुनर्वसु का ही है अर्थात् ७०० या ७५० ईस्वी पूर्व ही मानना ठीक है।

चरक का समय—वैदिक साहित्य में—उपनिषद् में तथा बौद्ध साहित्य में चरक शब्द बहुवचन में तथा भिन्न-भिन्न अर्थों में मिलता है—

(१) मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजामः—बृहदारण्यकोपनिषद् ३।३।१।

(२) अन्यतीर्थक श्रमण ब्राह्मण चरकपरिव्राजकानाम्-ललितविस्तर—१ अध्याय। इसमें चरणशील तपस्वियों को—तपोवृत्ति वालों को चरक कहा है।

(३) सचित समूहो यथा मल्लगणः।...अचित्त समूहो यथा वसुगणः, कुप्रवचने द्रव्यगणो, यथा चरकादि गणः—चरकः—परिव्राजकः (पृ० ८१४, अभिधान-राजेन्द्रकोष—१९१६–खण्ड ३), हिन्दूराज्यतंत्र—१म भाग, पृ० ३६।[2]

१. प्रत्यक्ष शारीरम् का उपोद्घात देखें।

२. हिन्दू राज्यतंत्र—श्री रामचन्द्र वर्मा से अनुवादित, काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित, पृ० ३६।

(४) वाराहमिहिर ने वृहज्जातक में (१५ । १) प्रव्रज्यायोग वर्णन में—'शक्याजीवक भिक्षु वृद्ध चरकानिर्ग्रन्थवन्याशनाः ।'

(५) रुद्र ने चरक का अर्थ योगाभ्यास में कुशल, मुद्राधारी, चिकित्सा में निपुण-पाखण्ड भेद अर्थ किया है ।[1]

(६) काशिका वृत्ति में पाणिनि सूत्र (४ । ३ । १०४) की व्याख्या में कहा है, 'चरक' वैशम्पायन का नाम है । इस से वैशम्पायन के सब शिष्य 'चरक' कहे जाते हैं । वैशम्पायन का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है, शतपथ ब्राह्मण में कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी 'चरकाध्वर्यु' कहे हैं ।[2] कृष्ण यजुर्वेद का चरण चरक है ।

(७) पाणिनि ने कठ के साथ चरक भी पढ़ा है (४ । ३ । १०७) । इस से अनुमान होता है कि कठ की भाँति चरक भी एक शाखा थी ।

प्राचीन वाङ्मय के देखने से पता चलता है कि शाखा का बहुत महत्त्व था, शाखा एक प्रकार की विद्यापीठ—विद्या केन्द्र था (चरक संहिता में शाखा को आयुर्वेद का पर्याय—अनर्थान्तर कहा है)[3] । शाखा में जो भी ग्रन्थ रचना होती थी, वह ग्रन्थ रचना उसी शाखा के नाम से कही जाती थी । जैसे कठ शाखा में बनी उपनिषद् कठोपनिषद् । एक शाखा में भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थ बनते थे, वे सब ग्रन्थ उसी शाखा के नाम से प्रचलित होते थे । शौनक शाखा में धर्मशास्त्र के लिए शौनक संहिता बनी और इसी शाखा में विष चिकित्सा के लिए शौनक-संहिता भी बनी । इसी प्रकार अगद तंत्र का एक ग्रन्थ उशन संहिता है[4], पंच-तंत्र के नीति-वचनों में उशन का नाम भी मिलता है (उशनावेदयच्छास्त्रं यच्च वेद वृहस्पति) । इसी प्रकार लाट्यायन, आलम्बायन शाखा में भी भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थ बने ।[5]

---

१. काश्यप संहिता—उपोद्घात—पृ० ६३ ।

२. पुनर्वसु का नाम कृष्णात्रेय भी था, संभवतः ये भी कृष्ण यजुर्वेद की इसी शाखा के अनुयायी हो ।

३. चरक० सूत्र अ० ३० । ३१ ।

४. अष्टांग संग्रह के विष अध्याय में उशन का मत दिया है ।

५. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३१७ एवं ३०० ।

इसी से अनुमान होता है कि उपलब्ध संहिता का प्रतिसंस्कार इसी शाखा के अन्तर्गत हुआ होगा और प्रतिसंस्कार में नया रूप मिलने से यह संहिता इसी शाखा के नाम से प्रचलित हुई हो। पहले ग्रन्थों का या सिद्धान्तों का प्रतिसंस्कार परिषद् या शाखा के अन्दर ही पहले होता था, इसी से काश्यप संहिता में पढ़ते हैं—'अर्वागपि यदाहारविशेषादारोग्याच्च पूर्णे भवत इतिपरिषत्' (पृ० ५३)।

कृष्णात्रेय का एक निवास नहीं रहा, सुश्रुत संहिता की भाँति एक स्थान पर रह कर इस का उपदेश नहीं हुआ, यह बात चरक संहिता से स्पष्ट है। इसीसे अनुमान होता है कि आत्रेय का जीवन यायावर—भ्रमणशील था। चरक शब्द का अर्थ भी परिभ्रमणशील, परिव्राजक है, घूमने वाले। 'चारिका' शब्द में चरक शब्द की छाया स्पष्ट दीखती है।[1]

चरक में ऋषियों के दो भेद कहे हैं,—(१) यायावर—जो घूमते रहते थे, (२) शालीन—शाला बनाकर रहने वाले।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि निरन्तर यात्रा करने वाले व्यक्तियों की जंघाएँ पुष्ट रहती हैं, आत्मा प्रबल होती है, यात्रा श्रम से उनके पाप दूर होते हैं।[3] (कवि राजशेखर यायावरीय थे)। संन्यासियों के लिये भी यही नियम है कि वे सदा घूमते रहे, इसी से चरक का अर्थ परिव्राजक हुआ। वृहदारण्यकोपनिषद् में भी चरकापर्यव्रजामः का अर्थ संन्यासी है।

चरक संहिता में चार युगों का उल्लेख है (चरक० वि० अ० ३।२४), युगों

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार—माणवक, अन्तेवासी और चरक तीन प्रकार के शिष्य होते थे। इसमें जो शिष्य विद्याध्ययन के पीछे गुरुकुल छोड़कर घूम-घूमकर विद्याभ्यास करते थे, वे चरक कहे जाते थे। अग्रवालजी की इस कल्पना का आधार पाणिनि का सूत्र 'माणवचरकाभ्यांखञ' (५।१।११) है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३००)। बौधायन धर्मसूत्र में—अनुक्रमेणचरणाच्चरत्वम्—बौधायन ११ वाँ प्रकरण में कहा है, जिसका अर्थ निरन्तर चलना है। महाराष्ट्र में आज भी कुछ ऐसे सन्त—यायावरीय मिलते हैं, जो गायों और अनेक व्यक्तियों को साथ में लेकर यात्रा और भजन-कीर्तन करते रहते हैं।

२. चरक० चि० अ० १।४।४।

३. पुष्पिण्यौ चरतो भूष्णुरात्मा फलेग्राहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥ ऐ० ब्रा० ७।१५।२

का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता, सबसे प्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है, उसके अनुसार सोने वाले का नाम कलि है, अंगड़ाई लेता हुआ द्वापर होता है, उठता हुआ त्रेता होता है, और चलता हुआ कृत युग होता है (३३।२)। चरक में बाल्यावस्था को कृतयुग, युवावस्था को द्वापर, बुढ़ापे को त्रेता और रुग्णावस्था को कलियुग कहा है (शा० अ० ५।५)। चरक में मनुष्य की आयुका भी उल्लेख प्रत्येक युग की दृष्टि से किया गया है (वि० अ० ३।२५-२७)। सुश्रुत में पांच संवत्सर का युग कहा है, उसमें पांच युग बताये हैं (सूत्र० अ० ६।९), कौटिल्य ने भी पांच संवतसर का एक युग माना है (पंचसम्वत्सरोयुगमिति अ० ४१)। काश्यप संहिता में [शारीर, अ० १] में आदि युग, देवयुग, कृतयुग—इनको उत्सर्पिणी कहा है; त्रेता, द्वापर, कलियुग को अवसर्पिणी कहा है। वहाँ पर इन युगों का वर्णन, मनुष्यों के शरीर का संहनन सब वर्णित हैं।

व्यक्ति का नाम—चीनी कथा के आधार पर कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक कहा जाता है। बौद्ध त्रिपिटक के चीनी भाषा अनुवाद में कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक दिया है, इसने दुःसाध्य रोग की चिकित्सा की थी। इसी आधार पर सिलवान् लेवी ने चरक को कनिष्क का समकालीन माना है।[1]

काश्यप संहिता के प्रकाशक श्री हेमराज जी ने चरक को नागार्जुन का समकालीन माना है, और नागार्जुन को कनिष्क का समकालीन बताया है।[2]

कनिष्क और नागार्जुन बौद्ध थे, कनिष्क की बौद्ध धर्म में श्रद्धा थी। कवि अश्वघोष भी कनिष्क के समय के एवं कनिष्क के राजकवि कहे जाते हैं। पाटलिपुत्र को विजय करके कनिष्क अश्वघोष को अपने साथ में लाया था। इन तीनों के समकालीन तथा साथी रहने पर भी चरक संहिता में बौद्ध-धर्म की छाया भी नहीं मिलती। अपितु बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद, क्षणिकवाद का खण्डन ही मिलता है (शा० अ० १।४३-४८)।

कनिष्क का समय सामान्यतः ७८ वर्ष ईसा के पश्चात् मानते हैं। इस समय तक हिमालय की पूजा, गंगा की पूजा, शिव को ईश्वर नाम से कहना, मरुद्गणों की पूजा, विष्णुसहस्र नाम आदि का प्रचार नहीं था, ये सब बातें कनिष्क के

---

१. इन्डियन एन्टीक्वरी—भाग ३३, पृ० २८१-३१९—सिल्व्यान लेवी की टिप्पणी।

२. काश्यप संहिता—उपोद्घात, पृ० ९६-९७।

समय (ईसा की पहली शती के पीछे की) के पीछे की है। चरक संहिता में इस प्रकार की बातों का उल्लेख है।[१] इतिहासज्ञ इनको तीसरी या चौथी शती के विचार मानते हैं।

इसलिये प्रतिसंस्कर्ता चरक को कनिष्क के समकालीन मानने में बहुत पुष्ट आधार नहीं दीखता।

चरक की भाषा—चरक की भाषा में कुछ विषय अश्वघोष की रचना से मिलते हैं।[२] यथा—

(क) अश्वघोष ने परस्पर कुशल मंगल पर पूछने में 'धातु साम्य' शब्द का प्रयोग किया है। चरक में 'धातु साम्य' का अर्थ ही आरोग्य है [कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते। धातु साम्यक्रियाचोक्ता तंत्रास्यास्य प्रयोजनम् (सु० अ० १।५३), विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकतिरुच्यते (सू० अ० ८।४)]। अश्वघोष ने कुशल शब्द नहीं बरता।

(ख) चरक संहिता में आये दार्शनिक शब्द—अभ्यवपात, अहंकार, संग, विप्रत्यय, अविशेष आदि (शा० अ० ५।१०) अश्वघोष के ग्रन्थ में ही मिलते हैं, दूसरे ग्रन्थों में नहीं मिलते [देखिये—इसी में दार्शनिक अध्याय, पृष्ठ ९९]।

(ग) चरक संहिता में आई उपमायें अश्वघोष की उपमाओं से बहुत मिलती हैं।

(घ) चरक संहिता की भाँति अश्वघोष ने भी पुनर्भव के सन्देह को बताकर पुनर्भव के अस्तित्व को सिद्ध किया है—दोनों ने 'पुनर्भव' ही शब्द बरता है, पुनर्जन्म शब्द नहीं।

इस दृष्टि से उपलब्ध चरक संहिता तथा कवि अश्वघोष की रचना में बहुत समानता मिलती है। अश्वघोष का समय कनिष्क का (ईसा की प्रथम शती) काल माना जाता है।

इस प्रकार से भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी प्रमाणों के आधार पर चरक संहिता का काल निर्णय करना कठिन है। चरक संहिता की भाषा में बहुत स्तर मिलते

---

१. चरक० चि० अ० ३।३१०-३१३।

२. संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद (अत्रिदेव विद्यालंकार) में कवि अश्वघोष पृ० ३९, ४१, ४४, ४९।

हैं, इसमें उपनिषद् काल की झलक भी है, बौद्धकाल की भी झलक है, ईसा की प्रथम शती—कनिष्क के समय की भी रचना साम्य मिलता है। गुप्तकाल की मरुद्गण पूजा, विष्णुसहस्रनाम भी मिलता है। इसके पीछे दृढ़बल से सम्पूर्ण किये भाग में वासुदेव नाम भी आ गया है।

इसलिये इन आधारों पर प्रतिसंस्कर्त्ता का समय निश्चित करना कठिन ही दीखता है। कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक हो सकता है, यह नाम शाखा से सम्बन्धित था, या उसका वैयक्तिक नाम था इसका भी कोई निश्चित आधार नहीं। इसी ने इसका प्रतिसंस्कार किया या चरक शाखा के अन्तर्गत प्रति संस्कार हुआ—इसका भी कोई प्रमाण नहीं। इस विषय में जो भिन्न-भिन्न विचार विद्वानों के हैं—उनको ही उपस्थित किया गया है।

पतंजलि और चरक—चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने चरक को शाखा न मानकर व्यक्ति विशेष स्वीकार करके नमस्कार किया है। उन्होंने पतंजलि को शेष नाग का अवतार माना है। इसी प्रकार से विज्ञान भिक्षु ने अपने योग वर्त्तिक में और रामभद्र दीक्षित ने पतंजलि चरित में पतंजलि को ही चरक स्वीकार किया है।[१]

महाभाष्य में पतंजलि के नामों में चरक नाम नहीं आता। दृढ़बल ने भी सदा चरक का ही प्रयोग किया है (चरकेनातिबुद्धिना—सि० १२।३७)। भट्टार हरिचन्द्र ने अपनी चरक व्याख्या में चरक को ही नमस्कार किया है। वाग्भट ने भी चरक नाम का ही उल्लेख किया है। नैषध में भी चरक ही शब्द आता है। इससे इतना स्पष्ट है कि चरक शब्द ही आयुर्वेद के साथ सदा सम्बन्धित रहा, पतंजलि नाम आयुर्वेद के साथ नहीं मिलता।

महाभाष्य में वस्तु के विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष न होने के छह कारण बताये हैं, चरक संहिता में आठ कारण कहे हैं, सांख्यकारिका में भी आठ कारण कहे हैं (देखिये—दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि)।

महाभाष्य में जिन रोगों का उल्लेख है, वे रोग चरक में नहीं मिलते और

१. चरक संहिता में किया चक्रपाणि दत्त का मंगलाचरण—एवं श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य द्वारा सम्पादित चरक संहिता का उपोद्घात—पृ० ८ में टिप्पणी (४) देखें।

न उन रोगों के बताये कारण चरक में हैं।[1] इससे अनुमान होता है कि पतंजलि और चरक भिन्न-भिन्न हैं।

पतंजलि दक्षिण भारत से भली प्रकार परिचित थे। उनके द्वारा उल्लिखित नासिक्य, कन्याकुमारी, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि इसके प्रमाण हैं।[2] चरक में दक्षिण के किसी भी देश का नाम भी नहीं मिलता; इससे भी स्पष्ट है कि दोनों व्यक्ति भिन्न हैं।

चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता का योग सूत्रों के प्रणेता पतंजलि से भी कोई सम्बन्ध नहीं। चरक और योग सूत्रों में कुछ भी समानता नहीं। योग सूत्रों में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, परन्तु चरक में ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है, चरक में आया ईश्वर शब्द—योगदर्शन में वर्णित ईश्वर के अर्थ में न जाकर शिव के लिये है। चरक संहिता में बताया योगियों का ऐश्वर्य—योगदर्शन की विभूतियों से कुछ अंशों में भिन्न है। योगदर्शन में मन्त्र, औषधि, तप, समाधि द्वारा सिद्धियों की प्राप्ति कही है, चरक संहिता में तप या औषधियों से सिद्धियों की प्राप्ति का कोई भी उल्लेख नहीं और न सिद्धि प्राप्ति की ही कोई चर्चा है, यद्यपि सिद्ध शब्द कई स्थानों पर आता है।

पतंजलि को पुष्यमित्र का समकालीन माना जाता है (२०० ई० पूर्व)। मिलिन्द (मिनाण्डर) का भारत पर आक्रमण भी इसी समय हुआ था। इसके समर्थन में महाभाष्य के 'अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्'—को उपस्थित किया जाता है। ये वचन महाभाष्यकार पतंजलि के समय को सिद्ध करते हैं, परन्तु प्रतिसंस्कर्ता चरक या योगसूत्रों के प्रणेता पतंजलि के साथ इनका सम्बन्ध किसी प्रकार का नहीं। चरक संहिता में यवन शब्द देशवाचक है, जो कि अफगानिस्तान के पास का प्रदेश था (देखिये—इसी में भूगोल अध्याय)। सुश्रुत में भी यवन शब्द (सू० अ० १३।१३) इसी अर्थ में आया है। चरक संहिता में यवन शब्द दृढ़बल से पूरित किये भाग का है, दृढ़बल का अपना समय तीसरी-चाथी शती है।

महाभाष्य [आ, १] में नामकरण के जो नियम बताये हैं, उनकी भाषा

---

१. आयुर्वेद का इतिहास (अत्रिदेव विद्यालंकार, पृ० ८०, ९०)।

२. पतंजलिकालीन भारतवर्ष—पृष्ठ २९ में।

बहुत कुछ चरक में वही नामकरण विधि है (शा० अ० ८); परन्तु चरक में तद्धित का निषेध नहीं लिखा; जैसा महाभाष्यमें है। आत्रेय नाम स्वयं तद्धित प्रत्यायन्त है। इसलिये यदि चरक और पतञ्जलि एक होते तो चरक में भी तद्धित नाम का निषेध करते (देखिये—इसी में नामकरण विधि)।

इसलिये महाभाष्यकार पतंजलि एवं योग सूत्रों के प्रणेता पतंजलि भिन्न-भिन्न हैं, चरक का इनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं, वे इन दोनों से भिन्न ही है।

दृढ़बल का समय—दृढ़बल ने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में दे दिया है। उसके अनुसार दृढ़बल के पिता का नाम कपिलबल था। अष्टांग संग्रह में कपिलबल के मत का उल्लेख मिलता है।[1] वाग्भट का समय पांचवी शती के लगभग है।

दृढ़बल ने अपना अभिजन पंचनद बताया है। यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने इसकी पहिचान श्रीनगर (कश्मीर की राजधानी)से उत्तर में साढ़े तीन कोस की दूरी पर पंजयनोर नामक स्थान से की है। यहाँ पर त्रिगाम, वितस्ता, सिन्ध, क्षीरभवानी और आंचार इन पांच नदियों का मेल होता है। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में इस पंचनद का उल्लेख किया है (२४६-२५० श्लोक)।[2]

दृढ़बल ने भूपतिशंकर को प्रसन्न करके इस संहिता को पूर्ण किया। इसको पूर्ण करने में उसने दूसरी संहिताओं—तन्त्रों से भी सहायता ली थी। यह सहायता उसने दो प्रकार से ली है (१) उञ्छ वृत्ति से और (२) शिल वृत्ति से। इस से स्पष्ट है कि कहीं से तो उसने पूरा सन्दर्भ लिया और कहीं से आवश्यक अंश या शब्द ही उद्धृत किये हैं।[3]

दृढ़बल ने मद्यपान का जो वर्णन किया है, जिस प्रकार की विधि बताई है, वही परन्तु अधिक सुसज्जित, सुललित पदावली में अष्टांगसंग्रह में मिलती है। मद्यपान का ऐसा समृद्ध वर्णन गुप्तकाल का ही हो सकता है। भारतवर्ष के

१. अष्टांगसंग्रह सू० अ० २०।२१।

२. चरक संहिता का श्री यादव जी द्वारा सम्पादित संस्करण—पृ० ११।

३. तत्रभूमि पतितानां अणूनांधान्यादि बीजानां शोधन्यासंहरणमुञ्छः प्रविरलस्य तु कणिशादिरूपतथापतितस्य चयनं शिलः—चक्रपाणि।

इतिहास में गुप्तकाल ही (तीसरी-चौथी से लेकर पांचवी-छठी शती तक का) स्वर्णयुग के नाम से कहा जाता है। इसी समय साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ बने, विद्वानों की बाढ़ इस समय आई थी, दूसरे देशों का धन अनवरत रूप में देश में बढ़ रहा था। इसी समय के इस विलासमय जीवन की झलक दृढ़बल के मद्यपान वर्णन में मिलती है।

दृढ़बल ने कृष्ण, वासुदेव का नाम, वृषकपि की पूजा का उल्लेख किया है। वृषकपि का अर्थ इन्द्र है।[१] इससे स्पष्ट है कि दृढ़बल के समय कृष्ण, वासुदेव, इन्द्र की पूजा चल पड़ी थी। उदर रोग में नारायण चूर्ण की प्रशस्ति में 'विष्णुमिवासुराः' इस उपमा को देखते हुए यह गुप्तकाल का ही प्रतीत होता है।[२]

सम्भवतः-इस समय प्रथम भाग में जोड़ किया गया होगा—जिससे ज्वर-चिकित्सा (अ० ३) में हिमाचल, गंगा, विष्णु सहस्रनाम, पार्वती सहित शिव, मरुद्गणों की पूजा का उल्लेख मिलता है। यह पूजा ऐतिहासिकों की दृष्टि से गुप्तकाल की ही मानी जाती है।

दृढ़बल का समय गुप्तकाल का प्रारम्भ एवं अष्टांगसंग्रह के कर्ता वाग्भट से पूर्व का है, इसमें तीसरी-चौथी शती का होना अधिक सम्भावित है।

दृढ़बल से सम्पूर्ण किये भाग में **'पाषण्डायतन'**, **'सुरालय'** ये शब्द आते हैं (चि० अ० २३।१५९, १६०)। चक्रपाणि ने पाषाण्ड का अर्थ कापालिक आदि किया है। कापालिकों के रहने के स्थान में साँप से काटा व्यक्ति स्वस्थ नहीं होता। सुरालय – देवमन्दिर का उल्लेख भी इसी स्थान में है। कापालिकों का उल्लेख संस्कृत साहित्य में बहुत आता है। भवभूति ने मालती माधव में, श्रीकृष्ण मित्र ने प्रबोधचन्द्रोदय में, कापालिकों का विशेष उल्लेख किया है। बाण ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया है। दृढ़बल के समय भी इनकी स्थिति

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने बताया है कि तमिल भाषा में अन्नामण्डी एक शब्द है, जिसमें अन्ना का अर्थ मनुष्य और मण्डी का अर्थ बन्दर है, इसी से 'मंकीगौड़' एक देवता माना जाता है। ऋग्वेद में (९०।९६) वृषाकपि शब्द अया है—जिसका अर्थ सूर्य है।

२. चरक संहिता चि० अ १३।२७।

थी; यह इससे स्पष्ट है, इससे भी दृढ़बल का समय तीसरी-चौथी शती सिद्ध होता है।

सुरालय में किसकी प्रतिमा होती थी—इसका कुछ भी आभास चरक-संहिता से नही होता। पृथक् रूप में कृष्ण, वासुदेव, शिव-पार्वती की पूजा का उल्लेख आता है, परन्तु प्रतिमा या इसको स्पष्ट करने वाला कोई शब्द चरक में नहीं है। सुरालय के साथ यज्ञाश्रम-यज्ञशाला का भी उल्लेख है। जैसा कि आज भी मन्दिरों के बाहर यज्ञाश्रम-यज्ञ का स्थान बना होता है।

इनकी अपनी-अपनी देन—उपलब्ध चरक संहिता की छपी पुस्तक पर इस संहिता का नाम इस प्रकार से प्रकाशित है—

"महर्षिणापुनर्वसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता, चरक दृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता 'चरक संहिता' "

इससे स्पष्ट है कि चरक संहिता महर्षि पुनर्वसु से उपदेश की गई, इनके शिष्य अग्निवेश ने इसको बनाया, चरक और दृढ़बल ने इसका प्रतिसंस्कार किया। इनमें दृढ़बल ने अपना कार्य स्पष्ट कर दिया, उसके असुसार चिकित्सा स्थान के सत्रह अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धि स्थान को अन्य तन्त्रों की सहायता से उसने पूरा किया।[१]

दृढ़बल ने प्रतिसंस्कर्ता चरक का भी कार्य स्पष्ट कर दिया, चरक ने इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया, प्रतिसंस्कर्ता संक्षेप में कही वस्तु को विस्तार से कहता है, और विस्तार से कही वस्तु को संक्षेप में कहता है, प्रतिसंस्कर्ता पुराने तन्त्र को फिर से नया कर देता है।[२] प्रतिसंस्कर्ता द्वारा इस संहिता को नया रूप दिये जाने से ही यह संहिता कर्ता अग्निवेश के नाम से प्रसिद्ध न होकर प्रतिसंस्कर्ता के नाम से प्रचलित हुई। आयुर्वेद की दूसरी किसी संहिता का इस प्रकार का प्रतिसंस्कार नहीं हुआ, इसी से वे कर्ता के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। यथा भेल संहिता—[भेल कर्ता] के नाम से ही प्रसिद्ध है।

चरक-संहिता में प्रासंगिक प्रकरण—भेल संहिता के देखने से एक बात स्पष्ट है, कि इसमें प्रासंगिक प्रकरणों का प्रायः अभाव है। सीधा ही अध्याय का

१. चरक० सि० अ० १२।४०।
२. चरक० सि० अ० १२।३६।

प्रारम्भ हो गया है, चरक संहिता में भी कुछ अध्याय इसी प्रकार से प्रारम्भ हुए हैं, जिनमें कोई भी वचन प्रस्तावना रूप में नहीं है, उदाहरण के लिये सूत्रस्थान के २,३,४,५,६,७ वां अध्याय देखे जा सकते हैं, जिनमें कुछ भी पृष्ठभूमि नहीं है। यही कारण है कि इन अध्यायों का नामकरण, संदर्भ या श्लोक के प्रथम चरण के नाम पर हुआ है। भेल संहिता में प्रायः यही रूप मिलता है।

कुछ अध्यायों के प्रारम्भ में पृष्ठभूमि या कथा के रूप में सन्दर्भ मिलता है, इसके पीछे विषय का अवतरण होता है, उदाहरण के लिये सूत्रस्थान का प्रथम, बारहवां अध्याय, पचीसवॉ अध्याय और चिकित्सा-स्थान का उन्नीसवां अध्याय आदि हैं। इनमें एक प्रसंग देकर विषय का प्रारम्भ किया है। भेल संहिता में इस प्रकार के प्रसंग देकर विषय का प्रारम्भ प्रायः नहीं मिलता, उसमें सीधा विषय का व्याख्यान प्रारम्भ हो गया है।

ऐसा कथा प्रसंग 'नावनीतकम्' में भी मिलता है, इसमें लशुन का वर्णन करने से पूर्व हिमालय का सुन्दर वर्णन किया है, और फिर चरक संहिता की भाँति हिमालय के पार्श्व में ऋषियों का जमघट बताया है। जिस प्रकार से चरक संहिता में रोगों की शान्ति के उपाय जानने की जिज्ञासा बताई है, उसी प्रकार से नावनीतकम् में लशुन के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त की गई है।

जिस प्रकार से चरक संहिता में दी हुई ऋषि नामावली में कोई एक कालीन-रूपता नहीं मिलती, उसी प्रकार से नावनीतक में दी गई ऋषि सूची में एक कालीन समानता नहीं, उसमें आत्रेय, हारीत, पराशर, भेल, गार्ग्य, सुश्रुत, वशिष्ठ, कराल, काप्य, सब एक साथ पढ़े हैं। इसमें अग्निवेश का नाम नहीं है।[१]

चरक संहिता की इस सूची में भी आत्रेय, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित (गीता में असित का नाम आता है—अ० १०), अगस्त्य, विश्वामित्र, देवल, गालव, वैजवापि, मैमतायिनी आदि सब का एक साथ में उल्लेख है, जब कि इनका समय पृथक्-पृथक् है। मैमतायिनी का उल्लेख पाणिनि सूत्र (४।१।१५०) में भी मिलता है। वैजवापि का उल्लेख महाभाष्य में है। इन ऋषियों को एक

---

१. 'देवर्षिसिद्धगणकिन्नर नागयक्षविद्याधराध्युषित सानुचरनन्तरन्तः' से आरम्भ करके—'आत्रेय हारीत पराशरभेलगार्ग्य शाम्बव्सुश्रुतवशिष्ठकरालकाप्याः। सर्वौषधीरसगुणाकृति-वीर्यनाम जिज्ञासवः समुदिताः शतशः प्रचेरुः' (ना० १ पा० १)।

साथ बैठा देखने से शंका होती है कि यह कथा केवल प्रकरण के उठाने के लिये ही दी गई है, प्रासंगिक पृष्ठभूमि के रूप में है, जिस प्रकार कि बाण ने अपनी कादम्बरी की कथा का प्रारम्भ करने के लिये शुद्रक का प्रसंग लिखा है।

इसी प्रकार की पृष्ठभूमि चरक संहिता में कई स्थानों पर मिलती है, यथा-- सूत्र० अ० २५ में, विमान अ० ३ में, सि० अ० १ में, चि० अ० २१ में, चि० अ० १९ में। इसमें कहीं पर चैत्ररथवन, कहीं पर काम्पिल्य, कहीं पर हिमालय. कहीं पर कैलास और कहीं पर हवन करने की पृष्ठभूमि देकर प्रसंग प्रारम्भ किया है। ये सब रचनायें या पृष्ठभूमि प्रतिसंस्कर्ता की ही हैं, अग्निवेश की नहीं। खण्डित भेल संहिता के साथ चरक की तुलना करने पर प्रतिसंस्कार तथा अप्रतिसंस्कार का भेद स्पष्ट दीखता है। भेल संहिता का प्रतिसंस्कार नहीं हुआ, चरक का प्रतिसंस्कार हुआ है।

भेल संहिता और चरक संहिता में बहुत से शब्द, पंक्ति, वाक्य समान हैं,[१] उदाहरण के लिये—

भेल संहिता	चरक संहिता
१—घनीभूतमिवाकाशं पश्यत (आकाश) मिवभेदनी (म्)	घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव-भेदनीम्
२—यस्यदर्शनमायाति मारुतोऽम्बर गोचरः	यस्य दर्शनमायाति मारुतोऽम्बर गोचरः
३—अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधि पूर्वकम्	अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा पूर्वकम्

इसके सिवाय कुछ बातें भेल संहिता में स्पष्ट हैं—यथा, वातकलाकलीय

१. भेल संहिता में—हृदयप्रभवाश्चाप्य स्रोतोभिर्विवृतैर्दिवा। न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा-तेनास्यधातवः॥ अजीर्णे प्रातराशे तु सुप्तस्यापि दिवा तथा। अनेन विधिना भूतं सायमाशो न दूष्यति॥ पृ० २०२।
चरक में—'दिवाप्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत्' से प्रारम्भ करके—नक्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः॥ चि० अ० १५।२३९।

(सू० अ० १२) में चरक में सृष्टिश्च मेघानाम्, अपांविसर्गः प्रवर्त्तनं स्रोतसां—यह वचन है, भेल संहिता में स्पष्ट किया है—

वातेनधूमोभवति धूमादभ्रं प्रजायते,
अभ्राद् विमुच्यते वारि, बीजानां सम्भवस्ततः
उल्कानिवातः स्तनितं विध्यतारागणस्य च ।
विद्युतां च बलं चैव वातादेव प्रवर्त्तते ॥
अग्निर्ज्वलयति वातेन पूर्णानां हविषांपतिः
स्रवन्ति चापगास्तेन पृथिवीं प्रापयन्ति च ॥ (भेल० पृ० २७)

चरक में "बीजाभिसंस्कारः, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदांनाम्" कहा है।

भेल संहिता के साथ उपलब्ध चरक संहिता की तुलना करने से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) चरक में जिस प्रकार से अग्निवेश या पुनर्वसु अथवा आत्रेय का नाम अध्याय के बीच में आता है, उस प्रकार से भेल संहिता में भेल या आत्रेय का नाम अध्याय के बीच में नहीं आता।

(२) चरक की भाँति भेल का प्रकरण विभाग नहीं है, यद्यपि स्थानों की संख्या उसी प्रकार है, फिर भी उनमें अन्तर है, यथा—

'अन्नपानरक्षीय', जनपद विभक्तिय अध्याय सूत्रस्थान में आते हैं। अन्नपानरक्षीय अध्याय में माला आदि पर विष के लक्षण, रोमकूप पर विषैले योगों के लक्षण और उपचार कहे हैं। इसी प्रकार से जनपद विभक्तीय अध्याय में भिन्न-भिन्न देशों का खानपान लिखा है। चरक में ये दोनों विषय चिकित्सा स्थान के विष चिकित्सा में तथा योनिव्यापत् चिकित्सा में अन्त में मिलते हैं।

(३) इसी प्रकार से शरद् ऋतु में होने वाले ज्वर को भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों में किस नाम से कहते हैं, इसका उल्लेख भेल संहिता (पृ० २३) में है, चरक में यह विषय नहीं है।

(४) भेल संहिता में अध्याय के अन्त में उपसंहार रूप में कहीं भी श्लोक नहीं दिये गये, चरक संहिता में प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'भवति चात्र', 'तत्र श्लोकाः', आदि रूप में श्लोक मिलते हैं।

इससे इतना अनुमान होता है कि जहाँ पर पृष्ठभूमि या उपसंहार है, वह प्रतिसंस्कर्ता का अपना कार्य है। शेष रचना मूल में अग्निवेश की रही होगी, उसको प्रतिसंस्कर्ता चरक और दृढ़बल ने नये रूप में उपस्थित किया। इसमें मूल भाग को बहुत सुरक्षित रखा है, इसी से कुछ वचन भेल से मिलते हैं। दृढ़बल के समय अग्निवेश तंत्र का जो भाग नहीं मिला, उसको उसने दूसरे स्थानों से उञ्छ और शिल वृत्ति से एकत्रित किया। इसमें उत्तरतंत्र सम्भवतः उसको नहीं मिला, इसलिये उसने यह वचन तो दे दिया (तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः–सि० अ० १२।५०), परन्तु उत्तरतंत्र पूरा नहीं किया। आयुर्वेद की अन्य संहिताओं में (सुश्रुत वाग्भट, काश्यप संहिता में) उत्तरतंत्र, या खिल स्थान मिलता है। चरक में केवल नाम निर्देश है।

वाद मर्यादा, ज्वर की चिकित्सा में शिव, विष्णु, गंगा, हिमालय की पूजा—ये सब पीछे की वस्तुएँ हैं। जो कि प्रतिसंस्कर्ता की अपनी देन है।

आयुर्वेद ग्रंथों का रचना वैशिष्ट्य—आयुर्वेद की सब संहिताओं में मुख्यतः एक सौ बीस ही अध्याय होते हैं।[1] इन अध्यायों से अतिरिक्त विषय को परिशिष्ट रूप से उत्तरतंत्र या खिल स्थान में कहते हैं।[2]

---

१. एक सौ बीस अध्याय की कल्पना ज्योतिष में प्रचलित विंशोत्तरी दशा से मेल खाती है, ज्योतिष में इसी से विंशोत्तरी दशा निकालते हैं।

समाः षष्टिः द्विघ्नामनुजकरिणां पञ्च च निशा;
हयानां द्वात्रिंशत् खरकरभयोः पञ्चकक्कृतिः।
विरूपा सत्यायुर्वृष महिषयो र्द्वादश, शुनः
स्मृतं छागादीनां दशक सहितः षट् च पर मम् ॥शा. ध.-दीपक टीका १।२०

इसी से कहा है—

बाल्यं वृद्धिश्छविं मेधा त्वग्दृष्टिः शुक्र विक्रमौ।
बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चे तो जीवितं दशतो ह्रसेत् ॥ शा० ध० १।२०

ये बारह गुण प्रति दस वर्ष में एक-एक करके नष्ट होते जाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि मनुष्य की आयु १२० वर्ष की मानी है।

२. सुश्रुत० उत्तर तंत्र अ० १।३–५।

स्थान	चरक	भेल	काश्यप	सुश्रुत	अष्टांगहृदय
सूत्रस्थान	३० अध्याय	३०	३०	४६	३०
निदानस्थान	८	८	८	१६	१६
विमानस्थान	८	८	८	–	–
शरीरस्थान	८	८	८	१०	६
इन्द्रियस्थान	१२	१२	१२	–	–
चिकित्सास्थान	३०	३०	३०	४०	२२
सिद्धिस्थान	१२	९ (१२)	१२	–	–
कल्पस्थान	१२	८ (१२)	१२	८	६
खिल भाग-उत्तर स्थान	–	–	८०	६६	४०
	१२०	१२०	१२०+८०	१२०+६६	१२०

चरक और भेल संहिता में अध्याय का नाम दो प्रकार से रखा है—

१—विषय के अनुसार

२—अध्याय के प्रथम शब्द के अनुसार।

चरक में अध्याय का प्रारम्भ	भेल में अध्याय का प्रारम्भ	अध्याय का नाम
नवेगान्धारयेद्धीरः	नवेगान्धारयेद्धीमान्	नवेगान्धारणीयः
मात्राशीस्यादाहारमात्रा	मात्राशीस्याद् विपकाशी	मात्राशितीयः
आत्रेय भद्रकाप्यश्च	आत्रेय खण्ड काप्यश्च	आत्रैयभद्रकाप्यीयः
यस्यश्यावे परिध्वस्ते	यस्यश्यावे उभेनेत्रे	यस्यश्यावनिमित्तीयः
अवाक्शिरा वा जिह्माया	अवाक्शिरा वा जिह्वा वा	अवाक्शिरसीयः
शरीरविचयः शरीरोपकारार्थम्	इह खल्वोजस्तेजः	शरीरविचयः
शरीरसंख्यामवयवशः	इहखलुशरीरेषट्त्वचः	शरीरसंख्या
पुर्वरूपाण्यसाध्यानां	अन्तर्लोहितकायान्तु	पूर्वरूपीयम्
यस्यगोमय चूर्णाभं	चूर्णशिरसि यस्यैव	गोमयचूर्णीयम

ऊपर के पाँच अध्याय क्रमों का प्रारम्भ भेल और चरकसंहिता में एक समान है, दोनों ने अध्यायों का नामकरण भी एक ही प्रकार से किया है। यद्यपि प्रथम पंक्ति में कुछ भेद है, परन्तु अध्याय के शीर्षक एक ही समान हैं।

इसके सिवाय दोनों में बहुत से विचार तथा वर्णन एक समान हैं, यथा—

(१) त्रिस्रैणीयः, (२) गुरुव्याधित, (३) सद्योमरणः, (४) अतुल्यगोत्र, (५) आहारमात्रा (गुरुलाघव), (६) चतुष्पाद, (७) दशधमनी और हृदय, (८) गर्भोत्पत्ति और कारण, (९) शोष की सम्प्राप्ति, (१०) शोष में मांसाहार (उपधा पद्धति), (११) उन्माद में भय-त्रास चिकित्सा।

भेल संहिता में—निदानस्थान में कास निदान दिया है (रक्तपित्त नहीं); विमानस्थान में ऋतु विमान मिलता है, यह चरक में सूत्रस्थान में है।

चरक ने अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार किया, उसने कहीं भी अपने को कर्त्ता नहीं कहा। दृढबल ने भी इस संहिता का सम्बन्ध अग्निवेश से ही बताया है, उसका कहना है कि स्वस्थ और रोगी के उद्देश्य से अग्निवेश ने बारह सहस्र श्लोकों में इस संहिता को कहा था।[१] चरक ने इसका प्रतिसंस्कार आमूलचूड नहीं किया, जैसा कि इन्दु के वचन से स्पष्ट है। अष्टांग संग्रह के टीकाकार इन्दु ने अपनी टीका शशिलेखा में लिखा है कि चरक ने आधी ही चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया था; इसी बीच में उसकी मृत्यु हो गई; शेष भाग को दृढ़बल ने पूरा किया था।[२] इन्दु और दृढ़बल के समय में लगभग दो सौ वर्ष का अन्तर है। इन्दु का समय पाँचवी छठीं शती के लगभग है और दृढ़बल का समय तीसरी-चौथी शती माना जाता है। इन्दु का कथन इसलिये ठीक जँचता है कि यदि चरक ने सम्पूर्ण संहिता का परिष्कार किया होता तो वह भी प्रारम्भ भाग के समान मिलता। क्योंकि चरक का पठन-पाठन बराबर बना रहा। अथवा भेल और काश्यप संहिता के समान सम्पूर्णरूप में त्रुटित मिलती; परन्तु बात ऐसी नहीं है। पिछला सम्पूर्ण भाग ही नहीं मिलता, इसी से अनुमान होता है कि चरक ने आधी ही संहिता का प्रतिसंस्कार किया था। साथ ही

---

१. चरक० सि० अ० १२।५२

२. स्नेहपाक विधिस्तूक्त एवं दृढ़बलेन तु। चरकोऽर्धकृते शास्त्रे ब्रह्मभूय गतो यतः॥
—अष्टांग-संग्रह, कल्प ८। इन्दु टीका २५वाँ श्लोक।

दूसरी महत्व की बात यह स्पष्ट होती है कि प्रतिसंस्कार करने वाले व्यक्ति का नाम चरक था। किसी शाखा या चरण के अन्दर इस का प्रतिसंस्कार नहीं हुआ है। कुछ लोगों की मान्यता है कि चरक ने घूम-घूमकर इस संहिता का प्रचार किया है, इसलिये यह संहिता चरक-संहिता कहलाई है, यह पक्ष अधिक हृदयग्राही नहीं है।[१]

चरक की देन—चरक ने इस तन्त्र के आधे भाग का प्रतिसंस्कार किया था। इसमें उसने कुछ विस्तार किया और कुछ संक्षेप किया, इससे उसने इसको एक नया रूप दे दिया। इसमें कुछ नई वस्तुएँ भी चरक ने दी हैं, यथा—

(१) **वादन्याय**—यह मीमांसा चरककालीन है, जब कि बौद्धों और ब्राह्मणों का परस्पर शास्त्रार्थ चलता था। न्याय दर्शन में जो वादमर्यादा मिलती है, उसका आधार चरक की वादमर्यादा ही है। चरक में यह विचार बहुत विस्तार से है (देखिये इसी में—दार्शनिक विचार)।

(२) भेल ने स्वेद अध्याय में केवल आठ ही स्वेद दिये हैं, चरक संहिता में पाँच और मिलाकर इनकी संख्या तेरह कर दी है। काश्यप संहिता में भी आठ ही स्वेद हैं। पालकाप्य ने अपने हस्त्यायुर्वेद में अग्निवेश विधि स्वेद के लिये बताई है, इसमें शेष पाँच स्वेदों का उल्लेख है। इसलिये चरक संहिता में वर्णित अधिक स्वेद चरक की देन है।

(३) विनयपिटक में भी चरक के लिखे स्वेदों का उल्लेख है—वहाँ भी **सम्भारस्वेद** (पसीना लाने वाले पत्तों के बीच में लेटना); **महास्वेद** (पोरसा भर गड्ढा खोद कर उसे अंगारे से गरम करके, मिट्टी बालु से मूंदकर, इसपर वातनाशक पत्ते बिछाकर, शरीर पर तेल लगाकर लेटना); **भंगोदक स्वेद** (पत्तों के काढ़े से शरीर को सींचना); **उदककोष्ठ** (जिस कोष्ठ में गरम पानी से भरे बर्त्तन रखे हों, उसमें बैठकर पसीना लेना। चरक में इन स्वेदों का अन्य नाम से उल्लेख है, सम्भवतः ये स्वेद चरक की देन हों।[२] जेन्ताक स्वेद और

---

१. चरक संहिता—भाग १, पृ० १११, जामनगर से प्रकाशित।
अष्टांग संग्रह, कल्प ८। इन्दु टीका २५वाँ श्लोक।

२. विनयपिटक-भेषज्य स्कन्ध, पृ० २२०। भेल संहिता के स्वेद—संकर, प्रस्तर, नाड़ी, द्रोणि; जल, उदकोष्ठं, कुटी सेक हैं—पृ० ३५-३७।

जन्ताघर इन दोनों का वर्णन चरक और विनयपिटक में मिलता है। यह चरक की अपनी देन है (देखिये इसी में—गृह निर्माण)।

(४) भेल संहिता में 'खुड्डिका गर्भावक्रान्ति' नाम का अध्याय है। चरक में भी इस नाम का अध्याय है, परन्तु इससे अगला ही अध्याय महागर्भावक्रान्ति नाम का है। इसमें प्रथम अध्याय के विषय को ही अधिक स्पष्ट रूप में कहा है।

चरक यद्यपि प्रतिसंस्कर्ता है, पर तो भी उसने इसमें बहुत कुछ अपनी ओर से दिया है, इसी से यह संहिता अग्निवेश के नाम से प्रसिद्ध न होकर चरक के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1] अग्विवेश संहिता, जो कि अग्निवेश के नाम से प्रसिद्ध है, वह इस चरक संहिता से भिन्न है, क्योंकि अग्निवेश संहिता के वचन उपलब्ध चरक संहिता में नहीं मिलते, यथा—चक्रपाणि ने ज्वर-चिकित्सा में (१७९-१८७) व्याख्या करते हुए अग्निवेश संहिता का वचन दिया है, परन्तु वह वचन चरक में नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अग्निवेश संहिता चक्रपाणि दत्त के समय उपलब्ध चरक संहिता से भिन्न थी।

दृढ़बल की देन—दृढ़बल ने अपने कार्य का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, चरक संहिता के चिकित्सास्थान में सत्रह अध्याय और कल्प तथा सिद्धि को उसने पूरा किया है। इसमें विवाद का प्रश्न चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय हैं। इस विवाद का कारण इन अध्यायों का क्रम भेद है। निर्णयसागर प्रेस (बम्बई) तथा कलकत्ता की प्रकाशित प्रतियों में क्रमभेद है। इनमें प्रारम्भ के आठ अध्याय और पिछले पाँच अध्याय दोनों में समान हैं, केवल नौ से लेकर पच्चीस तक के अध्यायों में क्रमभेद है, यथा—

---

१. चरक संहिता में '**अम्लपित्त**' रोग का नाम नहीं है; ग्रहणी चिकित्सा में केवल इतना आता है "दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपिवा। अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणी गदः॥ [चि० अ० १५।५१]। इसमें ऊर्ध्व—उपर को जाने वाले विदाही अन्न से उत्पन्न रोग का नाम नहीं दिया। काश्यप में इसे स्पष्ट किया है···विदग्धं शुक्त तां याति शुक्त मामाशये स्थितम्। तदम्लपित्तमित्याहुः भूयिष्टं पित्तदूषणात्। जन्तोर्यदनु वध्नाति लौल्यादनियतात्मनः॥ :अविशुद्धे यथाक्षीरं प्रक्षिप्तं दधि भाजने। क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्चीं भावं च गच्छति॥ रसधातौ तथा व्यम्ले भुक्तं भुक्तं विदह्यते।—काश्यप खिल १९।१९-१०।

निर्णयसागर प्रेस का संस्करण	कलकत्ता (देवेन्द्रनाथ उपेन्द्रनाथ से प्रकाशित)
अध्याय नाम	अध्याय नाम
९ उन्माद	९ अर्श
१० अपस्मार	१० अतिसार
११ क्षत	११ विसर्प
१२ शोथ	१२ मदात्यय
१३ उदर	१३ द्विव्रणीय
१४ अर्श	१४ उन्माद
१५ ग्रहणी	१५ अपस्मार
१६ पाण्डु	१६ क्षत
१७ श्वास	१७ शोथ
१८ कास	१८ उदर
१९ अतिसार	१९ ग्रहणी
२० छर्दि	२० पाण्डु
२१ विसर्प	२१ श्वास
२२ तृष्णा	२२ कास
२३ विष	२३ छर्दि
२४ मदात्यय	२४ तृष्णा
२५ द्विव्रणीय	२५ विष

इन सत्रह अध्यायों में व्यतिक्रम है। सूत्रस्थान में (अ० ३०।५६-६२) में जो अध्याय क्रम दिया है, वह निर्णयसागर के अनुसार है। सम्भवतः इस सूची क्रम के अनुसार ही प्रकाशन हुआ हो। इन अध्यायों के निर्णय करने में पिछले ही टीकाकारों के वचन सहायक हैं, यथा—

१—अष्टांग हृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने दृढ़बल का वचन उद्धृत किया है, तथा चरकसंहितायां दृढ़बलोप्याह (चि० अ० १५।१४)। इससे स्पष्ट है कि ग्रहणी रोग का सम्बन्ध दृढ़बल से है।

२—माधव निदान के टीकाकार विजयरक्षित ने पाण्डु, श्वास, तृष्णा और

विष के सम्बन्ध में दृढ़बल के वचन उद्धृत किये हैं, इससे स्पष्ट है कि ये अध्याय दृढ़बल से सम्बन्ध रखते हैं।

पाण्डु—रक्तमित्युपलक्षणं, तेन त्वक्मांसमपिइष्यत्वेन दृढ़बलेन पठितम् (मा० नि० ८।२)।

हिक्का-श्वास—यथाह दृढ़बलः—कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्गतौ।

तृष्णा—दृढ़बलेन तु पंचतृष्णा पठिता, वातपित्तक्षयामोपसर्गजा, इति।

विष—यदुक्तं दृढबलेन-लघुरुक्षमाशुविशदं ...

इन पाँच अध्यायों का दृढ़बल से सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर बारह अध्याय रहते हैं, इनमें से अर्श, अतिसार और विसर्प इन तीनों अध्यायों के उद्धरण नावनीतक में मिलते हैं। नावनीतक का समय गुप्तकाल है (४०० ईस्वी से ६०० ईस्वी पीछे)। दृढ़वल का समय गुप्तकाल का प्रारम्भ है (तीसरी शती का अन्त और चौथी शती का प्रारम्भ। नावनीतक दृढ़बल के पीछे का है, क्योंकि उसमें लशुन के सेवन पर विशेष बल दिया है, इस काल की दूसरी रचनाओं में भी (अष्टांग संग्रह, हृदय, काश्यप संहिता) लशुन सेवन पर बहुत जोर है। चरक संहिता में लशुन का उल्लेख है, परन्तु रसायन या वाजीकरण रूप में नहीं।[१]

मदात्यय और द्विव्रणीय अध्यायों का उल्लेख चरक के नाम से चरक के टीकाकार जज्जट ने अपनी निरन्तर पद-व्याख्या में किया है—

२४ वें अध्याय के लिये (मदात्यय के लिये—"चरकाचार्यसंस्कृतश्चाध्यायः"

२५ वें अध्याय के लिये (द्विव्रणीयके लिये) आचार्यप्रणीतश्चाध्यायः

इस प्रकार से प्रथम पाँच और इन दो अध्यायों के लिये स्पष्ट प्रमाण है, इनमें स्पष्ट है कि दृढ़बल ने कौन अध्याय पूर्ण किये।

विष चिकित्सा अध्याय (२३) में विष्णु, वासुदेव, कृष्ण, वृषाकपि का उल्लेख होने से एवं हिलिमिलि शब्दों की रचना से गुप्तकाल का या उससे पूर्व का बना

---

१. अष्टांग संग्रह की इन्दु टीका से भी स्पष्ट है कि अतिसार अध्याय का सम्बन्ध चरक से है, यथा—

आचार्य चरकेणैवमतिसारे तु भाषितम्।

पटोलाद्ये कषाये च क्वाथ्य द्रव्यपलंकृतम्॥ कल्प अ० ८, श्लोक ४०।

स्पष्ट है, जो कि दृढ़बल की देन है। हिलिमिलि शब्द नावनीतक और काश्यप संहिता में भी आता है, इससे यह अध्याय गुप्तकाल का स्पष्ट है।

चक्रपाणि की टीका चरक पर है, उसी टीका का क्रम निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित क्रम के अनुसार है, उसके समय में यही क्रम प्रकाशित होगा। इसी क्रम में पन्द्रहवें अध्याय में 'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे, प्राप्ते दृढ़बल संपूरिते' यह पुष्पिका मूल भाग के अन्त में मिलती है। परन्तु यह पुष्पिका पन्द्रहवें अध्याय से पहले अध्यायों के अन्त में भी मिलती है तथा पन्द्रह के पीछे सब अध्यायों में नहीं है।

अध्याय संख्या, जिसमें दृढ़बल से पूरित पुष्पिका है	**अध्याय क्रम, जिनमें दृढ़बल से पूरित पुष्पिका नहीं है**
१५, १६, १७, १८, २०, २२, २५ २६, २७, २८, २९, ३०, ९, १०, ११, १२, १३ = १७	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, १९, २२, २३, २४, १४ = १३

निर्णयसागर की छपी प्रतियों में क्रम सूत्रस्थान में दिये क्रम से हैं, कलकत्ते की छपी (मूल संहिता—जीवानन्द विद्यासागर का) संहिता में अध्याय-क्रम दृढ़-बल से पूरित भाग के अनुसार है। उस में ये अध्याय पीछे के हैं। दृढ़बल से सम्पूर्ण किये अध्यायों में केवल अध्याय क्रमभेद ही है। टीकाकार अरुणदत्त, विजय-रक्षित, जज्जट ने दृढ़बल के नाम से जो उद्धरण दिये हैं, वे इसी क्रम के अनुसार हैं। जज्जट का चरक के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग या चरकाचार्य कहना सम्मान सूचक है, उसने अपनी समस्त व्याख्या में कहीं भी दृढ़बल का नाम नहीं लिया। इसलिये निर्णयसागर से प्रकाशित जिन अध्यायों के अन्त में 'दृढ़बल संपूरिते' पुष्पिका है, उनमें स्वर्गीय श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य जी की मान्यता है कि चरक ने सम्पूर्ण संहिता का प्रतिसंस्कार किया था, दृढ़बल के समय जो अध्याय प्राप्त नहीं थे, उन अध्यायों को उसने अन्य तंत्रों की सहायता से पूर्ण किया था। परन्तु इन्दु के वचन से यह बात पुष्ट नहीं होती।

चरक संहिता और भेल संहिता—चरक संहिता का कर्ता अग्निवेश है, जैसा कि ग्रन्थ के मुख्य पृष्ठ पर लिखा गया है—

महर्षिणापुनर्वसुनोपदिष्टा तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता

चरकदृढ़बलाभ्यां प्रतिसंस्कृता 'चरकसंहिता'

श्रीचक्रपाणिदत्त विरचितया आयुर्वेददीपिका व्याख्या संवलिता चरक ने अपने को कहीं भी कर्त्ता या प्रतिसंस्कर्त्ता नहीं लिखा, चरक को प्रतिसंस्कर्त्ता दृढ़बल ने कहा है (सि० अ० १२।३७)।

कर्त्ता अग्निवेश ही है, अग्निवेश भेल का सहाध्यायी था। इन्होंने पुनर्वसु आत्रेय से आयुर्वेद सीखा था, और अपनी-अपनी संहितायें (तंत्र) बनाये थे (तन्त्र का अर्थ ही नियमित करना—ग्रन्थन करना है)। इन शिष्यों की बनाई संहिताओं का विशेष प्रचार हुआ। इनमें भी अग्निवेश के बनाये तंत्र का अधिक प्रचार हुआ, इसका कारण चरक ने अग्निवेश में बुद्धिवैशेष्य बताया है (बुद्धिर्विशेषस्तत्रासीत् नोपदेशान्तरं मुनेः—सू० अ० १।३२)।

अग्निवेश के बनाये तंत्र का प्रचार बहुत होने पर कालान्तर में उसके प्रतिसंस्करण की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह आवश्यकता समयानुसार परिवर्त्तन के कारण अथवा इसके लुप्त हो जाने या त्रुटित होने से हुई, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना ही स्पष्ट है कि चरक ने इसका प्रतिसंस्कार किया। प्रचार की अधिकता से ग्रन्थ का लुप्त हो जाना थोड़ा खटकता है, जिसका प्रचार होगा, वह चलता रहना चाहिये। स्थान और समय भेद से उसमें परिवर्त्तन या परिवर्द्धन होना सम्भव है, विशेषकर चिकित्सा में। चरक ने इन सबको देखकर एक सर्वमान्य रूप दिया होगा।

इसके पीछे फिर इस ग्रन्थ को दृढ़बल ने पूरा किया। दृढ़बल से पूर्ण किया भाग लगभग एक तिहाई है, इस भाग को उसने अन्य ग्रन्थों से सहायता लेकर पूर्ण किया। इसमें भी उत्तर-तन्त्र अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। उत्तर-तन्त्र था, यह आयुर्वेद ग्रन्थों के रचना क्रम तथा चरक के श्लोक से (सि० अ० १२।५०) स्पष्ट है।

भेल संहिता—जो आज उपलब्ध है (कलकत्ता युनिवर्सिटी से प्रकाशित), वह भी त्रुटित है, इसका संस्करण १९२१ में हुआ था। भेल संहिता का अधिक प्रचार नहीं था, यह बात अष्टांग हृदय के कर्ता वाग्भट के वचन से स्पष्ट है। कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रकाशन भी त्रुटित है, इससे स्पष्ट है कि इसका

प्रतिसंस्कार नहीं हुआ, प्रतिसंस्कार न होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इसका पटन-पाटन अधिक न रहा हो। जैसा वाग्भट एवं नैषध के श्लोक से स्पष्ट होता है।[१]

भेल संहिता में और चरक संहिता में कुछ बातें समान हैं, और कुछ बातें भेल संहिता में सर्वथा नयी हैं, उनका चरक में उल्लेख नहीं है, समानता के उदाहरण पहिले दिये गये हैं, यहाँ पर चरक से भिन्न नवीन बातों का उल्लेख किया जाता है, यथा—

१--ओज के विषय में—इह खलु ओजस्तेजः शरीरे नित्ये च भवतः। ते (त) योः स्थानानिद्वादश भवन्ति। तद्यथा वातशोणित मांस मेदोऽस्थिमज्जा शुक्लस्वेद पित्तश्लेष्ममूत्रपुरीषाणीति। तानिअव्यापन्नानि सुखमित्युच्यन्ते। व्यापन्नास्तु वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा विकारानुपजनयन्ति—(पृ० ८६) ओज के स्थान बारह बताये हैं। चरक में इस सम्बन्ध में कोई भी सूचना नहीं।

२—प्रसव में गर्भ का शिर प्रथम आने का कारण—तस्मात्तस्य शिरः प्रथमंपुनर्वसुरात्रेयः प्रतिपद्यते तदस्य गुरुतरं भवति—पृ० ८५। उपलब्ध चरक संहिता में पुनर्वसु का यह मत नहीं है, पुनर्वसु ने धन्वन्तरी के मत को ही स्वीकार किया है (सर्वाङ्गभिनिर्वृतिर्युगपदिति—धन्वन्तरिः—तदुपपन्नम्—शा० अ० ६।२१)।

३—शरीर का निर्माण—अथ खलु गर्भस्यषड्भ्य च स्थाने कायेभ्यः शरीरमभिनिर्वर्त्यते। तद्यथा—जलकायाद्, वायुकायात्, तेजः कायात्, पृथ्वी कायाद्, आकाशकायाद्, रसकायाच्चेति- पृ० ८७। इस प्रकार से अन्य बातों में भी नवीनता मिलती है। चरक संहिता में इस प्रकार का कोई निर्देश भी नहीं है। समानता तो बहुत स्थानों पर मिलती है। उदाहरण के लिये—

(१) खुडिडका गर्भावक्रान्ति शारीर अध्याय चरक संहिता के खुड्डिका गर्भावक्रान्ति (३ अध्याय) से मिलता है—पृ० ८९।

(२) प्रसव के समय सूतिकागार में रखे विल्व के पलंग, शूर्प, ऊखल-मूसल, आदि वस्तुएँ समान हैं।

(३) कई वचन तो पूर्णतः मिलते हैं, यथा—

---

१. अष्टांग हृदय उत्तर० अ० ४०।८८, एवं नैषध के 'कन्यान्तः पुर' श्लोक में चरक और सुश्रुत का ही नाम है।

	चरक	भेल पृ०
क—न रात्रौ दधि भुंजीत नाप्यघृतंनाप्यमाक्षिकम्	सू० अ० ७।६१	९
ख—इन्द्रो मे बलमादद्यात् शिवं चापोदिशन्तुनः	सू० अ० ८।२८	११
ग—मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकाराहते यथा । नावहन्ति गुणान् वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥	सू० अ० ९।१३	१७

सांस्कृतिक दृष्टि से नूतनता—भेल संहिता का सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्व है, इसमें कुछ बाते नयी हैं, यथा—

(१) आत्रेय का गान्धार देश में वहाँ के राजा नग्नजित् से मिलना और नग्नजित् का प्रश्न करना है (पृ० ३०)। चरक सहिता में आत्रेय का गान्धार भूमि में जाने का उल्लेख नहीं है। न वहाँ राजर्षि नग्नजित् का उल्लेख है। अष्टांगसंग्रह में नग्नजित् का नाम विष प्रकरण में आता है (उत्तर तंत्र,अ० ४०), भेल संहिता में भी नग्नजित् ने विष के सम्बन्ध में ही प्रश्न किया है। गिलगित मैन्युस्क्रीप्ट भा० १ की भूमिका पृ० ६६ में लिखा है कि—"प्राचीन ग्रन्थों में काश्मीर को गन्धार का ही एक भाग कहा गया है। बौद्ध-ग्रन्थों में दी हुई सोलह जनपदों की सूची में काश्मीर-गान्धार को एक जनपद गिना है। इससे स्पष्ट होता है कि अशोक से पूर्व यह राज्य की एक ही इकाई थे। ग्रीक लेखों से भी यही प्रमाणित होता है—इनमें KASPAPYROS [=KAS'-YAPAPURA-काश्मीर] काश्मीर को गान्धार का एक शहर कहा है। प्रथम शती में बने मिलिन्द पन्ह में काश्मीर और गान्धार दो देश मिलते हैं। तीसरी-चौथी ईस्वी पश्चात् में किये गये बौद्ध-ग्रन्थों के चीनी अनुवाद में काश्मीर के लिये Kipin शब्द आया है। Kipin में कपिशा, नगर और गान्धार इन तीनों का काश्मीर के अन्दर समावेश होता है। महावंश के प्रथम अध्याय में इन देशों को काश्मीर और गान्धार करके लिखा है। युवान च्वाङ् ने काश्मीर को गान्धार से पृथक् किया है। युवान च्वाङ् का कहना है कि काश्मीर घाटी पर्वतों से घिरी है। इसको गिने चुने दरों से ही पार किया जा सकता है। इसमें तीन दरें मुख्य हैं—इनके दिये चाईनीज़ नामों के प्रचलित नाम तिब्बत, बलतिस्तान और गान्धार हैं। बलतिस्तान को ही सम्भवतः वर्त्तमान गिलगित माना जाता है। इस रास्ते में दो स्तूप होने का उल्लेख

भारत सरकार की सेन्सर रिपोर्ट १९३१ (पृष्ठ ३२१-भाग १] में भी है। परन्तु चरक संहिता में न काश्मीर शब्द है और न गान्धार शब्द ही है।

(२) भेल संहिता में श्वान् (कुत्ते के मांस) के मांस का उल्लेख है, यथा—'श्वानं वराहं चैकत्र पयसा परिवर्जयेत्' (पृ० २१)। कुत्ते के मांस का उल्लेख आयुर्वेद के किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र में यही लिखा है कि कुत्ते के मांस के गुण आयुर्वेद में लिखे हैं[1], परन्तु इसके मांस के गुण वैद्यक में नहीं मिलते। भेल संहिता से पता चलता है कि उस समय इसका भी उपयोग होता होगा।

(३) स्वेद की संख्या भेल संहिता में आठ है (पृ० ३२-स्वेदाध्याय)। जेन्ताक स्वेद का उल्लेख नहीं है। काश्यप संहिता (सूत्र अ० २५।२६) में भी आठ स्वेद बताये हैं; इसमें भी जेन्ताक का नाम नहीं। चरक संहितासम्मत केवल पाँच स्वेद इसमें हैं, तीन नये हैं।

(४) भेल संहिता में सुश्रोता नाम आता है, इसने चान्द्रभाग (आत्रेय) से पूछा है। चरक में सुश्रोता का नाम नहीं है—'सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच'—पृ० ३९।

(५) गुल्म का स्पष्टीकरण भेल संहिता में बहुत उत्तम रूप से किया है—

'स संघातः स्थिरीभूतो गुल्मत्वमुपपद्यते।
दुष्टानां हन्तुकामानां परप्राणभृतां यथा॥
हस्त्यश्व रथ यानानां संङ्घातोगुल्मे इष्यते।
एवं देहरसादीनां धातूनां विप्रकर्षणात्।
संसर्गो गुल्म इत्युक्तं संघातो गुल्म उच्यते॥ पृ० १३५॥

भेल संहिता का संस्करण हमको मूल रूप में मिलता है, इसका प्रतिसंस्कार नहीं हुआ। इसी से इसमें पृष्ठभूमि या पूर्वप्रसंग बहुत कम है, सन्दर्भ सीधा ही प्रारम्भ हो जाता है। कुछ बातें समान हैं, रचनाक्रम (स्थान विभाग) एक समान है। कहीं-कहीं पर विषय में नवीनता है।

---

१. (क) पुरुषायित प्रकरण—कामसूत्र, ३८।
(ख) संस्कृत भाषा में '**श्वपच**' शब्द इसका द्योतक है कि कुत्ते का मांस पकाकर खाया जाता था; जो इसको खाते थे, वे श्वपच थे।

चरक संहिता और काश्यप संहिता—इन दोनों संहिताओं में स्थान-विभाग एक ही क्रम से हुआ दीखता है। त्रुटित काश्यप संहिता में निदान-स्थान नहीं मिलता; परन्तु शारीर-स्थान के जो अध्याय मिलते हैं; उनके नाम चरक के नामों से मिलते हैं। परन्तु इनमें कई अध्यायों में भेद है। यही बात चिकित्सा स्थान के अध्यायों में भी है। सिद्धि और कल्प-स्थान में व्यत्यास मिलता है। चरक में उत्तर तंत्र नहीं है; यद्यपि उसका नामकीर्त्तन आता है। काश्यप में उसके स्थान में खिलस्थान है। इसका सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इसमें आये भूगोल के नाम, खान पान आदि अपना विशेष महत्त्व रखते हैं; क्योंकि आयुर्वेद की दूसरी संहिताओं में यह विषय नहीं है।

इसके साथ ही काश्यप संहिता की भाषा में भी चरक संहिता से बहुत भिन्नता मिलती है। इसमें आये उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी शब्द; शरीरक्रम-रचना, जातहारिणी, वर्ग उत्पत्ति आदि बहुत भिन्न एवं महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

इसके साथ ही चरक संहिता और काश्यप संहिता में बहुत समानता है; इसके लिये—उदाहरण के रूप में—

चरक संहिता में ओषधियों के नाम, रूप और योग के जानने की जो सूचना है[2], वही सूचना काश्यप संहिता में भेषजोपक्रमणीय अध्याय [खिल स्थानः अ० ३।१०४-१११] में सम्पूर्ण रूप में मिलती है।

चरक संहिता विमान में [अ० ३।४४] ज्वर रोगी को गरम पानी देने के जो लाभ बताये हैं; ये ही लाभ काश्यप संहिता में ज्वर में गरम पानी देने के भी कहे हैं [खिल अ० १०।१४-१५]। चरक संहिता के निम्न श्लोक से मिलती-जुलती पदावली भी मिलती है—

वर्णप्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्।
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥ चरक० सू० अ० २७।
तुष्टिः पुष्टिर्धृति बुद्ध्युत्साहः पौरुषं बलम्।
सौस्वर्यमोजस्तेजश्च जीवितं प्रतिभा प्रभा॥ खिल० अ० ४।११।

---

१. काश्यप-संहिता-शारीर; रेवती कल्प देखिये।
२. चरक सूत्र अ० १ सू० १२१-१२७

चरक में वर्णित आहार विधि-विधान [वि० अ० ३।२८] काश्यप संहिता में भोज्योपक्रमणीय [खिल ५।१५–३७] में आता है।

इसके साथ ही भिन्नता भी है, चरक संहिता में तीन ही दोष माने हैं; [वात-पित्त श्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषा० वि० अ० ६।५;] इसी से प्रकृति भी इन्हीं दोषों से सम्बन्धित मानी है। परन्तु काश्यप में रक्त को भी माना है—

यथाऽनिलः पित्तकफासृजश्च, नित्याः शरीरे निहिता नराणाम् ।
तथैव बालेष्वपि सर्वमेतत् द्वयोस्तु रूपं तु तदल्पमल्पम् ॥ खिल० ३।११७

चरक में अम्ल-पित्त रोग का नाम है परन्तु चिकित्सा नहीं, काश्यप में अम्ल-पित्त रोग है [खिल० १५]। चरक में [चिकि० अ० १५] इतना ही लिखा है कि "जनयत्यम्लपित्तं च।" काश्यप में वह विस्तार से दिया है।

काश्यप में सूतिका स्त्री की परिचर्या कुलसात्म्य, देशसात्म्य से करने का उल्लेख है [खिल० अ० ११।३५-३६]। इस प्रकार से दोनों बातें, समानता और विषमता, मिलती है। काश्यप संहिता का समय चौथी शती ईसा के पीछे का लगभग है।

पंचजन—काश्यप संहिता में शूद्र और शूद्रा का नाम स्पष्ट आता है; सुश्रुत में शूद्र का नाम है। चरक में चार वर्णों का उल्लेख नहीं है [शूद्र का नाम एक ही स्थान पर है—शा० अ० ८।९]। 'अन्त्यावसायनीम्' शब्द आता है; इसका अर्थ सामान्यतः गाँव के अन्तिम छोर पर रहने वाले चाण्डाल, भंगी आदि है।

काश्यप में पञ्चजन शब्द आता है।[1] इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज ये पाँच अपेक्षित दीखते हैं। काश्यप में शूद्र को आयुर्वेद पढ़ने का स्पष्ट उल्लेख है [विमान० अ० १.]। सुश्रुत में मन्त्र भाग को छोड़कर आयुर्वेद शूद्र को पढ़ाने का उल्लेख एकीय मत के रूप में दिया है। चरक में स्पष्टरूप से स्वीकृति या अस्वीकृति नहीं मिलती। परन्तु काश्यप की भाँति सब को पढ़ना चाहिये; ऐसा लिखा है [वृत्यर्थं वैश्यैः, शुश्रूषार्थमितरैः, धर्मार्थं च सर्वैः [विमान. अ. १]।

---

१. अथ पंचजनात् कश्चित्, सम्यक् शुद्धं प्रकांक्षितम् ॥
(ख) चिकित्सितं पञ्चजनान् [द्] राज्ञो राजोपमस्यवा ॥ सूत्र अ० २४।

काश्यप संहिता में शूद्रा स्त्री को ब्राह्मीघृत पीने का निषेध है। इससे दीखता है कि इस समय तक चार वर्ग या पञ्चजन विभाग स्पष्ट हो गया था। जिन शूद्रों को द्विज अपने पात्र नहीं देते थे, वे अन्त्यज थे; यथा, धोबी, नाई, चमार आदि। जिनको अपने पात्र देते थे; वे शूद्र थे; यथा बढ़ई, लुहार, रथकार आदि।

काश्यप संहिता में लशुन की स्तुति गुप्तकाल के दूसरे ग्रन्थों [नावनीतक; अष्टांग संग्रह आदि की भाँति मिलती है।

लशुनं न्यायतः खादेन्मुकुटं रचयेदपि।
कुर्याल्लशुनमालां च शिरसः कर्णयोरपि।
बहिः प्रावरणस्यापि कुर्याल्लशुनकम्बलम्।
हस्तयोः पादयोः कण्ठे वध्नीयाद्गुच्छितान्यपि।
अधस्ताद् वाससश्चापि विदध्याद्शयनासने।
दद्यात् लशुनचीराणि गृहद्वारेषु सर्वतः॥
सर्वेषामात्सवत् कुर्यात् कृते गन्धवरे बुधः।
अन्नपानानि सर्वाणि कुर्यात् लशुनवन्ति च॥

इन सब वचनों से काश्यप संहिता का समय गुप्तकाल है; गुप्तकाल में चरक-संहिता की प्रतिष्ठा थी। काश्यप संहिता का सम्बन्ध मुख्यतः कौमारभृत्य चिकित्सा से है।

रक्त को चौथा दोष सुश्रुत के समान काश्यप ने स्वीकार किया है। सुश्रुत संहिता का एक श्लोक काश्यप संहिता में मिला है—

कुक्कुटस्य पुरीषं च केशांश्चर्मपुराणकम्।
जीर्णां च भिक्षु संघाटीं सर्पि निर्मोचनं घृतम्।
धूपमेतं प्रयुञ्जीत सन्ध्याकाले सुखङ्करम्॥

यह श्लोक सुश्रुत उत्तर तंत्र (अ० ३३।६) में आया है।

चरक संहिता में आये ऋषियों के नाम—(नामों की प्रतीक निर्णयसागर प्रेस-बम्बई की प्रकाशित चरक संहिता १९४१ के आधार पर है)।

नाम	प्रतीक
अंगिरा	सूत्रस्थान अ० १, चि० अ० १।४ (पाद)
जमदग्नि	सू० अ० १।
वशिष्ट	सू० अ० १। चि० अ० १।४ (पाद)
कश्यप	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद)
भृगु[१]	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद), सि० अ० ११
आत्रेय (पुनर्वसु)[२]	सू० अ० १,१२, २५,२६, शा० अ० ३ आदि में
गौतम (सांख्य)[३]	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद), सि० अ० ११
पुलस्त्य	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद), सि० अ० ११
नारद	सू० अ० १।
असित	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद) सि० अ० ११
अगस्त्य	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद)।
वामदेव	सू० अ० १, चि० अ० १।४ (पाद)।
मार्कण्डेय	सू० अ० १।
आश्वलायन	सू० अ० १।
पारि(री)क्षि मौद्गल्य	सू० अ० १, सू० अ० २५।
भिक्षुरात्रेय[४]	सू० अ० १, सू० अ० २५।
भरद्वाज[५]	सू० अ० १।

१. गंगाधरजी 'काश्यपोभृगु' से काश्यपगोत्र में उत्पन्न भृगु अर्थ करते हैं, सप्तर्षियों में गिना भृगु नहीं मानते।

२ आत्रेय से कृष्णात्रिपुत्र पुनर्वसु-गंगाधर, पुनर्वसु के लिये कृष्णात्रेय नाम आया है (सूत्र अ० ११)

३. गौतम सांख्य—बौद्ध गौतम को पृथक् करने के लिये सांख्य विशेषण है, ऐसा गंगाधर जी का कहना है। सांख्य शब्द से सांख्य दर्शन के कर्ता कपिल कहे जाते हैं। ऐसा योगीन्द्रनाथ सेन जी की मान्यता है।

४. भिक्षु आत्रेय का विशेषण है, पुनर्वसु से ये भिन्न हैं—ऐसा श्री योगीन्द्रनाथ सेन जी की मान्यता है।

५. भरद्वाज और कुमारशिरा भरद्वाज नाम से दो भरद्वाजों का उल्लेख चरक में है। भरद्वाज के मत का खण्डन स्थान-स्थान पर मिलता है; कुमारशिरा भरद्वाज का मत ही दिखाया है; खण्डन नहीं।

नाम	प्रतीक
कपिञ्जल (कपिष्ठल)	सू० अ० १।
विश्वामित्र	सू० अ० १।
आश्वरथ्य	सू० अ० १।
भार्गवश्च्यवनः	सू० अ० १, चि० अ० १।१ (पाद)
अभिजित्	सू० अ० १।
गार्ग्य	सू० अ० १।
शाण्डिल्य	सू० अ० १।
कौण्डिन्य	सू० अ० १।
वार्क्षि	सू० अ० १।
देवल	सू० अ० १।
गालव	सू० अ० १
साङ्कृत्य	सू० अ० १
वैजवापि	सू० अ० १।
कुशिक	सू० अ० १।
बादरायण	सू० अ० १।
वडिश (धामार्गव)	सू० अ० १, १२, २६, शा० अ० ६, सि० अ० ११।
शरलोभा	सू० अ० १, सू० अ० १५
काप्य	सू० अ० १, १२, सि० अ० ११।
कात्यायन	सू० अ० १।
कांकायन (वाह्लीकभिषक)	सू० अ०, १, १२, २५, २६, शा० अ० ६।
कैकशेय	सू० अ० १।
धौम्य	सू० अ० १।
मारिचि (कश्यप-काश्यप)[१]	सू० अ० १, १२, शा० अ० ६।
शर्कराक्षः	सू० अ० २।

---

१. मारीचिकाश्यपौ और मारिचकाश्यपौ—द्विवचन में पाठ मिलता है। शरीर-स्थान के छठे अध्याय में मारीचिः कश्यपः पाठ मिलता है, इसमें मारिचि शब्द काश्यप का विशेषण है।

नाम	प्रतीक
हिरण्याक्ष (कुशिक)	सू० अ० १, २५, २६।
लौगाक्षः (लोकाक्षः)	सू० अ० १।
पैंडि	सू० अ० १।
शौनक	सू० अ० १, २५, सि० अ० ११।
शाकुनेय	सू० अ० १।
मैत्रेय-मैमतायनि	सू० अ० १, १०।
वैखानस	सू० अ० १, चि० अ० १।१ (पाद)
बालखिल्य	सू० अ० १, चि० अ० १।१ (पाद)
भद्रशौनक	शा० अ० ६, सि० अ० ११।
कुश सांकृत्यायन	सू० अ० १२।
कुमारशिरा भरद्वाज	सू० अ० १२, २६, शा० अ० ६।
वायोर्विद राजर्षि	सू अ० १२, २५, २६।
वामक (काशिपति)	सू० अ० २५, सि० अ० ११।
शाकुन्तेय ब्राह्मणः	सू० अ० २६।
पूर्णाक्षो मौद्गल्यः	सू० अ० २६।
निमिर्वैदेह	सू० अ० २६।
भद्रकाप्य	सू० अ० २५, २६, शा० अ० ६।
भरद्वाज	सू० अ० २५, शा० आ० ३।
अत्रि	चि० अ० १।४ (पाद)
धन्वन्तरि	शा० अ० ६।
जैनको वैदेह	शा० अ० ६।
कौशिक	सि० अ० ११

चरक संहिता में ऋषियों के इतने नाम मिलते हैं, सुश्रुत संहितामें किसी ऋषि का नाम नहीं आता, किसी अन्य का मत या विचार नहीं मिलता।[१]

१. सुश्रुत के उत्तरतंत्र में विदेहाधिप, 'परमर्षि' शब्द आते हैं, शालाक्यतंत्र का संबंध विदेहाधिप से और कुमारबाधा का संबंध-परमर्षि से कहा है। उत्तर अ० १।६-७।

काश्यप संहिता में कई ऋषियों के नाम आते हैं, अष्टांगसंग्रह में भी ऋषियों के भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख मिलता है।

ऋषियोंके इन नामों में से बहुत से ऋषियों के नाम महाभारत, रामायण के समय के भी हैं, वैजवापी नाम महाभाष्य में भी है।

चरक संहिता के व्याख्याकार—चरक संहिता पर सबसे प्रथम व्याख्या चरक न्यास नाम की भट्टारहरिचन्द्र की मिलती है, इस व्याख्या की बहुत प्रसिद्धि थी—

व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्री जेज्जट नाम्निसतिसुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धार्ष्टयं समावहति॥ चिकित्साकालिका

भट्टार हरिश्चन्द्र के पदलालित्य की प्रशंसा बाण ने भी की है—

पदबन्धोज्वलोहारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥ हर्षचरित, प्रथमोच्छ्वास–श्लो० २२

वाक्पति राज विरचित गौड़वहो प्राकृत काव्य में भी इनका नाम लिया गया है—

भासे ज्वलनमित्रे कुन्तिदेवे च यस्य रघुकारे।
सौबन्धवे च बन्धे-हरिचन्द्र च आनन्दः॥

भट्टार हरिश्चन्द्र की टीका का नाम चरक न्यास था, इसका कुछ भाग रावलपिण्डी से श्री वैद्य मस्तराम शास्त्री ने प्रकाशित किया था। मद्रास नगर के राजकीय पुस्तकालय में इसके सूत्रस्थान के प्रथम तीन अध्याय हैं।

महाकवि श्यामलिक विरचित पादताड़ितकम् (गुप्तकालीन रचना) में कांकायन गोत्री वैद्य ईशान चन्द्रके पुत्र हरिचन्द्र का नाम आया है, इसे वाह्लीक देश का रहनेवाला कहा है।

पादताड़ितकम् में लिखा है कि हरिचन्द्र अपनी प्रेयसी यशोमती की बहिन प्रियंगुयष्टिका के प्रेम में था। यह वाह्लीक देश का रहनेवाला और काकायन [कांकायन] मत का अनुयायी था; उसके पिता का नाम ईशानचन्द्रथा। इसमें कम सन्देह है कि भिषक् हरिश्चन्द्र और चरक पर चरक न्यास के टीकाकार भट्टार हरिश्चन्द्र एक ही थे। श्री एस. के. दीक्षित ने हरिश्चन्द्र की अनेक सुक्तियाँ

इकट्ठी की है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में उस अनुश्रुति का उल्लेख किया है; जिसके अनुसार हरिचन्द्र, चन्द्रगुप्त और कालिदास इत्यादि के साथ उज्जयिनी में काव्य परीक्षा में बैठे थे। गोड़वाहो में भास, कालिदास और रघुकार के साथ उनका उल्लेख किया है। एक सुभाषित में हरिश्चन्द्र को वैद्य तिलक और वैश्य बताया है। हेमाद्रि ने अपनी आयुर्वेद रसायन की प्रस्तावना में कहा है कि उसने हरिश्चन्द्र की चरक पर टीका पढ़ी थी। कांकायन अवश्य आयुर्वेद के बहुत बड़े आचार्य हुए होगें। नावनीतक में, जिसका समय डा० हार्नले ईसा की दूसरी शताब्दी मानते हैं, एक जगह कांकायन का उल्लेख (५।९३५) है। यदि कांकायन को हरिश्चन्द्र का विशेषण माना जाये तो नावनीतक के कांकायन और हरिश्चन्द्र एक ही बैठते हैं। ऐसी अवस्था में नावनीतक का समय पांचवी सदी का मध्य भाग मानना पड़ेगा। इनके आधार पर यह मानना अनुचित न होगा कि भट्टार हरिश्चन्द्र और भिषक् हरिश्चन्द्र एक ही व्यक्ति थे। वे वाह्लीक के रहने वाले और कांकायन गोत्र के या कांकायन पद्धति के मानने वाले थे। इनके पिता का नाम हरिश्चन्द्र था। वैश्य वंश में पैदा हुए थे। अनुश्रुतियों के अनुसार वे चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम-कालीन थे—'चतुर्भाणी' की भूमिका पृष्ठ ९-१०।

'एष हि बाह्लीकः कांकायनभिषगेशानचन्द्रः हरिश्चन्द्रचन्द्र इव कुसुदुवापीं वेशावाटीमवभासयन्नित एवाभिवर्त्तते—पादताडितम्, पृ० १७९।

चरक में 'कांकायनो वाह्लीक भिषक्' शब्द आता है (सूत्र.अ. २५ एवं १२ में)।

विश्वप्रकाश कोष के प्रारम्भ में भट्टार हरिश्चन्द्र के वंशज महेश्वर ने हरिश्चन्द्र को साहसांक राजा का समकालीन लिखा है।[१] साहसांक नृपति शब्द द्वितीय चन्द्रगुप्त के लिये प्रसिद्ध है, ऐसा इतिहासवेत्ता मानते हैं। भट्टार हरिश्चन्द्र साहसांक राजा के राजवैद्य थे। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त का विशाला अर्थात् उज्जयिनी में एक साथ उल्लेख

१. (क) श्रीसाहसांक नृपतेरनवद्य वैद्यविद्या तडंग पद्मद्वयमेव विभ्रते। यश्चन्द्रचारु चरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्ययाचरकतन्त्रमलञ्चकार—॥(५) कालिदास के ग्रन्थ-तत्कालीन संस्कृति से पृष्ठ ४७।

(ख) हरिचन्द्र चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्—'काव्य मीमांसा' अ. १०। पृ. ५५

किया है।[1] साहसांक नृपति का समय ३७५ से ४१३ ई० है। इसलिये भट्टार हरिश्चन्द्र का भी समय यही है।

भट्टार हरिश्चन्द्र ने खरनाद संहिता की भी टीका की थी, यह बात अष्टांग संग्रह के टीकाकार इन्दु के वचन से स्पष्ट है।[2] अरुणदत्त और हेमाद्रि ने अपनी टीकाओं में खरनाद संहिता के वचन उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय यह संहिता प्रसिद्ध थी।

जेज्जट—इनकी टीका का नाम निरन्तर-पदव्याख्या है, यह चिकित्सा स्थान से प्रारम्भ होकर सिद्धि स्थान पर्यन्त त्रुटित अंशों के साथ मद्रास नगर के पुस्तकालय में है। इसको लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया है। इसके साथ में चक्रपाणि की व्याख्या भी दी है।

जेज्जट वाग्भट का शिष्य था। वाग्भट का समय ईसा की चौथी शती से लेकर छटी शती तक सामान्यतः समझते हैं। इसमें पांचवी शती का समय अधिक सम्भावित दीखता है।[3] जेज्जट ने अपने को वाग्भट का शिष्य कहा है—

इति वाग्भटशिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां चिकित्सास्थाने रसायनाध्यायः समाप्तिमगमत्।

जेज्जट ने भट्टार हरिचन्द्र का नाम (मदात्ययचिकित्सा की व्याख्या में) लिखा है। इससे जेज्जट वाग्भट के समकालीन और भट्टार हरिचन्द्र के पीछे के माने जाते हैं। इनका समय भी वाग्भट का समय पांचवीं शती का उत्तरार्द्ध है।

चक्रपाणि दत्त—विरचित व्याख्या का नाम आयुर्वेददीपिका है, चक्रपाणि ने अपना परिचय स्वतः दिया है। उसके अनुसार आप गौड़ देश में वैद्य जाति में लोध्रबली संज्ञक दत्तकुल में उत्पन्न हुए थे। गौड़ाधिपति श्री जयपाल देव की महानस के अधिकारी और मंत्री श्री नारायण दत्त के पुत्र

---

१. पादताडितकम्।

२. भट्टार हरिचन्द्रेण खरनादे प्रकीर्त्तिताः; संग्रह—कल्पस्थान–अ० ८ इन्दु टीका ४'१ श्लोक। (ख) या च खरनादसंहिता भट्टारहरिश्चन्द्र कृता श्रूयते सा च चरक प्रतिबिम्बरूपैव-लक्ष्यते। संग्रह ८।

३. आयुर्वेद का बृहत् इतिहास (अत्रिदेव विद्यालंकार)।

थे। गौड़ाधिपति जयपाल देव से अन्तरंग पदवी प्राप्त भानुदत्त के छोटे भाई थे (अन्तरंग पदवी से अभिप्राय राज्यवैद्य से है)। इनके गुरु का नाम नरदत्त था। नयपाल देव का समय ११ वीं ईसा की शती का मध्यकाल है, इसलिये चक्रपाणि का भी यही समय है।

विद्याकुलसंपन्नो हि भिषक् अन्तरंग इत्युच्यते।

शिवदास सेन—विरचित चरक की व्याख्या का नाम तत्वचन्द्रिका व्याख्या है। आपने अपना परिचय स्वतः चक्रपाणि दत्त विरचित द्रव्य गुण संग्रह की व्याख्या के अन्त में दिया है, उस के अनुसार आप वैद्य जाति में गौड़ देशान्तर्गत मालंचिका ग्रामनिवासी; अनन्तसेन के पुत्र; गौड़ाधिपति वार्बरक शाह के समय हुए। वार्बरक शाह का समय १४५७ से १४७४ ईस्वी का है, इसलिये इनका समय भी पन्द्रहवी शती है।[1]

अन्य व्याख्याकार—कविराज श्री गंगाधरकृत जल्पकल्पतरु और श्री योगीन्द्रनाथ सेन कृत चरकोपस्कार नामक दो व्याख्यायें हैं। इन में चरकोपस्कार व्याख्या चिकित्सा स्थान के तेरह अध्याय तक ही है। जल्पकल्पतरु का प्रकाशन कलकत्ता से, चक्रपाणि व्याख्या के साथ हुआ है। चरकोपस्कार भी कलकत्ते से छपा है। आज बंगाल में जो वैद्य परम्परा का अवशेष है, उसका प्रारम्भ कविराज गंगाधर जी से ही हुआ था। आप के शिष्यों में श्री द्वारकानाथ जी (श्री योगीन्द्रनाथ सेन जी के पिता), श्री स्वामी लक्ष्मीराम जी जैसे प्रसिद्ध विद्वान् थे। चरक को समझने वाले आप ही माने जाते थे, आप के शिष्यों ने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

आप की जल्पकल्पतरु व्याख्या बहुत विस्तृत, दार्शनिक दृष्टि से लिखी गई है, इसी से विद्वानों तक ही सीमित रहती है। श्री योगीन्द्रनाथ सेन जी की चरकोपस्कार व्याख्या सरल और संक्षिप्त है। इस में अधिकतः अष्टांग-संग्रह से सहायता ली गई है। चरक के वचनों को स्पष्ट करने के लिये संग्रह के वचन दे दिये हैं, इस से ग्रन्थ स्पष्ट हो जाता है। आप की व्याख्या विद्वानों और छात्रों दोनों में मान्य है।

---

१. श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य सम्पादित चरक संहिता के उपोद्घात के आधार पर।

इसी व्याख्या का आश्रय लेकर हिन्दी में श्री जयदेव विद्यालंकार और अत्रिदेव विद्यालंकार ने चरक का अपना अपना हिन्दी अनुवाद किया है। यह दुःख की बात है, कि (उपस्कारकी) यह व्याख्या सम्पूर्ण प्रकाशित नहीं हुई, केवल चिकित्सा के तेरह अध्याय तक ही प्रकाशित हुए हैं, यद्यपि सुनने में आया है कि अगले अध्यायों की भी व्याख्या लिखी गई थी।

तीसरा अध्याय

सामाजिक जीवन तथा सामाजिक गठन

चरक संहिता के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस के प्रवचन काल में तथा प्रति संस्करण के समय तक सामाजिक नियम कड़े नहीं थे, विवाह, वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भिक रूप में थी। चरक संहिता के बाद के आयुर्वेद ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरती गई दीखती है। उदाहरण के लिये—

शिक्षा—विद्याध्ययन के लिये सुश्रुत में कहा है कि 'बालक के शक्तिमान् होने पर वर्ण के अनुसार उसको विद्या पढ़ायें"[1]। चरक संहिता में इस प्रकार की सूचना नहीं मिलती; वहाँ पर तो आयुर्वेद के अध्ययन के सम्बन्ध में लिखा है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों को ही आयुर्वेद पढ़ना चाहिये, अथवा धर्म, अर्थ, काम की दृष्टि से सब को पढ़ना चाहिये।[2] मनुष्य को चाहिये कि वह पहले कार्य की गुरुता-लघुता का विचार करके, तथा अपने समय, सामर्थ्य की जाँच करके, यदि वैद्य-भिषक् बनने का निश्चय करे तब आचार्य के पास जाये[3]। इससे स्पष्ट है कि विद्या पढ़ने का चुनाव छात्र के ऊपर ही छोड़ दिया गया। सुश्रुत की भाँति वर्ण दृष्टि से विद्या अध्ययन नहीं था। सब मनुष्य आयुर्वेद पढ़ सकते थे।

विवाह—इसी प्रकार विवाह बन्धन भी ढीला था—विवाह में आयु का कोई प्रश्न नहीं था, उस समय सन्तानोत्पत्ति में केवल गोत्र ही बचाया जाता था। विवाह-संस्कार पति-पत्नि सम्बन्ध धार्मिक दृष्टि से था या स्वच्छन्दरूप में था इस विषय में कोई भी सूचना चरक संहिता में नहीं है। सुश्रुत में पढ़ते हैं कि 'विद्याध्ययन समाप्त करने पर जब आयु पच्चीस वर्ष की हो जाये तब सोलह वर्ष की कन्या से इसका विवाह कराना चाहिये, जिससे कि यह पितृऋण-धर्म,

---

१. सुश्रुत शा० १०।५२।

२. चरक सू० अ० ३०।२९।

३. चरक वि० अ० ८।३।

अर्थ-काम और प्रजा प्राप्त कर सके।[1] चरक संहिता में यह तो कहा है कि धर्म और अर्थ स्त्री में हैं[2] परन्तु विवाह करने का उल्लेख नहीं है। वहाँ तो केवल इतनी ही सूचना है कि असमान गोत्र वाली स्त्री रजोनिवृत्ति के पीछे सन्तान उत्पन्न करे। पत्नि रूप में स्त्री को ग्रहण करने का कोई भी उल्लेख नहीं है। साथ ही पाँचवी छठी शती में बने अष्टांग संग्रह में इस सम्बन्ध में विशेष एवं महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं—

इक्कीस वर्ष का पुरुष, असमान गोत्र वाली, धन और कुल में समान, संचरण करने वाले, यक्ष्मा, कुष्ट आदि रोग वाले कुल में न उत्पन्न, रूप, शील, एवं शुभलक्षणों से युक्त, प्रशस्त दाँत, ओष्ठ, कान, नख, केश, स्तनों वाली; उत्पन्न होने के पीछे जिसके अंगों में कोई विकृति न आयी हो, कोमलांगी, स्वस्थ-प्रकृति, कपिल एवं पिंगल-वर्णों से रहित, अहीन अंगवाली, न अधिक अंगों वाली, बारह साल की; देवता (शची, उमा, लक्ष्मी आदि), भुजंग (नागमति), सरित् (गंगा, यमुना आदि), पर्वत (विन्ध्यवासिनी आदि), वृक्ष (केतकी, चमेली आदि), पक्षि (बकुली आदि), नक्षत्र (रेवती आदि), अन्त्या (चाण्डालिनी आदि) प्रेष्य (दासी नामवाली) और भीषण नाम से रहित,'पापरहित', लोक में अनिन्दित, कन्या से विधिपूर्वक विवाह करे।

इस विवाहित कन्या की आयु सोलह वर्ष की होने पर पचीस वर्ष की आयु वाला पुरुष, पुत्र की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करे। सोलह और पचीस वर्ष की आयु में ही स्त्री और पुरुष दोनों सम्पूर्ण वीर्य से सम्पन्न होते हैं—तभी वे वीर्य-पूर्ण संतान उत्पन्न कर सकते हैं।[3]

अष्टांग संग्रह के इस वचन से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं—जिनका कि चरक संहिता में उल्लेख नहीं है।

(१) आयु—विवाह के समय पुरुष की आयु इक्कीस वर्ष और कन्या की आयु बारह साल होनी चाहिये। परन्तु सन्तानोत्पत्ति के समय पुरुष की आयु

१. सुश्रुत शा० अ० १०।५३।

२. चरक० चि० अ० २१।७।

३. अष्टांग संग्रह, शा० १।३-४।

पच्चीस वर्ष और कन्या की आयु सोलह वर्ष होनी चाहिये। जैसा कि सुश्रुत में कहा भी है—पच्चीस वर्ष की आयु में पुरुष और सोलह वर्ष की आयु में स्त्री रसादि धातुओं से परिपूर्ण होते हैं, (सु० अ० ३५।१३)।

(२) **विवाह और द्विरागमन** (गौना)—दो भिन्न वस्तुएँ थीं। चौथे साल में द्विरागमन होता था।

(३) **नदी-पर्वत नामवाली, कपिला, पिंगल वर्ण की कन्याओं से सम्बन्ध** करने का निषेध था। मनुस्मृति में भी कन्या संवरण के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी हैं वे ऊपर के वचनों से बहुत मिलती हैं, यथा—

जो कन्या पिता के गोत्र की न हो तथा माता की पीढ़ी की न हो उससे विवाह करना चाहिये। क्षयरोग-अपस्मार-मन्दाग्नि, कुष्ट रोग वाले कुल की कन्या से विवाह न करे। पिंगल वर्ण, नक्षत्र, नदी, वृक्ष, पर्वत, अन्त्या, पक्षि आदि और प्रेष्यनामवाली कन्या से विवाह न करे।[1]

(४) **अन्त्य** शब्द वही है, जो अन्त्यज के अर्थ में आता है। शतपथ-ब्राह्मण में (प्रथम अध्याय) अन्त्य शब्द आता है, 'अन्तेभवः अन्त्यः'—बस्ती में चतुर्वर्णों की बस्ती के अन्त में जो रहते हैं वे अन्त्य हैं। आजकल भी देहातों में —ग्रामों में चतुर्वर्णों के निवासस्थान के बाहर गाँव के किनारे ये लोग रहते हैं, इसीसे ये अन्त्य कहलाते हैं। चरक संहिता में धात्री के चुनाव में यह शब्द आता है। "अनन्त्यावसायिनीम्" (शा० अ० १०-५२), वहाँ पर टीकाकार चक्रपाणि दत्त ने लिखा है कि शूद्र के अभिप्राय से यह है, या पतित ब्राह्मणी या चाण्डालादि स्त्री का निषेध है।[2]

चरक संहिता में अष्टांग संग्रह एवं सुश्रुत जैसा विवाह का उल्लेख नहीं है, उसमें पति-पत्नी सम्बन्ध के विषय में भी कुछ नहीं लिखा है, उसकी दृष्टि में

---

१. मनुस्मृति—३।७-१०।

२. महाभाष्यकार के समय शूद्र दो श्रेणियों में विभक्त दीखते हैं:—(१) निरवसित और (२) अनिरवसित। इनमें बढ़ई, लोहार, धोबी, नाई, जुलाहे आदि अनिरवसित थे। चाण्डाल, चूड़ा, भंगी, चमार ये निरवसित थे। अनिरवसित लोग त्रिवर्णों के पात्र छू सकते थे; निरवसित नहीं। निरवसित निम्नकोटि के शूद्र थे—पतंजलिकालीन भारत—पृष्ठ १५३; इनका ही सम्भवतः यहाँ निषेध है।

सन्तानोत्पत्ति के लिए पुरुष और स्त्री को परस्पर केवल गोत्र बचाना चाहिये (शा० अ० २।३)।

सन्तानोत्पत्ति के समय आयु के विषय में भी चरक में सुश्रुत और अष्टांग संग्रह के समान कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। उसमें केवल इतना निर्दिष्ट है कि सोलह वर्ष से पूर्व और सत्तर वर्ष की आयु के बाद पुरुष को स्त्री सेवन नहीं करना चाहिए (सुश्रुत में पुरुष की आयु सोलह के स्थान पर पचीस कही है, इस आयु में ही वीर्य परिपक्व होता है)। सोलह वर्ष से पूर्व स्त्री सेवन करने से पुरुष का शुक्र क्षीण हो जाता है, जिस प्रकार की सरोवर का थोड़ा जल सूख सूख जाता है। बड़ी आयु में सत्तर वर्ष की आयु के पीछे संभोग करने से मनुष्य उसी प्रकार से शीर्ण हो जाता है, जिस प्रकार की शुष्क, रुक्ष, कीड़ों से खाई लकड़ी छूने—हाथ लगने से नष्ट हो जाती है।

सन्तानोत्पत्ति का महत्त्व चरक में गृहस्थाश्रम—पति-पत्नि सम्बन्ध का विचार विवाह संस्कार से बँधने के रूप में नहीं है, परन्तु पुत्र-सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक बताया है—

बाजीकरण का एक उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति है (पुत्रस्यायतनं ह्येतद्)। जितेन्द्रिय पुरुष को चाहिये कि वह बाजीकरण का उपयोग करे। क्योंकि धर्म, अर्थ, प्रीति और यश इसी के कारण हैं, बाजीकरण ही पुत्र को देनेवाला है, और धर्म, अर्थ, प्रीति और यश—ये गुण पुत्र के कारण से ही होते हैं।[१] इसके लिये अपने असमान गोत्र, वृष्य, चाहने वाली, निरोगी, ऋतु के पीछे स्नान से शुद्ध स्त्री के पास संतान की चाह रखने वाला पुरुष जाये।[२]

पुत्र का महत्त्व—जिस पुरुष के पुत्र नहीं होता, वह छायारहित, एक शाखा वाले, फल रहित वृक्ष के समान है। वह अकेला है, उसकी गन्ध (सौरभ) भी अच्छी नहीं (लोक में उसकी छाया भी अच्छी नहीं मानी जाती; विवाह आदि शुभ कर्मों में निःसन्तान वन्ध्या स्त्री को मंगलकार्य नहीं करने देते)। जिस प्रकार से चित्र में चित्रित दीपक, सूखा हुआ तालाब, धातु के समान दीखने वाला, अधातु होता है, उसी प्रकार संतान रहित पुरुष को भी तिनको का बना

१. चरक चि० अ० २।२।३।

२. चरक चि० २।२।१५

पुरुष (पुतला) समझना चाहिये। जिसके सन्तान नहीं, उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं, वह नंगा है, शून्य की भाँति है, एक आँख वाला है और अक्रियाशील है।

दूसरी ओर—जिसके बहुत सन्तान हैं, वह बहुत रूपवाला (आत्मा वै पुत्र नामासि, चरक, शा० अ० ८) बहुत मुखवाला, बहुत शरीर, बहुत क्रियायों वाला, बहुत चक्षु, बहुत ज्ञानवान, बहुत आत्मा, बहुत प्रजा वाला होता है। अपत्य वाला पुरुष मांगल्य, प्रशस्त, धन्य, वीर्यवान् होता है। बहुत शाखा वाला मानकर उसकी स्तुति की जाती है। प्रीति, बल, सुख, वृत्ति, कुल का विस्तार, लोक, यश, सुख का परिणाम, तुष्टि, ये सब संतान से ही है, इसलिए मनुष्य संतान की इच्छा करे।[1]

उत्तम वाजीकरण स्त्री—जिससे अति बलवान् बनकर मनुष्य बाजी-घोड़े के समान स्त्रियों में अप्रतिहत रूप से गमन करता है, वह वस्तु बाजीकरण है। जिस स्त्री को देखकर पुरुष में अतिशय प्रसन्नता—हर्ष उत्पन्न हो, वह सबसे उत्तम बाजीकरण स्त्री है, वह स्त्री उस पुरुष के लिये सबसे उत्तम बाजीकरण है। इन्द्रियों के एक-एक विषय भी अतिशय प्रीति उत्पन्न करते हैं, ये सब विषय मिलकर संघात रूप से स्त्री के शरीर में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रियों के विषयों का संघात स्त्री शरीर के सिवाय अन्यत्र नहीं है। इन्द्रियों के जो विषय स्त्री के आश्रित होते हैं वे ही अतिशय प्रीति को उत्पन्न करते हैं। स्त्रियों में प्रीति विशेष रूप से है, सन्तान भी स्त्रियों में ही है। धर्म और अर्थ भी स्त्रियों में है, लक्ष्मी और लोक भी स्त्रियों में ही है। जो स्त्री सुरूप, युवती, सामुद्रिक लक्षणों से शोभित, वश में रहनेवाली, आज्ञाकारिणी और शिक्षित होती है,वह स्त्री सबसे अधिक वृष्य है।[2]

---

१. चरक चि० अ० २।१।१६,२१; 'हिन्दू परिवार मीमांसा में पुत्र की महिमा'—पृ० २१४–२१५ देखें।

२. इसकी तुलना बृहत्संहिता एवं दक्षसंहिता के इन वचनों से होती है—

(क) श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृणामाह्लादजननम्।
न रत्नं स्त्रीभ्योऽन्यत् क्वचिदपि कृतं लोकपतिना॥
तदर्थधर्मार्थौ सुतविषयसौख्यानि च ततो।
गृहे लक्ष्म्या मान्याः सततमबलामान विभवैः॥ —बृहत्संहिता ७३।४।

(ख) सापत्नी या विनीतास्यात् चित्तज्ञा वशवर्त्तिनी।
अनुकूला न वाग्दुष्टा दत्ता साध्वी पतिव्रता॥
एभिरैव गुणैर्युक्तो श्रीरेव स्त्री न संशयः। —दक्षसंहिता।

चरक संहिता से इतना स्पष्ट है कि स्त्री का महत्व था, सन्तान का महत्व था। सन्तानोत्पत्ति के लिये विवाह का धार्मिक बन्धन या पति-पत्नि बनने के कोई धर्म-कृत्य आवश्यक नहीं था। सन्तानोत्पत्ति में केवल गोत्र का ही विचार मिलता है, गोत्र बचाना आवश्यक था। इससे अधिक और नहीं।

गोत्र विचार—श्री हरिदत्तजी वेदालंकार ने कामाचार से हिन्दू परिवार के उद्गम की जो कल्पना की है, यह जरूर चरक संहिता से पूर्व की है।[१] इस कल्पना में गोत्र का विचार भी नहीं मिलता। गोत्र का विचार उपनिषदों के समय में अवश्य था, यह बात सत्यकाम गौतम के संवाद से स्पष्ट है। गौतम ने सत्यकाम से जब गोत्र पूछा, तो उसने अपनी माता से अपना गोत्र पूछा, उस समय उसकी माता ने कहा कि—तात ! मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो, यौवनावस्था में बहुतों की सेवा करते हुए मैंने तुमको पाया था—इसलिए मैं नहीं कह सकती तुम किस गोत्र के हो।[२]

उपनिषद् के इस वचन से इतना स्पष्ट है कि गोत्र का महत्व था, गोत्र का विचार अध्ययन में था, परन्तु सन्तानोत्पत्ति में भी गोत्र का विचार था, यह बात इस वचन से स्पष्ट नहीं। परन्तु चरक संहिता से स्पष्ट है कि सगोत्र में सन्तान उत्पन्न नहीं की जाती थी। इसलिए चरक संहिता का समय इन दोनों समयों के बीच का ही होना चाहिये। सन्तानोत्पत्ति के लिए जिस प्रकार से उपनिषद् काल में विवाह संस्कार रूपी कोई बन्धन नहीं मिलता, वही बात चरक संहिता के समय भी नहीं मिलती है। केवल सन्तानोत्पत्ति ही उद्देश्य था। सन्तान का महत्व जिस प्रकार से उपनिषद् काल में था, वैसा ही महत्व चरक-संहिता के उपदेशकाल में मिलता है। उपनिषद् में भी पुत्रैषणा-लोकैषणा और वित्तैषणा इन तीन एषणाओं का उल्लेख मिलता है।[३] इसी पुत्रैषणा के लिए असमान गोत्र स्त्री सेवन का उल्लेख चरक संहिता में है।

आश्रम व्यवस्था—दो ही आश्रम—चरक संहिता में ब्रह्मचारी एवं मुमुक्षु इन दो के ही कर्तव्यों का विचार मिलता है। विद्याध्ययन के समय आचार्य

---

१. हिन्दू परिवार मीमांसा—पृ० २-५।

२. छान्दोग्य० ७।४।१-३।

३. बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१।

के पास जाकर अग्नि के समीप दीक्षित होकर वह विद्याध्ययन करता है, इस समय का जीवन उसका ब्रह्मचारी का रहता है।[१] मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा से भी उसको सबसे प्रथम आचार्य के पास जाने का ही उल्लेख है।[२] इन दो अवस्थाओं के सिवाय अन्य कोई भी अवस्था चरक में नहीं दीखती, जब उसे आचार्य के समीप जाना पड़े। इससे अनुमान होता है कि इस समय ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ ये ही दो आश्रम थे। श्रमण संस्कृति में भी इन्हीं दो आश्रमों का उल्लेख है। डा० मंगलदेव शास्त्रीजी का यह कथन महत्वपूर्ण है कि "वैदिक धारा के काल में किसी सन्यासाश्रमी ऋषि की कथा हमको नहीं मिलती।"[३]

ब्राह्मण संस्कृति में चार आश्रमों का उल्लेख है। इसमें मनुष्य को सामान्यतः क्रमशः चारों आश्रमों में गुजरना चाहिए। परन्तु इसमें भी इतनी गुंजायश रखी है कि—जब भी वैराग्य हो तभी वहीं से विरक्त हो जाना चाहिए। परन्तु सामान्यतः चारों आश्रमों के पालने की व्यवस्था जाबालोपनिषद् में मिलती है।[४] जाबालोपनिषद् का यह वचन बहुत पीछे का है, सम्भवतः श्रमण संस्कृति में ब्रह्मचर्याश्रम से ही वानप्रस्थ रूप में वैराग्य लेने के दुष्परिणामों को देखकर यह नियम किया गया कि मनुष्य आश्रमों का जीवन व्यतीत करें, जिससे पीछे से उसमें तृष्णा-कामना न रहे। इन आश्रमों में रहते हुए भी जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाये वहीं से संन्यास ले ले। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह चारों आश्रमों की इस श्रृंखला को पूरा करे। अन्तिम उद्देश्य तो संन्यास-त्याग है, वह जब भी उत्पन्न हो जाए, उसी समय उसको स्वीकार कर ले। यह है ब्राह्मण-संस्कृति जिसमें वासना-कामना का उपभोग करके त्याग की भावना है।

चरक संहिता में गृहस्थाश्रम या विवाह संस्कार के सम्बन्ध में कोई भी

---

१. चरक वि० अ० ८।८-१२।

२. वही, शा० अ० ५।१२।

३. (क) भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० १५७।

(ख) महाभाष्य में भी परिव्राजक और भिक्षु शब्द आते हैं परन्तु सन्यास आश्रम का पृथक् उल्लेख नहीं है। वानप्रस्थ का पृथक् नाम नहीं है; केवल भिक्षु शब्द का मुख्य रूप से उल्लेख है।

४. बृहज्जाबालोपनिषद् ४।

सूचना नहीं मिलती। इसलिए लोगों की जो कल्पना है कि पहले स्त्री-पुरुषों का स्वच्छन्द सम्बन्ध करने की स्वतंत्रता थी इसकी पुष्टि होती है। विवाहों का जन्म इस अवस्था के पीछे हुआ। इस बात की पुष्टि महाभारत में पाण्डु के वचन से भी हो जाती है—जिसके अनुसार पूर्वकाल में स्त्रियाँ खुली (अनावृत्ता) अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें वहाँ जाने वाला (कामाचारविहारिण्य) और स्वतंत्र (किसी बन्धन से या पति से न रोकी हुई) थीं। ऐसा करना अधर्म नहीं था—क्योंकि यही उस समय की परिपाटी थी। इसके बाद पाण्डु ने बताया कि विवाह की मर्यादा इस लोक में पीछे से उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने बनाई।[१]

इसी प्रकार से दीर्घतमा का नियमस्थापन, कर्ण का वर्णन तथा अन्य प्रमाण इस बात को पुष्ट करते हैं कि भारत में विवाह संस्कार का उदय कामाचार से हुआ।[२] चरक संहिता में इस प्रकार के सम्बन्ध में गोत्र का विचार ही मिलता है अन्य किसी बात का—आयु आदि का विचार नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि विवाह संस्कार या गृहस्थाश्रम का वर्त्तमान रूप इस समय नहीं हुआ था।

यूँ चरक के सद्वृत्त के तथा अन्य स्थानों के देखने से गृहस्थाश्रम के करणीय कार्यों का पता लगता है (यथा—भोजन के सम्बन्ध में दी हुई सूचनायें)।[३] परन्तु आचार्य के पास जाकर दीक्षा लेने का उल्लेख ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ दो आश्रमों के सम्बन्ध में ही है। इसी से अनुमान होता है कि ये ही दो आश्रम उस समय थे, जो कि श्रमण संस्कृति में भी मिलते हैं।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य—विद्याध्ययन के लिए दीक्षित करके आचार्य शिष्य को आवश्यक कार्यों का उपदेश करता है। इसमें किस आयु में आयुर्वेद का अध्ययन प्रारम्भ होता था, इसका उल्लेख न तो चरक में है और न किसी दूसरे ग्रन्थ में। इतना स्पष्ट है कि जिस प्रकार से वैदिक वेदारम्भ संस्कार में आचार्य शिष्य को करणीय कार्यों का उपदेश करता है, उसी प्रकार से चरक में

---

१. महाभारत, १।१२२-३-२१।

२. हिन्दू परिवार-मीमांसा (श्री हरिदत्त वेदालंकार), पृ० ३-६।

३. चरक० अ० ८।२०।

भी शिष्य के लिए करणीय कार्यों का उपदेश--अनुशासन यज्ञ-कर्म के समय आचार्य देता था; यथा—

शिष्य को सम्बोधन करके गुरु उसे अनुशासन देता है—कि "तुमको सदा मेरी आज्ञा में रहना चाहिये, मेरी (गुरु की) सेवा पुत्र की भाँति, दास की भाँति, याचक की भाँति करनी चाहिये, कहीं भी जाना हो तो मेरी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये, सदा सत्य बोलना चाहिये, मांस नहीं खाना चाहिये। मन को शान्त रखकर, सावधानी के साथ, एकाग्रमन से, विनयपूर्वक, अच्छी प्रकार से सोच-विचार कर, निन्दा न करते हुए रहना और आज्ञा लेकर बाहर जाना चाहिये। आज्ञा लेकर या बिना आज्ञा लिये भी जाकर तुमको प्रथम गुरु के लिये साधन सामग्री लाने का यत्न करना चाहिये (इससे अनुमान होता है कि शिष्य गुरु के पास अन्तेवासी बनकर उसके घर की सेवा-शुश्रुषा करके विद्याध्ययन करता था—तक्षशिला में इस प्रकार के शिष्यों का उल्लेख आता है)।"[1] कर्मसिद्धि, अर्थसिद्धि, यज्ञ के लाभ को चाहते हुए तथा मृत्यु के पीछे स्वर्ग की इच्छा से गौ-ब्राह्मण का प्रथम आदर करके सब प्राणियों की मंगलकामना सब समय करनो चाहिये। जीवन के लिये, प्राण बचाने के लिये भी रोगियों से झगड़ा नहीं करना चाहिये। मन से भी दूसरी स्त्रियों की कामना नहीं करनी चाहिये। सब धन पराया है। उचित, शान्त वेश धारण करना चाहिये। अशौण्ड्य (मद्यपान न किये), पापरहित तथा जो पाप में सहायक न हो, ऐसे व्यक्तियों की संगति करनी चाहिये। जो राजा से द्वेष करते हों या जिनसे राजा द्वेष करता हो, या जो महाजन से द्वेष करते हों अथवा महाजन जिससे द्वेष करते हों उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। जिस स्त्री का पति पास में न हो, जिसके उपर कोई जिम्मेदार व्यक्ति न हो, ऐसी स्त्रियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। स्त्रियों से दी हुई कोई भी भोग्य वस्तु बिना उसके स्वामी की जानकारी के नहीं लेनी चाहिये।[2] रोगी कुल में जाते समय सदा सूचना देकर अन्दर जाना चाहिये। घर में प्रवेश करते समय साथ में दूसरा आदमी रखना चाहिये। वहाँ

१. प्राचीन भारत में शिक्षा प्रणाली—डॉ० आलतेकर।

२. स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस सम्बन्ध में 'काश्यप संहिता' में विस्तार से दिया है—पृ० ४१।

जाकर रोगी के उपकार की बातों के सिवाय दूसरी बातों में ध्यान नहीं लगाना चाहिये। रोगी की आयु क्षीण होती हुई भी जानकर इसकी चर्चा किसी से भी नहीं करनी चाहिये, विशेषतः जहाँ पर किसी की मृत्यु का भय हो। अपने ज्ञान की अधिक प्रशंसा नहीं करनी चाहिये।[1]

आयु को बढ़ाने वाली वस्तुओं में ब्रह्मचर्य को सबसे श्रेष्ठ कहा है (चरक सू० अ० २४।४४)। इसी से वाग्भट ने कहा है ब्रह्मचर्य धर्म, यश, आयुष्य इहलोक और परलोक दोनों में रसायन है, इसलिये सर्वथा निर्मल ब्रह्मचर्य का तो हम सदा अनुमोदन करते हैं।[2]

वानप्रस्थी के कर्त्तव्य—(मुमुक्षु के कर्त्तव्य)–जिस प्रकार से ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य कहकर शिष्य के कर्त्तव्यों का उपदेश किया, उसी प्रकार से वानप्रस्थी के कर्त्तव्यों का उपदेश मुमुक्षु शब्द से किया। वैदिक साहित्य में वेदों के पीछे आरण्यक बने, इन आरण्यकों से ज्ञात होता है कि ये अरण्य में रहकर पढ़े जाते थे। यही जीवन वानप्रस्थी का था। आश्रम परम्परा में गृहस्थाश्रम के पीछे वानप्रस्थ–अरण्यवास की स्थिति आती है। इस समय के जो नियम हैं, वे चरक संहिता में वर्णित मुमुक्षु व्यक्ति के नियमों से मिलते हैं, यथा—

अग्निहोत्र—वानप्रस्थी के लिये अग्निहोत्र करना आवश्यक कर्त्तव्य है, मनुस्मृति के अनुसार गृहस्थ को चाहिये, जब वे अपने बाल सफेद होते देखें तो स्त्री को बच्चों के सुपुर्द करके अग्निहोत्र लेकर ग्राम-बस्ति से जंगल में चला जाये।[3] कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी वानप्रस्थी के कर्त्तव्यों को बताते हुए कहा है—"वानप्रस्थी को चाहिये कि ब्रह्मचारी रहे, भूमि पर सोये, जटा और मृगचर्म को धारण करे, अग्निहोत्र और अभिषेक करे, देवता-पितर और अतिथि की पूजा करे, वन में उत्पन्न आहार करे।[4] अग्निवेश के गुरु-अत्रिपुत्र के लिए भी स्थान-स्थान पर 'हुताग्निहोत्र' शब्द आता है।[5]

---

१. चरक वि० अ० ८।१३।

२. अष्टांग हृदय–उत्तर० अ० ४०।४।

३. मनुस्मृति, ६।४। ४. कौटिल्य अर्थशास्त्र, विनयाधिकार, १।३।११।

५. चरक० चि० अ० १४।३, १९।३, २९।३।

चरक संहिता में मुमुक्षु के कार्यों का वर्णन भी इसी प्रकार का है, इससे अनुमान होता है कि ये कार्य वानप्रस्थी के लिये ही हैं; यथा—

लोक में दोष देख कर मोक्ष की इच्छा वाले व्यक्ति को सबसे प्रथम आचार्य के पास जाना चाहिये। उसके उपदेश के अनुसार कार्य करना चाहिये। अग्नि की सेवा करे—अग्निहोत्र करे (अग्निहोत्र का रूप स्पष्ट नहीं, ये श्रौत यज्ञ थे या सामान्य आहूतियाँ थी—इसका कोई स्पष्ट उल्लेख चरक में कहीं नहीं है)। धर्मशास्त्र के अनुसार कार्य करे, सज्जनों की उपासना—सेवा करे, सब प्राणियों में मैत्री भाव रखे, स्त्रियों का स्मरण, उनसे याचना, उनके साथ सम्भाषण छोड़ दे, सब प्रकार का परिग्रह त्याग करे—अपरिग्रह वृत्ति धारण करे, कौपीन धारण करे, गेरू में रंगा वस्त्र पहनें, जलपात्र, दण्डधारण, भिक्षापात्र पास में रखें, प्राण धारण रखने के लिये एक समय आहार करे, आहार में जो भी मिले, उसको ग्रहण करे। थकान दूर करने के लिये गिरे हुए पत्तों की शय्या पर सोये, ध्यान करने के लिये योगपट्टिका रखे।[१] वनों में बिना घर—(स्थायी निवास न बना कर) रहे [अनिकेतः—गीता अ० १२।१९], निन्दा और आलस्य को छोड़ दे। इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष की भावना का त्याग कर दे। सत्कार, स्तुति, निन्दा को सहने की शक्ति प्राप्त करे। भूख-प्यास, सोना-जागना, खान-पान में सोच-समझ कर प्रवृत्ति करे। शोक, दीनता, मान, उद्वेग, लोभ, मान, क्रोध से उद्वेलित न हो, लोक और पुरुष की समानता को समझे, इन्द्रियों को मन में, मन को आत्मा में और आत्मा को आत्मा में लगाये (नियमनभिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च, चक्रपाणि ने आत्मनश्च का अर्थ आत्मज्ञानके लिये परमात्मामें लगाये यह अर्थ किया है, परन्तु चरक में परमात्मा शब्द—आत्मा के अर्थ में ही आता है, शा० अ० १।५३)। शरीर को रस, मल, स्नायु रूप समझना; कारण वाली सब वस्तुओं को अनित्य एवं दुःख का कारण समझना, सब प्रवृत्तियाँ पापमूलक हैं, सबके त्याग में सुख

---

१. योगपट्टिका का अर्थ—मेरी दृष्टि में साधुओं की लकड़ी की बनी पट्टिका है जो कि वे सदा अपने पास रखते हैं; इसपर सहारा लेते हैं। परन्तु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने कादम्बरी के सांस्कृतिक अध्ययन (पृ० ५७) पर भिन्न अर्थ दिया है।

है, ऐसा समझना ही शान्ति है, यह मार्ग मोक्ष के लिये है, इसके विपरीत मार्ग जन्म-बन्धन में बाँधता है।

शुद्धि के इन उपायों से मन पूर्ण शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार कि तैल या वस्त्र से पोंछने से दर्पण चमकने लगता है। जिस प्रकार राहु आदि ग्रह-मण्डल से, कोहरे आदि से रहित सूर्यमण्डल चमकता है, उसी प्रकार से मन भी चमकने लगता है। मन आत्मा में स्थिर होकर उसी प्रकार से जलता है, जिस प्रकार कि दिये की लौ स्थिर होने पर जलती है (तुलना करिये—गीता के वचन से—यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता—अ० ६।१९)।

मन के शुद्ध होने से मनुष्य में सत्य-बुद्धि उत्पन्न होती है, इस सत्य-बुद्धि से अति बलवान महामोहमय अन्धकार दूर हो जाता है। इससे अब सब पदार्थों का स्वभाव-वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है। वस्तुओं का वास्तविक रूप जान लेने से उनके प्रति निःस्पृहता हो जाती है। इससे योग सिद्धि प्राप्त होती है (मन आत्मा में लग जाता है)। सब विषयों में उदासीन वृत्ति (राग-द्वेष-रहित बुद्धि) हो जाती है। इससे नित्य अजर, अमर, शान्त, अव्यय ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। इसी सत्य-बुद्धि को विद्या-सिद्धि-मति, मेधा, प्रज्ञा, ज्ञान कहते हैं।[१]

सन्यास आश्रम का पृथक् उल्लेख नहीं—न इस आश्रम के कार्यों के विषय में कोई सूचना है। 'चरम संन्यास' शब्द चरक में आता है (शा० अ० १।१५४), इसका अर्थ चक्रपाणि ने सम्पूर्ण कर्मों का त्याग लिखा है। कर्मों का त्याग गीता की भाँति सब कामों के कर्मफल का त्याग ही है (गीता १८।२,६)। संन्यास में संज्ञा, ज्ञान, विज्ञान, वेदना, सब निवृत्त हो जाती हैं।

बौद्ध-दर्शन में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्धों का नाम आत्मा है। संन्यास में ये सब निवृत्त हो जाते हैं, इससे आदमी को मोक्ष हो जाता है; मुक्ति मिल जाती है। इससे अनुमान होता है, श्रमण संस्कृति की मुक्ति-मोक्ष ही चरक को अभिप्रेत है, जिसमें संज्ञा, ज्ञान, विज्ञान, वेदना सब छूट जाती है।[२]

जाति और वर्ण—चरक संहिता में ये दोनों शब्द पृथक्-पृथक् हैं, जाति

---

१. चरक वि० अ० ५।१२-१९।

२. चरक शा० अ० १।१५४।

से अर्थ जन्म कारण हैं (जाति शब्देन जन्मकारणमुच्यते--चक्रपाणि—शा० अ० ८।१, वर्ण का अर्थ रंग है, जैसे अवदातवर्ण, कृष्णवर्ण, श्यामवर्ण—शा० अ० ८।१५)।[1] सुश्रुत में वर्ण शब्द ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के साथ भी आता है। ब्राह्मण को तीनों वर्णों का उपनयन कराने को कहा है, क्षत्रिय को अपना और वैश्य का, वैश्य का ही उपनयन कराना लिखा है (सूत्र अ० २।५)। वर्णों के अनुसार ही विद्याध्ययन कराने की सूचना है (शा० अ० १०।५२), सूतिकागार का निर्माण और शय्या भी वर्ण भेद से ही बताई है, ब्राह्मण के लिये श्वेत, क्षत्रिय के लिये लाल, वैश्य के लिये पीली और शूद्र के लिये काली मिट्टी के स्थान पर सूतिकागार बनाये। ब्राह्मण के लिये बेल की लकड़ी का, क्षत्रिय के लिये बरगद का, वैश्य के लिये तिन्दुक की और शूद्र के लिये भिलावे का पलंग बनाये, सूतिका घर भी इन्हीं लकड़ियों से बनाये (शा० अ० १०।५)। चरक में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; ये शब्द दो स्थानों पर आते हैं, एक तो अध्ययन के प्रसंग में, आयुर्वेद किनको पढ़ना चाहिए—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि--ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य को आयुर्वेद पढ़ना चाहिए। अथवा धर्म, अर्थ काम की दृष्टि से सबको पढ़ना चाहिए (सू० अ० ३० ।२९)[2]।

दूसरी बार इनका उल्लेख पुत्रेष्टि विधान में आसन के सम्बन्ध में आता है, ब्राह्मण से प्रयुक्त यजमान शुद्ध वस्त्रों के संचय पर (गद्दी पर), श्वेत बैल के चर्म पर या अजिन-मृगचर्म पर बैठे, क्षत्रिय से नियुक्त यजमान व्याघ्र या सांड़ के चर्म पर बैठे, वैश्य से नियुक्त यजमान मृग या बकरे के चर्म पर बैठे (शा० अ० ८।१०)।

इन दोनों अवस्थाओं में ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण का प्रयोग नहीं मिलता। जाति शब्द धात्री के चुनाव में भी आता है (शा० अ० ८।५२), इसमें कुमार के समान देश की, समान जाति की, धात्री लाने को कहा है। इसी

---

१. (क) वेद में भी वर्ण शब्द रंग के ही अर्थ में है; "यो दासं वर्णमधरं गुहाकः [ऋक् २ का० १२।४] दैव्यौ वै वर्णा ब्राह्मणः असूर्य शूद्रः [तै० ब्रा० १।२।६]। वर्ण का अर्थ आर्य या दास का भेद दिखाना है। देखिये धर्मशास्त्र का इतिहास [हिन्दी अनुवाद] पाठ ११०।

(ख) जातक कथाओं का अर्थ भी जन्म की कथायें हैं—जात = जातक = जाति।

२. काश्यप संहिता में शूद्र को भी आयुर्वेद पढ़ने को लिखा है—पृ० ४२।

प्रकार जाति-जन्म का अभिमान, अहंकार संसार की प्रवृत्ति में कारण बताया है (शा० अ० ५।११)। इन सब स्थानों में जाति से अभिप्राय जन्म से ही है।

विद्या समाप्ति के पीछे वैद्य को 'द्विज' कहा है, इस समय उसका दूसरा जन्म हो जाता है, इसलिये इसको द्विज कहा है---"चरक में इसी को दूसरी जाति दूसरा जन्म कहा है (विद्या समाप्तौ भिषजा द्वितीया जातिरुच्यते---चि० अ० १।४।५२)। दूसरा जन्म होने से इसमें द्विजत्व आता है। प्रथम जन्म---माता-पिता से होता है, दूसरा जन्म आचार्य से मिलता है, इसलिए वह द्विज कहलाता है। जन्म से कोई वैद्य नहीं होता---वैद्य के घर में पैदा होने से कोई वैद्य नहीं बन जाता (न वैद्यः पूर्वजन्मना---चि० अ० १।४।५३)। मनुस्मृति में द्विज, विप्र, ब्राह्मण शब्दों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि---जन्म से सब शूद्र उत्पन्न होते हैं संस्कार होने से (उपनयन या वेदारम्भ संस्कार होने से अथवा सोलह संस्कार होने पर) द्विजत्व आता है, वेद का अभ्यास करने से---पढ़ने से विप्र बनता है, ब्रह्म को जानने से ब्राह्मण होता है।

जाति के अर्थ में वर्ण शब्द का प्रयोग चरक में नहीं है, ये दोनों शब्द पृथक्-पृथक् हैं। जाति से जन्म का कारण लिया जाता है, और वर्ण से अवदात, श्याम, गौर आदि। इसी से डॉ० मंगलदेव शास्त्री जी ने लिखा है---"बहुत अंशों में जातिभेद और वर्णभेद का इतिहास पृथक्-पृथक् हैं। ये दो स्वतंत्र धारायें हैं। जाति-भेद की धारा को यदि ऐतिहासिक कहा जाये तो वर्णभेद की धारा को रूप या सांकेतिक कह सकते हैं। प्रथम का कारण यदि ऐतिहासिक या वस्तुगत है तो दूसरी का काल्पनिक या केवल विचारमूलक हैं।"[१]

गो-ब्राह्मण शब्द---चरक संहिता में 'गो-ब्राह्मण' यह शब्द इसी रूप में अनेक स्थानों पर आता है। कोई भी मंगल कार्य करना होता है तो सबसे प्रथम गो-ब्राह्मण की पूजा का उल्लेख मिलता है।[२] सुश्रुत संहिता में यह शब्द नहीं मिलता। अष्टांग संग्रह---जो कि चरक के पीछे का एवं आत्रेय सम्प्रदाय के आधार पर बना है, उसमें दो-चार स्थानों पर गो-ब्राह्मण शब्द आता है, परन्तु चरक संहिता से कम।[३]

१. भारतीय संस्कृति का विकास---पृ० ३१३।

२. चरक चि० अ० १।१।२३, चि० अ० १।४।३१, शा० अ० ८।३५ आदि।

३. अष्टांग संग्रह ---कल्प अ० ८, गोब्राह्मणांश्चकृतोपवासः···।

देवलस्मृति में गिनाये आठ मंगलों में गो-ब्राह्मण भी मंगल हैं (लोकेऽस्मिन्-मंगलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्यं आपो राजा तथाऽष्टमः ॥), इसमें ब्राह्मण, गौ, अग्नि, स्वर्ण, घृत, सूर्य; जल और राजा ये आठ मंगल-शुभ गिने हैं । इससे सब प्रशस्त मंगल कार्यों में सबसे प्रथम गो-ब्राह्मण का उल्लेख चरक संहिता में मिलता है ।

महाभारत में गो ब्राह्मण शब्द मिलता है,[१] महाभारत का समय पूर्णतः निश्चित नहीं । ऐतिहासिकों की दृष्टि से उपलब्ध महाभारत में गुप्तकालीन अंश भी जुड़ा हुआ है । सम्भवतः यह अंश महाभारत में इसी समय का हो । भारतवर्ष में गो-ब्राह्मण का नारा-अन्धकालीन भारत-युग (ईसा की दूसरी-तीसरी शती) का दीखता है । क्योंकि वैदिक परम्परा के साहित्य की अन्तिम कड़ी उपनिषद् में यह शब्द इस रूप में नहीं मिलता, वैदिक साहित्य में भी नहीं है । चरक संहिता में यह शब्द विशेष रूप में मिलता है । सुश्रुत में ब्राह्मण शब्द है, परन्तु उसके साथ में गौ शब्द नहीं । काश्यप संहिता में गो-ब्राह्मण शब्द है ।[२] मंगल कार्यों में चरक के अन्दर गो-ब्राह्मण शब्द इसी रूप में आता है । कुछ विद्वानों की मान्यता है कि पुष्यमित्र ने जब ब्राह्मण धर्म का पुनः उत्थान किया; यज्ञ का प्रचार चलाया, तब गौ-ब्राह्मण शब्द-प्रचलित हुआ ।[३]

सामाजिक संगठन—चार वर्ग—चरक के समय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्गोंमें विभक्त था । इनके सिवाय पाँचवें वर्ग का भी शारीर-स्थान में (अ० ८।५२) उल्लेख आता है, वहाँ पर 'अनन्त्यावयसायिनीम्' शब्द है । इसका अर्थ चक्रपाणि ने चाण्डालनी आदि स्त्री का निषेध किया है । गावों में अन्त्यज गाँव की आबादी के अन्त में रहते हैं, इसलिये इनको अन्त्यावसायी कहते हैं । ये शूद्र से भी हीन गिने जाते हैं । शूद्रों में कहार-धोबी-नाई-कुम्हार आदि लिये जाते हैं, जो कि विवाह आदि कार्यों में अपना नेग लेते हैं । अन्त्यजों में चमार, भंगी, चाण्डाल, बहेलिया आदि गिने जाते हैं, इनको शुभ कार्यों में सम्मिलित नहीं किया जाता ।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, ७७।२८, ३० ।

२. काश्यप संहिता—पृ० ४० ।

३. कालिदास और उसकी काव्यकला—लेखक प्रो० वागीश्वर विद्यालंकार ।

चरक में पुत्रेष्टि विधान में शूद्र का उल्लेख आता है (शा० अ० ८।१३), वहाँ पर उसके लिये दूसरे वर्णों की भाँति होमकृत्य न बताकर देवता, अग्नि, द्विज, गुरु, सिद्ध, तपस्वियों को केवल नमस्कार करना ही कहा है। इससे इतना स्पष्ट है कि सुश्रुत की भाँति चरक में भी शूद्र को मन्त्र भाग नहीं सिखाया जाता था। उसका वेद में अधिकार नहीं था।

समाज चार भागों में विभक्त था, यह इससे स्पष्ट है, शूद्र को वेद या मंत्र भाग नहीं सिखाया जाता था। इस विभाग का आधार जन्म था या कर्म यह स्पष्ट नहीं। परन्तु आयुर्वेद पढ़ने के उद्देश्य को बताते हुए कहा है कि—प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए ब्राह्मण को आयुर्वेद पढ़ना चाहिये, अपनी रक्षा के लिए क्षत्रिय को और धन कमाने के लिये वैश्य को आयुर्वेद पढ़ना चाहिये, अथवा धर्म, अर्थ काम की दृष्टि से सब वर्गों को आयुर्वेद सीखना चाहिये।[१] इससे यह अनुमान होता है कि आयुर्वेद से जो रुपया कमाते थे वे वैश्य, अपनी रक्षा के लिये जो आयुर्वेद सीखते थे वे क्षत्रिय और प्राणियों के उपकार के लिये जो आयुर्वेद बरतते थे, वे ब्राह्मण थे।

इस प्रकार से चरक संहिता के समय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभक्त था। इनके सिवाय अन्त्यज नामका पाँचवां वर्ग भी था। यह विभाग इनके कार्यों की दृष्टि से था—न कि जन्म से ऐसा अनुमान होता है। क्योंकि चरक में सुश्रुत की भाँति वर्ण के अनुसार विद्या पढ़ने का कोई उल्लेख नहीं, अपितु अपने उद्देश्य के अनुसार आयुर्वेद सीखने का वचन मिलता है।

पेशे—उपनिषद् में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा तीन एषणाओं का उल्लेख है।[२] चरक संहिता में प्राणैषणा, धर्मैषणा और परलोकैषणा इन तीन को कहा है। धर्मैषणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्राणों के पीछे मनुष्य को धन प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए। बिना साधन-सामग्री के जीवन चलाना सबसे बड़ा पाप है। इसलिये मनुष्य को धन-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। धन-प्राप्ति के उपायों में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, राजसेवा आदि एवं अन्य

१. चरक सू० अ० ३०।२९।

२. बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ३।५।१।

जो कार्य सज्जनों से अनिन्दित हों, वृत्ति, पुष्टि को करने वाले हों उनको करना चाहिये।[१]

इस प्रकार के बहुत से कार्यों का उल्लेख चरक संहिता में मिलता है। ये कार्य एक प्रकार के पेशे हैं, जो कि जीविका-उपार्जन के लिए किये जाते थे। कुछ पेशे ऐसे हैं, जो कि मनोरंजन के लिए थे, और कुछ पेशे वृत्ति के रूप में हैं।

चरक संहिता में नीचे लिखे पेशों का उल्लेख मिलता है—

१. कुम्भकार—घड़ा बनाने वाला[२]

२. रथकार—रथ बनाने वाला[३]

३. इष्वासः—धनुर्धारी[४]

४. कथावाचक—कथा-किस्सा-कहानी सुनाने वाले[५]

५. स्तोत्र पाठक—स्तोत्र पाठ करने वाले

६. आख्यायिका—आख्यान सुनाने वाले

(आख्यायिका और कथा में सामान्यतः कोई विशेष भेद दण्डी ने नहीं माना। कवि द्वारा कल्पना से रचित वस्तु कथा होती है—यथा कादम्बरी "जैसा बाण ने स्वयं कहा है—धियानिबद्ध्येमतिद्वयीकथा"—पूर्व भाग २०। सत्य कथा का वर्णन आख्यायिका है, यथा बाण का हर्षचरित। परन्तु यह कोई भेद बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं, यथा—'प्राप्यावन्तीमुदयनकथा कोविदग्रामवृद्धान्"—मेघदूतः पूर्वमेघ—२१ में, इससे स्पष्ट है कि दोनोंमें कोई विशेष भेद नहीं है)।

७. गायक—गाने वाले

८. वाद्यक—बजाने वाले

९. उल्लापक—चुटकुले, किस्से सुनानेवाले—बातूनी-मुसाहिब

१०. श्लोक—श्लोक सुनाने वाले

---

१. चरक सू० अ० ११।५।

२. वही शा० अ० १।४३।

३. वही, वि० अ० ३।३८, शा० ३।१४।

४. वही, सू० अ० १०।५।

५. वही, सू० अ० १५।७।

११. गाथा—लम्बे-लम्बे किस्से कहने वाले

१२. इतिहासकुशल—बीते हुई घटनाओं को सुनाने वाले

१३. पुराणकुशल--पुराणों को सुनाने में कुशल

१४. सूप-ओदन पाचक—रसोइये

१५. स्नापक—स्नान कराने वाला

१६. संवाहक—संवाहन-शरीर को दबाने (चापी करने) वाले[1]

१७. उत्थापक—उठाने-बिठाने वाले

१८. संवेशक—लेटाने वाले—सुलाने वाले—शय्या तैयार करने वाले

१९. औषधपेषक—दवा दारू पीसने-छानने—तैयार करनेवाले

२०. उपाश्रित—भृत्य-नौकर चाकर

२१. व्यवहारोपजीवि—सूद का धन्धा करने वाले

२२. श्रोत्रिय—कर्मकाण्ड कराने वाले

२३. वेश्या—

२४. पण्यजीवि--व्यापार—दुकानदारी करने वाले

२५. चाण्डाल—

२६. तस्कर—चोर

२७. शाकुन्तिक--चिड़िमार

२८. अजप—बकरी चराने वाले

२९. अविप--भेड़ चराने वाले

३०. गोप—गाय चराने वाले

चरक में रोगी के पास स्त्री परिचारिकाओं के रखने का कोई उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में रोगी के पास स्त्री परिचारिका रखने का स्पष्ट निषेध है। स्त्री के दर्शन, स्पर्श से यदि कभी वीर्य नाश हो जाता है, तो वह बहुत हानिकारक है। इसलिए उनका रोगी के पास जाना सर्वथा निषिद्ध है।[2] चरक संहिता में ऐसी कोई सूचना नहीं।

---

१. "मृच्छकटिक" में संवाहक वृत्ति का उल्लेख आता है—"संवाहकवृत्तिमुपजीवामि।"

२. सुश्रुत सू० अ० १९।१४-१५।

धात्री का भी धंधा था—बच्चे को दूध पिलाने (पालने पोसने) के लिए धात्री को रखा जाता था। धात्री के चुनाव में विशेष उपयोगी सूचनायें बताई हैं।[१]

साथी—चरक संहिता में संगी साथियों का उल्लेख दो स्थानों पर आता है, एक मद्यपान के प्रसंग में और दूसरा मनोविनोद (महफिल) के रूप में। साथियों के लिए लिखा है—

एक उद्देश्य वाले, सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न, एक दूसरे के पीछे चलने वाले, कलाओं में कुशल, मन और वय में एक समान (एक समान सोने—चाहने वाले, हमजोली), कुलप्रतिष्ठा वाले, चतुर, शील-पवित्रता से युक्त, शोक, चिन्ता, उद्वेग से रहित, प्रसन्न चित्त, समान स्वभाव के, एक-दूसरे को चाहने वाले (एक दूसरे के लिए जान पर खेल जाने वाले), मीठा बोलने वाले, देखने में प्रिय, अभिप्राय एवं इशारे को समझने वाले, देशकाल के अनुसार बरतने वाले साथी बनाये।[२]

मद्यपान में वे ही साथी उत्साह बढ़ाते हैं, जो सुखी जीवन (अमीरी जीवन) के अभ्यासी होते हैं, मीठा बोलते हैं, देखने में सुन्दर, समान रुचि—चाह रखते हैं, समय के अनुसार चलते हैं, किसी बात का विरोध नहीं करते। विषयों में रस लेते हैं, एक दूसरे की बात का आदर करते हैं। एक दूसरे का दर्शन होने पर अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करते हैं, ऐसे साथी मद्यपान में उत्साह पैदा करते हैं।[३]

साधु-सन्यासी—बाण ने अपनी हर्षचरित में बहुत से साधु-सन्यासियों का उल्लेख किया है।[४] चरक संहिता में उस समय के बहुत से साधु-ऋषि-मुनियों का उल्लेख था। चरक के समय जीवन दो प्रकार का था, एक **ग्राम्यवास** और दूसरा **अरण्यवास**। चरक में ग्राम्यवास को उत्तम नहीं बताया,

---

१. चरक शा० अ० ८।५२।

२. वही, चि० अ० २।३।२०-२५। हर्षचरित में बाण के साथियों का वर्णन इससे मिलता है।

३. चरक चि० अ० २४।२०६।

४. हर्षचरित का अध्ययन—पृ० १०५।

ग्राम्यवास से अभिप्राय वस्ति-नगर-पत्तन का रहना शहरी जीवन से है। इस जीवन के दोष बताते हुए कहा है कि—

ग्राम्यवास सब अप्रशस्त वस्तुओं का मूल है। (ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम्), ग्राम्य का वास दुख एवं दुःखजनित परिणामों का कारण है।[१] ग्राम्यवास से ऋषि अपने दैनिक कार्यों के करने में भी आलसी हो गये थे। इसलिए इन्द्र ने उनको हिमालय में जाने के लिए कहा है।

अरण्यवास भी दो प्रकार का था, एक **यायावर** जीवन का और दूसरा शालीन। यायावर ऋषियों का जीवन घुमक्कड़ था। इनका कोई निश्चित घर नहीं था। ये घूमते-फिरते रहते थे। शालीन ऋषि-शाला बनाकर रहते थे (शाला में रहने से शालीन कहलाते थे)।[२]

यायावर और शालीन, ऋषियों के बहुत भेद थे—यथा ऋषि, महर्षि, देवर्षि, सिद्ध, सांख्य, वैखानस, वालखिल्य, मुनि, भिक्षुक, संन्यासी, तपस्वी, योगी आदि।

धूमपान—कादम्बरी में बाण ने शुद्रक के लिये 'धूमवर्ति पीकर कुरला करके और पान खाकर सभा में आने का उल्लेख किया है (परिपीतधूमवर्तिरूपस्पृश्य च गृहीतताम्बूलः— शुद्रक वर्णन)। चरक में नागरिक के दैनिक कार्यों में धूमपान आवश्यक कहा है। उसके लिए 'धूमपः'—धूम पीने वाला विशेषण आया है। धूमनेत्र और धूमवर्ति दोनों का विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार—

धूमवर्त्ति—धूमवर्त्ति बनाने के लिये हरेणुका, प्रियंगु, पृथ्वीका नागकेसर, नख, हऊवेर, चन्दन, तेजपात, इलायची, खस, पद्माख, कतृण, मुलेहठी, जटामांसी, गुग्गुलु, अगरू, शक्कर, बरगद-गूलर-पीपल-पिलखन और लोध की छाल, मुस्ता, राल, केवड़ीगोथा, शिलारस, कमल, नीलाकमल, गन्धविरोजा, शल्लकी (धूपवृक्ष), ग्रन्थिपूर्ण—इनको पीसकर सरकण्डे पर लगाये। यह लेप जौ के समान बीच में मोटा और किनारों पर क्रमशः पतला होना चाहिए। इसको

---

१. चरक चि० अ० १।४।४।

२. वही, चि० अ० १।४। ३।

छाया में सुखा लेना चाहिये। सूखने पर सरकण्डे को बाहर निकाल लेना चाहिए। इस वर्त्तिको पीते समय इस पर घी लगा लेना चाहिए।[१] यह प्रायौगिक—नित्य प्रति प्रयोग में लाने योग्य धूम है। स्नैहिक धूम में स्नेह की मात्रा अधिक रहती है, इसमें द्रव्य भी मधुरगुण के लिये जाते हैं, जो रूक्ष नहीं होते। विरेचक धूम में—मालकंगनी, हरताल, मैनसिल आदि तीक्ष्ण द्रव्य रहते हैं।[२] इस प्रकार से धूम प्रायौगिक, स्नैहिक और वैरेचनिक–तीन प्रकार का है।

धूमपान का लाभ चक्रपाणि ने बताते हुए कहा है कि तीक्ष्ण अंजन से भी जो कफ-आखों से नहीं निकलता वह इस धूमपान से सुखपूर्वक निकल जाता है। आँख को श्लेष्मा से भय है, इसलिए कफ को निकालने के लिये धूमपान करे।

धूमनेत्र—धूमपान में धूमनेत्र की लम्बाई धूमभेद से तीन प्रकार की है, वैरेचनिक धूमपान में २४, स्नैहिक धूमपान में ३२ और प्रायोगिक धूमपान में ३६ अंगुल होती है। इस नेत्र का अगला मुख बेर की गुठली जितना होता है, नेत्र में तीन कोषफल (घुमाव-मोड़) होने चाहिए, जिससे कि दूर से आता हुआ धूम; पर्वों के मोड़ से टकराकर क्रमशः पतला बनकर आये, इससे आँख कान-नाक को हानि नहीं पहुँचती। सामान्यतः धूमनेत्र का आकार हाथी की सूंड के समान क्रमशः पतला होना चाहिये।

धूपमान का समय और विधि—धूमपान के समय वही हैं, जिन समयों में शरीर के अन्दर वात-कफ का कोप होता है। ये समय आठ हैं–स्नान करके, भोजन करने के पीछे, कफ निकालकर, जिभी करके या वमन करने के पीछे, छींक लेने पर (नस्य लेने के पीछे), दातुन करने के पीछे, नस्य करके, अंजन करके, सोकर उठने पर धूमपान करना चाहिए। इसमें प्रायोगिक धूम दिन में दो बार, स्नैहिक धूम एक बार और वैरेचनिक धूम तीन चार बार पीना चाहिये। धूमपान मुख से करना चाहिए और मुख से ही उसको निकालना चाहिए। मुख से पीकर नासा से निकालने पर आँखों को हानि होती है।

---

१. धूमवर्त्तिका उल्लेख कुट्टिनीमतम् (१४९ आर्या) में आया है। नागर सर्वस्व में इसके बनाने की विधि इस प्रकार दी है—"कर्पूरागुरुचन्दनमुस्तकपूतप्रियंगुवालं च। मांसी चेति नृपाणां योग्या रतिनाथ धूपवर्तिरियम्॥"—४।१६।

२. चरक सू० अ० ५।२०-२६।

धूमपान के समय सीधा, आराम से बैठना चाहिए, अंगों को ढीला रखना चाहिये, आँख-मन उसमें लगाना चाहिए। धूम पीते समय तीन-तीन घूँट एक साथ एक समय में लेनी चाहिए। तीन घूँट लेकर रुक जाना चाहिए, और फिर पीना चाहिए।

इस प्रकार से पिया धूम दूर से आने के कारण—पर्वों से टकराने पर—नाड़ी के कारण धीमा बन जाने से, इन्द्रियों को कष्टदायी नहीं होता। इस धूम को मात्रा और काल के अनुसार सेवन करना चाहिए। धूम पीने से छाती, गला, शिर जब हल्के हो जाये, कफ पतला होकर बाहर निकल आये तब समझना चाहिए कि धूम अच्छी प्रकार पिया गया। ठीक प्रकार से धूम न पीने पर नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं।

मांस-मद्य सेवन—चरक में सामान्यतः मांस-मद्य सेवन का निषेध ही है। जो व्यक्ति मांस-मदिरा का सेवन नहीं करता, उसको उन्माद रोग नहीं होता (चि० अ० ९।९६)। आचार रसायन में मनुष्य को मद्य और मांस से अलग रहने का उपदेश दिया है (चि० अ० १।४।३०-३६)। अहिंसा को प्राण बढ़ाने वालों में सबसे श्रेष्ठ कहा है (सू० अ० ३०।१५), बिना हिंसा के मांस नहीं मिलता। ब्रह्मचारी के लिए मांस न खाने का आदेश है (वि० अ० ८।१३)।

इसके विपरीत स्वास्थ्य की दृष्टि से, ऋतुचर्या अध्याय में, रोग निवारण की दृष्टि से यक्ष्मा आदि रोगों में मांस और मद्य का सेवन बताया है। राजयक्ष्मा रोग में मांस और मद्य देने के लिए छल भी करने को कहा है। सामान्यतः चरक संहिता में एक क्रम है—इस क्रम में आमिष और निरामिष दोनों प्रकार की वस्तुएँ साथ-साथ दी हैं। आयुर्वेद का उद्देश्य—प्रयोजन आरोग्य साधन है (धातुसाम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रास्य प्रयोजनम्—सू० अ० १।५३)। इसी के लिए यह तन्त्र बना है। मांस के लिए की गई हिंसा का विचार आयुर्वेद में नहीं है, यह विचार धर्मशास्त्र का है। आयुर्वेद आयु का शास्त्र होने से आयु की दृष्टि से विचार करता है, धर्म-अधर्म की दृष्टि से विचार करना धर्मशास्त्र का काम है। इसलिए चरक में आमिष, निरामिष दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं, मनुष्य अपनी रुचि, सिद्धान्त से उनको ग्रहण करे या छोड़ दे।

विधि—मद्यपान विधि का विस्तृत वर्णन ललित रचना में वाहट [वाग्भट]

ने अपने अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय में किया है। चरक संहिता में मद्यपान का वर्णन उसी का सरल रूप है[१]। दोनों ही गुप्तकालीन रचनायें हैं। केवल अन्तर इतना है कि चरक संहिता में दृढ़बल द्वारा किया गया मद्यपान का वर्णन तीसरी-चौथी शती का है और वाहट का वर्णन पाँचवीं-छठी शती का है। भारतवर्ष के इतिहास में गुप्तकाल-स्वर्णयुग के नाम से याद किया जाता है, यह समय सुख-ऐश्वर्य, काव्य-कला-साहित्य आदि की दृष्टि से पूर्णतः विकसित था। इसलिए इस काल की रचनायें रस, लालित्य से भरी मिलती हैं, उसी की झलक दृढ़बल के मद्यपान में भी मिलती है—

शरीर का संस्कार करके पवित्र मन से चिन्ता-उद्वेग आदि को निकालकर, उत्तम सुगन्ध, निर्मल वस्त्र धारण करके, तीव्र गन्धवाली माला को पहिनकर, रत्न और आभूषण धारण करके, देवता और श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा करके, दही, आदि मंगल का स्पर्श करके पानभूमि में प्रवेश करे।

पानभूमि—प्रत्येक ऋतु के अनुसार (सब ऋतुओं में सुखदायक), फूलों से सजी, प्रियाओं से सम्मत, धूप की सुगन्ध से सुगन्धित स्थान में जाकर, अच्छी प्रकार बिछाये, लम्बे-चौड़े आसन या शय्या पर तकिये के सहारे जरा तिरछा बैठे अथवा जिस प्रकार बैठने से सुख अनुभव हो, उस आसन से बैठे।

पात्र—मद्य के लिए पात्र—सोने-चाँदी या पत्थर (मणिमय) के बने, अच्छे, सुन्दर कटाव के बनाये होने चाहिये।[२]

मद्यपान की संगिनी स्त्रियाँ—रूप और यौवन से मस्त बनी, विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त की हुई, ऋतु के अनुसार माला, वस्त्र और आभूषण पहने हुए, मन से शुद्ध (निश्छल), स्नेह करनेवाली, इधर-उधर चहल-पहल करती हुई, मन के लिए प्रिय-(मनोनुकूला) स्त्रियों के साथ मद्य पिये।[३]

---

१. अष्टांग संग्रह-चिकित्सास्थान-मदात्यय, अ० ९। चरक संहिता चि० अ० २४।११–२०।

२. अष्टांग संग्रह में पात्र का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है—

"मणिकनकसमुत्थैरावनेयैर्विचित्रैः"—चि० अ० ९।

३. संग्रह में स्त्रियों के वस्त्रों के लिए लिखा है "सजलविविधलेखाक्षौमवस्त्रावृत्तांगैः"—झीने-महीन वस्त्रों पर कलाबत्तू सोना-चाँदी से नाना प्रकार के पक्षी निकले वस्त्र को पहने हुए।

भोजन—मद्य के अनुकूल नाना प्रकार के फल, मूली-लहसुन आदि हरी-ताजी खाई जानीवाली वस्तुएँ, राई-सरसों आदि तीक्ष्ण गन्धवाली वस्तुएँ, नमक, चटनी, तेज मसाले, ऋतु के अनुसार तैयार किये भक्ष्य, पृथ्वी-आकाश-जल में विचरनेवाले पशु-पक्षियों के मांस से बनाये नाना प्रकार के भक्ष्य, रसोइये लाकर परोसे।[1]

विधि—मद्यपान से पूर्व प्रथम देवताओं को मद्य चढ़ाकर (पूजा करके), स्वस्तिवाचन पढ़कर, याचकों को तथा पृथ्वी पर जलमिश्रित मद्य देकर मद्यपान की संगिनी स्त्रियों के साथ बैठ कर मद्य पिये। मद्यपान का इतना सुन्दर वर्णन करने के पीछे अन्त में कहा है कि—"जो मनुष्य मद्य नहीं पीता, जितेन्द्रिय है, उसको शारीरिक और मानसिक रोग नहीं होते।"[2] इससे इतना अनुमान होता है कि सामान्यतः मद्यपान का निषेध था, परन्तु राजा या सम्पन्न-ऐश्वर्यशाली धनी व्यक्ति मद्य पीते थे, इसलिये उसकी विधि बताई। विधिपूर्वक पी हुई सुरा-अमृत के समान है, इसलिये उस विधि का वर्णन चरक में मिलता है (तां सुरां विधिना पिबेत्)।

मद्य-(मद करने से) एक प्रकार का होने पर भी योनि-संस्कार बनाने की प्रक्रिया भेद से नाना प्रकार का होता है, इसके कई नाम हैं। प्रसन्ना (सुरा का ऊपर का भाग) सुरा, मैरेय, वारुणी—ये भेद इनके बनाने की प्रक्रिया भेद से हैं।

ताम्बूल सेवन—वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में ताम्बूल खाने का उल्लेख किया है—नागरिक को चाहिये कि वह घर से बाहर जाते समय पान का बीड़ा मुख में लेकर बाहर निकले।[3] कादम्बरी में भी बाण ने शूद्रक के विषय में भी पान खाकर सभा में जाने का उल्लेख किया है। चरक संहिता में ताम्बूल सेवन एक आवश्यक वस्तु बताई।[4] ताम्बूल सेवन से मुख सुगन्धित होता है। ताम्बूल

---

१. संग्रह में कहा है कि मांस मद्य की सहायता पाकर ही पचता है, बिना मद्य के मांस गुणकारी नहीं होता (यथाग्निभक्षयेन्मांसं माधवं निगदं पिबेत)।

२. चरक चि० अ० २४।२०६।

३. कामसूत्र १।१६-१७।

४. चरक सू० अ० ५।७७।

के साथ में जायफल, जावित्री, सुपारी, लवंग, कबाब चीनी, कर्पूर आदि भी मुख वास के लिये बरते जाते थे।

उपसंहार—चरक संहिता के समय समाज चार वर्गों में बँटा हुआ, पाँचवा वर्ग अन्त्यज भी था, परन्तु इसका उल्लेख मुख्य रूप से नहीं है। शूद्र को मंत्रभाग का अधिकार नहीं था। शेष तीनों वर्गों में कोई भेद नहीं था। वर्ण शब्द का अर्थ—गौर-श्याम अदि वर्ण थे। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि वर्ण जन्म से माने जाते थे या कर्म से, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। जाति शब्द का अर्थ जन्म था, वर्ण नहीं।

विवाह का कोई बन्धन नहीं दीखता, इस के लिये कोई आयु या संस्कार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सन्तानोत्पति में गोत्र का विचार होता था। सगोत्र स्त्री में सन्तानोत्पत्ति निषिद्ध थी—इसके सिवाय पुत्रोत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी सूचना नहीं थी।

पुत्र का महत्त्व था, विना संतान का पुरुष—सूखे हुए तालाब के समान या एक शाखा वाले वृक्ष की भाँति होता था। बहुत संतान वाला पुरुष प्रशस्त, धन्य माना जाता था।

धन कमाने के लिये भिन्न-भिन्न पेशे थे, इनमें बहुत से पेशों के नाम स्पष्ट हैं। उस समय भी मनोविनोद की सामग्री थी—उस समय का जीवन नीरस या केवल तत्त्वचिन्तक का जीवन नहीं था, शरीर के प्रसाधन, उसके बनाव आदि का पूरा ध्यान रखा जाता था। मद्यपान धूमपान-ताम्बूल सेवन उस समय के सुखमय जीवन को बताते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से अरण्यवास-वस्ती से दूर रहना पसन्द करते थे।

द्यूत—द्यूत शब्द चरक संहिता में कई स्थानों में आता है। द्यूत सभा में बैठा व्यक्ति जब उपस्थित वात, मूत्र, पुरीष के वेगों को रोकता है; तब उस में वायु कुपित होता है।[१] सद्वृत्त में द्यूत का निषेध किया है।[२]

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ ये दो ही आश्रम थे—इस रूप में श्रमण संस्कृति की

१. चरक निदान-स्थान छठा—शोषरोम का सन्धानकारण।

२. चरक सूत्रस्थान अध्याय ८।

झलक चरक में दीखती है। इन दो आश्रमों में प्रवेश के लिये आचार्य के पास जाना आवश्यक था। आचार्य उसको उसके कर्त्तव्यों का उपदेश देता था। वानप्रस्थ जीवन का उद्देश्य मोक्ष था, निवृत्ति मार्ग की ओर जाना था—इस मार्ग में चलने से मनुष्य मुक्त होता था। मुक्ति का अर्थ कर्मबन्ध, कर्मफलों से मुक्त होना था।

चौथा अध्याय

गार्हस्थ जीवन

स्त्रियों की स्थिति, बच्चों का लालन-पालन और मनोविज्ञान—चरक संहिता में वर्णित ऋतुचर्या एवं दैनिक कार्यों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि ये कार्य गृहस्थ व्यक्ति के उद्देश्य से कहे हैं। स्त्रियों के प्रति बर्ताव, अतिथि सत्कार, सद्वृत्त एवं समाज के बरतने के नियम आदि ऐसी बातें हैं, जो कि गृहस्थ व्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरण के लिये आँखों में अंजन आँजना एक दैनिक कार्य है, जो कि स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। ब्रह्मचारी के लिये आँख में अंजन आंजना मना किया है।[1]

स्वास्थ्य की दृष्टि से किये जाने वाले कार्यों का उल्लेख चरक संहिता में तीन रूपों में हुआ है—

१—प्रतिदिन के कार्य

२—ऋतु सम्बन्धि कार्य

३—सद्वृत्त सम्बन्धी कार्य

इसमें प्रथम दो कार्य शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, और तीसरे का सम्बन्ध मन से अधिक है। आयुर्वेद में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की स्वस्थता-आरोग्य सम्बन्धी उल्लेख है। क्योंकि रोग भी शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार के हैं।[2]

दैनिक कार्यों का सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रायः रहता है, ऋतु सम्बन्धी कार्यों का पालन प्रायः गृहस्थ के लिये है, सद्वृत्त सम्बन्धी कार्य ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ सबके लिये कहे हैं—जिसके विषय में जो उपयोगी हो, उसको

१. कौशीलवन्धाञ्जनानिवर्जय (गाना बजाना—सुगन्ध और अंजन छोड़ दे) संस्कारविधि, वेदारम्भ प्रकरण।

२. चरक० वि० अ० ६।३।

वह करे। इन कार्यों को ठीक प्रकार करने से मनुष्य को रोग नहीं होते, उसका आरोग्य बना रहता है। इसी से चरक संहिता के ५ से ८ अध्याय स्वस्थचतुष्क नाम में कहे जाते हैं।

दैनिक कार्य—चरक में जागने का समय प्रातःकाल या उपव्यूष कहा है। चक्रपाणि ने उपव्यूष का अर्थ कुछ रात्रि शेष रहना किया है।[1] अष्टांग संग्रह में इसको ब्राह्ममुहूर्त्त नाम दिया है। उठने का यह समय ब्रह्मचारी के लिये कहा है। दैनिक कार्यों में जागने का कोई समय नहीं बताया। उठकर शौच कार्य से निवृत्त होना चाहिए। इस कार्य के सम्बन्ध में अष्टांग संग्रह में विस्तृत जानकारी दी है।[2]

'मल का वेग उपस्थित होने पर मल त्याग करना चाहिए। मलत्याग में दिन के समय मुख उत्तर की ओर रात्रि में दक्षिण की ओर रखना चाहिये। बोलना नहीं चाहिए, अंगो को ढाँपकर और शिर को लपेट कर बैठना चाहिए। मल को स्वतः प्रवृत्त होने देना चाहिए, इसके लिए बल प्रयोग न करे। अपवित्र स्थान में, रास्ते में, मिट्टी या गोबर अथवा राख के ढेर पर, गायों के बैठने के स्थान में, गोबर से लेपे स्थान पर मल त्याग न करे। नगर-बस्ती के समीप, वल्मीक, बाग-बगीची, हल चलाये स्थान में, पीपल आदि चैत्य वृक्षों के पास मलत्याग न करे। इसी प्रकार स्त्री, पूज्य व्यक्ति, गाय, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल की ओर मुख करके मल त्याग न करे। भूमि को तिनके आदि से ढाँपकर मल त्याग नहीं करना चाहिए। भय और अशक्ति में—इन नियमों में अपवाद भी हो सकता है।'

'मलत्याग के पीछे मलायन-गुदामार्ग को मिट्टी और जल से साफ करना चाहिये (दुर्गन्ध को दूर करने के लिये अकेला पानी पर्याप्त नहीं होता। मिट्टी के तेल की गन्ध पानी या साबुन से उतनी अच्छी तरह नहीं जाती, जितनी मिट्टी से मलने पर जाती है, मिट्टी शुष्क लेनी चाहिये)। मिट्टी में कंकरी, पत्थर

---

१. चरक० वि० अ० ८।७।

२. संग्रह सू० अ० ३।३-९। इस विषय में इनसे मिलने वाले नियम धर्मशास्त्रों में भी मिलते हैं—धर्मशास्त्र का इतिहास [हिन्दी अनुवाद]—पृष्ठ ३६०।

आदि कोई शल्य नहीं होना चाहिये। मिट्टी साफ स्थान की और दुर्गन्ध रहित होनी चाहिये। मिट्टी से शुद्धि करके पात्र में जल लेकर उससे शुद्धि करे। शुद्धि में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पानी के छीटें—पाँव आदि पर न पड़ें। मल की गन्ध तथा मल पूर्णतः साफ कर देनी चाहिये।'

ये दोनों कार्य स्वाभाविक ही है, प्रातः काल में जागना एवं मलत्याग की प्रथा विषय में सम्भवतः लिखने की जरूरत नहीं हुई।

अंजन कार्य—चरक संहिता में अंजन का दैनिक कार्यों में सबसे पहले उल्लेख है।[१] संग्रह में मुखशुद्धि, दन्तधावन, स्नान आदि कार्यों के पीछे इसकी सूचना है। सब इन्द्रियों में आँख प्रधान है, इसलिये इसको पहले कहा है, यह ज़ो युक्ति चक्रपाणि ने दी है, वह बहुत हृदयंगम नहीं है।

अंजन दो प्रकार का है (१) सौवीरांजन और (२) रसांजन। सौवीरांजन नाम से स्पष्ट है कि यह सुवीरा नदी और सौवीर प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। सिन्धु और सौवीर ये जुड़े हुए दो जनपद थे, जिस प्रकार से कुरु और पांचाल, अंग और बंग। सौवीर प्रान्त आजकल का डेरा इस्माईल खाँ का भाग था। इस भाग में आज भी सुरमे का रिवाज विशेष है। भारतवर्ष में आज भी डेरा इस्माईल खाँ का सुरमा बिकता है।

सौवीरांजन तीक्ष्ण नहीं होता, इसलिये इसको प्रतिदिन बरतना चाहिए। जिस प्रकार कि धोने-पोछने से स्वर्ण की शुद्धि होती है, उसी प्रकार से अंजन लगाने पर आँख निर्मल हो जाती है।[२]

दूसरा अंजन रसांजन था। रसांजन से आजकल रसौंत लेते हैं। इसको बनाने के लिये दारू हल्दी का क्वाथ करते हैं। इस क्वाथ में दूध मिलाकर इसको घद बनाते हैं, यही रसांजन है।[३] इस अंजन को तीक्ष्ण बताया है; इसलिये प्रतिदिन न लगाकर पाँचवें-छठे दिन रात्रि में इसको बरतना चाहिए। दिन में लगाने से आँखों से पानी निकलने पर आँख कमजोर हो जाती है, इससे सूर्य

---

१. चरक० सूत्र० अ० ५:१५।

२. अंजन के विषय में अत्रिदेव विद्यालंकार की 'प्राचीन भारत के प्रसाधन' पुस्तक पृ० ६४-६८ देखें।

३. वही, पृ० ७३।

का प्रकाश हानि करता है। रसांजन से रसौंत का बना यह अंजन अभिप्रेत है या दूसरा—यह अभी निश्चित नहीं। परन्तु रसांजन से रसौंत ही का व्यवहार चलता है।

धूमपान—धूमपान की सामान्य सूचनायें पिछले अध्याय में आ गई हैं। धूमपान यदि विधिपूर्वक नहीं किया जाये तो इससे हानि भी होती है, 'धूम के अधिक पीने से या असमय में पीने से बधिरता, अन्धत्व, गूंगापन, नाक-मुख से रक्त आना, शिर में चक्कर आ जाता है। इस अवस्था में नस्य, अंजन आर तर्पण (सत्तू को पानी में घोल कर अथवा अनार का रस या द्राक्षा का शर्बत) देना चाहिये।'

कुछ अवस्थायें ऐसी भी हैं, जिनमें धूम निषिद्ध है, यथा—विरेचन लेने पर, वस्ति कर्म करने पर, रक्त निकालने पर, विष से पीड़ित, गर्भावस्था में, रात्रि में जागरण करने पर, क्षीण या उरःक्षत अवस्था में, रक्तपित्त रोग में, नेत्ररोग में, शंखक शिरोरोग में धूम नहीं पीना चाहिए।

नस्य—नाक से दी जाने वाली वस्तु नस्य है। यह चूर्ण, तेल के रूप में नासा में देते हैं। शिर का द्वार नासा ही है, इसलिये नासा से दी हुई वस्तु शिर में पहुँचती है (नासा में—नथुओं में घ्राण नाड़ी की हजारों शाखायें अपने प्रतानों से फैली हैं, ये शाखा-प्रशाखाएँ त्वचा में उत्तान–ऊपर ही हैं, इसलिए सरदी-गरमी का असर नाक से और कान से जल्दी होता है। इनको बचाते हैं। तेल डालने से सरदी का प्रभाव नहीं होता—जिस प्रकार तेल लगी लकड़ी पर पानी का प्रभाव नहीं होता)।

नस्य के लिए अणु तेल का विधान किया है। इस तेल में बकरी के दूध की मात्रा बहुत अधिक है। नासा के द्वारा नस्य लेने पर यह शिर के अणु-अणु में फैल जाता है (जिस प्रकार से नाक से सूँघी सुगन्ध सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है)।[1]

नस्य कर्म करने से नेत्र के, कान के, नासिका के रोग नहीं होते, असमय में बाल भी नहीं पकते, नहीं झड़ते। नस्य प्रतिदिन करना चाहिए। नस्य तब

---

१. चरक० सू० अ० ५।६३-६९।

करना चाहिए, जब आकाश निर्मल हो, बादल, कोहरा न फैला हो, सूर्य चमकता हो।

दतवन—दातौन का विधान रोगी और स्वस्थ दोनों के लिए है। ज्वर में मुख की विरसता को दूर करने के लिए मुख के स्वाद के विपरीत रस की दातून करनी चाहिये। दातौन का समय भोजन से पूर्व है, इससे मुख की शुद्धि होकर भोजन में रुचि होती है।[१]

दातौन प्रातः और सायंकाल दोनों समय करनी चाहिये। दातौन के लिए कुछ वृक्षों का निर्देश किया है; यथा—नीम, करंज, बरगद आदि। दातौन ऐसे वृक्ष की लेनी चाहिये, जिसकी कूची बन सके, नरम रहे। दातौन करते समय मसूड़ों को बचाना चाहिये। सुश्रुत में दातौन के विषय में अधिक जानकारी दी है,[२] उसके अनुसार एक-एक दाँत को साफ करना चाहिये। दातौन करने के पीछे तेजोवली (तेजवल) के मंजन से दाँत साफ करने चाहिये।

जिन रोगों में या जिन मनुष्यों के लिए दातौन अच्छी नहीं, उसका भी उल्लेख किया है; यथा—गले, तालु-ओष्ठ, जिह्वा के रोगों में, श्वास, कास, हिक्का, वमन में, मूर्छा आने में, शिरोवेदना में दातौन नहीं करनी चाहिये।[३]

---

१. वही, चि० अ० ३।१५७-१५९।

२. सुश्रुत चि० अ० २४।४-१२। "दातून की लम्बाई, वृक्ष, दिन एवं अवसर के विषय में विशेष नियम धर्मशास्त्र में दिये गये हैं। वट, असन, अर्क, खदिर, करंज, वदर, सर्ज, निम्ब, इरिमेद, अपामार्ग आदि उत्तम माने गये हैं। टहनियाँ स्वाद में कषाय, तिक्त एवं कटु होनी चाहिए। पलाश, श्लेष्मातक, अरिष्ट, विभीतक, धाव, बन्धूक, निर्गुण्डी, तिन्दुक आदि की दातुन करनी चाहिए।"—'धर्मशास्त्र का इतिहास' (हिन्दी अनुवाद), पृ०—३६३।

३. (क) बृहत् संहिता में दातौन बनाने और उसके लाभ लिखे हैं, उसके अनुसार—
वर्णं प्रसादं वदनस्यकान्ति वैशद्यमास्यस्य सुगन्धितां च।
संसेवितुं श्रोत्रसुखां च वाचं कुर्वन्तिकाष्ठान्यसकृद्भवानाम् ॥(बृहत् संहिता,७७।३४)

(ख) 'विष्णु धर्मसूत्र' (६१।१६-१७) के अनुसार दातौन की लम्बाई बारह अंगुल और कनिष्ठिका के बराबर मोटी होनी चाहिये। लम्बाई के विषय में कई मत हैं—'धर्मशास्त्र का इतिहास' (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ३६४।

जीभ के मैल को निकालने के लिए सोना, चाँदी, ताम्र, राँगा, पीतल की जीभी बरती जाती थी। दातौन करने से मसूड़ों का व्यायाम होता है।

ताम्बूल—ताम्बूल का सेवन कब से प्रारम्भ हुआ है, इसकी कोई जानकारी नहीं। देव-पूजा में भगवान् को ताम्बूल पत्र और सुपारी का समर्पण किया जाता है। आयुर्वेद और कामसूत्र में ताम्बूल सेवन का उल्लेख स्पष्ट रूप से मुख की सुगन्धि की दृष्टि से ही किया दीखता है। ताम्बूल में रखा कपूर (पीपरमेण्ट) आदि सुगन्ध मुख-नाक में फैल जाती है। पान में जावित्री, कस्तूरी इलायची, सुगन्धित वस्तुएँ रखी जाती हैं। पान से मुख की विशदता, श्वास में सुगन्धि आती है।[1]

संग्रह में पान के पत्ते का उल्लेख किया है, पान का पत्ता पीला होना चाहिये—

शकांगनागण्डतलाभिपाण्डु ताम्बूलपत्रं परिवारशोभि।
प्रसाधनं स्त्रीमुखपंकजानां यदायुधं मूर्त्तमिवात्मजस्य॥ अ. सं. उत्तर. अ. ५०

तैल गण्डूष—इसका अभिप्राय मुख में तेल रखने से है। इसमें प्रायः तिल तेलका उपयोग होता है। तिल दाँतों को मजबूत करते हैं। दुर्गन्ध को दूर करने के लिये तेल उत्तम है। तैल गण्डूष करने से हनु में बल आता है, कपोल पुष्ट होते हैं स्वर में दृढ़ता आती है, खट्टे रस से भी दाँत कसते नहीं, ठण्डे या गरम पानी का इन पर कोई असर नहीं होता, दाँत गिरते नहीं, इनमें कीड़ा नहीं लगता, तैल गण्डूष करने से मनुष्य कठिन वस्तु को भी खा सकता है।

तैल का अभ्यंग—जिस प्रकार तैल लगाने से जूता या चमड़ा, मिट्टी का घड़ा दृढ़ हो जाता है, उसी प्रकार से शरीर पर तैल का अभ्यंग करने से शरीर दृढ़ हो जाता है। शिर पर तैल लगाने से बाल सफ़ेद नहीं होते, बाल गिरते नहीं, शिर में दर्द नहीं होता, शिर और कपाल की अस्थियों का बल बढ़ता है, नींद भी भली प्रकार से आती है।

कान में तेल डालने से वायु से होने वाले रोग—बहरापन, कान में दर्द, कान में आवाज आना आदि रोग नहीं होते, ग्रीवा में अकड़ना (मन्दाग्रह),

---

१. 'प्राचीन भारत के प्रसाधन'—पृ० ७९।

ऊँचा सुनना नहीं होता। कान-शिर और पैर के तलुओं पर प्रतिदिन तैल लगाना चाहिये।

शरीर पर तैल मलने से अंग दृढ़ होते हैं, त्वचा कोमल और सुन्दर बनती है, वायु की पीड़ा शान्त होती है, त्वचा श्रम-थकान की अभ्यासी बन जाती है। स्पर्श ज्ञान में कारण वायु है, वायु का आश्रय स्थान त्वचा है, इसलिए शरीर की त्वचा पर किया तैल का अभ्यंग वायु के लिये हितकारी है। इसको नित्य-प्रति करना चाहिये। पैरों पर तैल मलने से पैरों में खरता-रूक्षता, कर्कशता थकान जल्दी दूर हो जाती है। पैरों में तैल लगाने से पैर कोमल और दृढ़ बनते हैं, फटते नहीं; वायु शान्त होती है, पैरों की स्नायु और सिराओं में संकोच नहीं होता।

मुख प्रक्षालन—सुश्रुत में मुख को धोने के लिये भिल्लोदक-लोध्र का पानी (कषाय) बताया है। संस्कृत साहित्य में लोध्र रज को कपोलों पर लगाना बताया है। लोध्र का उपयोग पार्वती के प्रसाधन में भी हुआ है।[१] लोध्र के सिवाय आँवले का पानी भी बताया है।[२]

स्नान—प्रतिदिन स्नान करने से शरीर की दुर्गन्ध, भारीपन, तन्द्रा, आलस्य, मैल-पसीना नष्ट होता है। स्नान करना पवित्र, आयुवर्धक, बल देने वाला और वृश्य है।

स्वच्छ वस्त्र—मनुष्य को सदा साफ सुथरे वस्त्र पहनने चाहिये। साफ होने के साथ वस्त्र फटा नहीं होना चाहिये। निर्मल वस्त्रों को धारण करने से यश बढ़ता है, सभा-समाज में आदर मिलता है; मन प्रसन्न रहता है, सौभाग्य में वृद्धि होती है।

सुगन्ध और माला का धारण करना—चरक के समय का नागरिक शरीर पर सुगन्ध लगाता था, गले में माला धारण करता था। रत्नों को धारण करता था, रत्न को हाथ में धारण करके भोजन करने का विधान चरक में है। कुछ रत्नों के विषय में यह मान्यता थी कि ये रत्न विष का नाश करते हैं[३]।

---

१. 'प्राचीन भारत में प्रसाधन'—पृ० ७६।

२. सुश्रुत चि० अ० २४।१५-१६।

३. चरक० चि० अ० २४।२५२-२५३।

शीत ऋतु में कस्तूरी और अगरू का और ग्रीष्म ऋतु में चन्दन का लेप किया जाता था।[1]

सुगन्ध और माला का धारण करना वृष्य, आयुवर्धक, पुष्टि और बल को देता है। मन को प्रसन्न करता है। पाप और दौर्भाग्य को दूर करता है। रत्न और आभूषणों का पहनना धन्य, मांगलिक, आयुवर्धक है और आपत्तियों को दूर करता है। रत्नों के धारण करने से ओज बढ़ता है, हर्ष उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य का चिह्न है।[2]

प्रसाधन—नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने वस्त्रों तथा बालों का भी ध्यान रखे। उसे बाल संवार कर रहना चाहिए (प्रसाधित केशः)। केश, श्मश्रु और नखों को समय-समय पर कटवाना चाहिए। इस प्रकार रहने से रूप निखरता है, आयु बढ़ती है, वृष्यता प्राप्त होती है, ये कर्म पवित्र हैं।

पैरों में जूता पहनने से आँखों की दृष्टि को लाभ होता है, त्वचा के लिये लाभकारी है, काँटे आदि से पैर की रक्षा होती है।

छत्र का धारण करना कल्याणकारी है, यह धूप-वायु-धूल और वर्षा से बचाता है, ईतियाँ (दैवी व्यापद्), और अन्य बाधाओं से रक्षा करता है (अत्रिपुत्र ने कहा है कि रात्रि में छाता लेकर तथा हाथ में फटा बाँस (झर्झर-खुर्खुरक-छड़ी के नीचे लोहा लगाकर, जिससे आवाज आये) लेकर चले। इसकी छाया और शब्द से डरकर साँप भाग जाते हैं।[3]

दण्ड का धारण करना गिरने से बचाता है, शत्रुओं के लिये भय का स्थान है, बल देता है, एक प्रकार से सहारा है, साँप आदि से रक्षा करता है।

व्यायाम—जिस शारीरिक चेष्टा से आयास-श्रम होता हैं, उस कर्म का नाम व्यायाम है। इसको प्रतिदिन करना चाहिए। इसे सदा मात्रा में करना चाहिए। मात्रा से अधिक करने पर बहुत से रोग होते हैं। इसको करके शरीर को मलना चाहिए। व्यायाम से शरीर में हल्कापन आता है, कार्य करने में

---

१. इस विषय में 'प्राचीन भारत के प्रसाधन'—पृ० १५६ देखें।

२. चरक सू० अ० ५।९५-९७।

३. वही, चि० अ० २३।२५०।

उत्साह, शरीर में स्थिरता आती है, अग्नि बढ़ती है, दोषों का क्षय होता है कष्टों को सहने की क्षमता आती है।

सुश्रुत में व्यायाम को स्नान से पूर्व बताया है, व्यायाम की मात्रा निश्चय करने के लिए बहुत सरल सूत्र दिया है, उसके अनुसार हृदय में स्थित वायु जब मुख में आने लगे (मनुष्य नाक से श्वास लेना बन्द करके मुख से श्वास लेने लगे—हाँपने लगे), तब व्यायाम बन्द कर देना चाहिये। अधिक मात्रा में व्यायाम करने से क्षय, उरःक्षत, कास, शोष, ज्वर, श्वास आदि रोग हो जाते हैं।[1]

इसके सिवाय उद्वर्त्तन, उद्धर्षण, फेनक का उपयोग भी सुश्रुत में बताया है। उद्वर्तन और उद्धर्षण से त्वचा में स्थित अग्नि में (भ्राजक पित्त) दीप्ति कान्ति आती है, शिराओं का मुख खुलता है।

उद्धर्षण—से अभिप्राय-ईंट के झाँवे या तोरी की सूखी जाली-खड़के से, या स्पंज से शरीर को रगड़ना है।

उद्वर्त्तन—चने के आटे में तेल या दही मिलाकर मलना, मसूर की दाल को दूध में पीसकर शरीर पर मलना है।

फेनक—रीठे के पानी से, शिकाकाई के पानी से बालों को धोना या बेरी के पत्तों को पानी में मथकर धोना है। फेनक का उल्लेख कामसूत्र में आया है, वहाँ पर इसको तीसरे दिन बरतने के लिये लिखा है।[2] फेनक से अभिप्राय शेम्पू से है।

चरक संहिता का नागरिक वात्स्यायन के नागरिक की भाँति अपने शरीर के प्रति सावधान रहता था। उसको जहाँ अपने आरोग्य का ध्यान था, वहाँ साथ ही सभ्य समाज के प्रसाधन का भी पूरा विचार था, वह तेल, सुगन्ध माला को पहनता था, साफ-धुले वस्त्र धारण करता था, मांगल्य चिह्नों में रत्नों को भी धारण करता है; पान और धूमवर्त्ति का भक्त था। अत्रिपुत्र ने कहा है कि नगर रक्षक जिस प्रकार से नगर की रक्षा के प्रति सदा जागरूक रहता है,

---

१. सुश्रुत चि० अ० २४।३८-५१।

२. 'कामसूत्र' : वात्स्यायन, १।१७।

उसी प्रकार से मनुष्य को भी अपने स्वास्थ्य के लिए सदा सावधान रहना चाहिये। रथी जिस प्रकार से अपने रथ की सदा देखभाल करता रहता है, उसी प्रकार से मनुष्य को अपने शरीर की सदा देखभाल करनी चाहिये (अथर्ववेद में इस शरीर को 'पुर' नाम से याद किया है, इसको देवताओं का पुर कहा है—'देवानांपुरयोध्या'–अथर्व०)।

ऋतुचर्या—संवत्सर-वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं–शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त। इसमें प्रथम तीन ऋतुएँ सूर्य का आदान काल हैं और पिछली तीन ऋतुएँ सूर्य का विसर्ग काल हैं। इसी से कालिदास ने कहा है—"आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव"—बादल जो पानी ग्रीष्म में सूर्य की किरणों द्वारा पृथ्वी से लेते हैं, वे समय आने पर पुनः पृथ्वी को दे देते हैं। मुख्य रूप से शीत, उष्ण-ग्रीष्म और वर्षा—ये तीन ऋतुएँ हैं। शेष ऋतुएँ सामान्य हैं।

चरक में ऋतु-विभाग दो रूप से मिलता है, एक संशोधन की दृष्टि से और दूसरा ऋतुचर्या की दृष्टि से। संशोधन की दृष्टि से—आषाढ़-श्रावण से प्रावृट्, भाद्रपद और आश्विन से वर्षा, कार्तिक और मार्गशीर्ष से शरद, पौष और माघ से हेमन्त, फाल्गुन और चैत्र से वसन्त; वैशाख और ज्येष्ठ से ग्रीष्म[1]। ऋतुचर्या की दृष्टि से—चैत्र और वैशाख वसन्त, ज्येष्ठ और आषाढ़ ग्रीष्म, श्रावण और भाद्रपद वर्षा, आश्विन और कार्तिक शरद्, मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त, माघ और फाल्गुन शिशिर—यह विभाग ऋतुचर्या की दृष्टि से हैं।[2] सुश्रुत में भी ये दोनों क्रम मिलते हैं।[3]

वसन्त ऋतुकी ऋतुचर्या—वसन्त ऋतु से पहली ऋतु शिशिर और हेमन्त है। इन ऋतुओं में कफ का संचय होता है। यह संचय वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से पिघलता है। इसलिये कफजन्य रोग होते हैं (जैसे चेचक, टायफाईड आदि रोग जिनमें दाने निकलते हैं)। इसलिये वसन्त में वमन आदि संशोधन करने चाहियें। इस ऋतु में गुरु-अम्ल-मधुर-स्निग्ध पदार्थ न खाये, दिन में न सोये (कफ को बढ़ानेवाला आहार-विहार न करे), चन्दन और अगरू का लेप

१. चरक—सि० अ० ६।५

२. वही, सूत्र० अ० ६।६–७।

३. सुश्रुत सूत्र अ० ६।६,१०।

करे, जौ और गेहूँ का भोजन करे, मद्य पिये, जंगलों में भ्रमण करे। कफ को कम करे—व्यायाम, उद्वर्त्तन, धूमपान, अंजन ये कार्य विशेषतः करे।

ग्रीष्म ऋतु में—सूर्य की प्रखर किरणें शरीर का स्नेह पी रही होती हैं शरीर का द्रवभाग कम हो रहा होता है, इसलिये मधुर, शीतल, द्रव, स्निग्ध, खान-पान उत्तम है। पानी में घोला सत्तू, अनार-फालसा-द्राक्षा का रस पीना चाहिये, शालि भात, घृत, दूध पिये। इस ऋतु में मद्य नहीं पीना चाहिये, मद्य पीना हो तो थोड़ा या बहुत मात्रा में पानी मिलाकर पिये। दिन में शीत गृह में सोये और रात्रि में छत पर चन्द्रमा की ठण्डी किरणों में सोये। शरीर पर चन्दन का लेप करे, मणि-मुक्ता को धारण करे, घने ठण्डे जंगल, शीतल जल, शीतल फूल (केवड़ा आदि) का सेवन करे, इस ऋतु में स्त्री सेवन का निषेध है।

वर्षाकाल में—जठराग्नि मन्द हो जाती है, इसके दो कारण हैं, एक तो ग्रीष्मकाल के आदान काल होने से उसी समय से भूख कम होने लगती है, दूसरा इस ऋतु में पानी-वायु के दूषित होने से अग्नि और भी कम हो जाती है। पृथ्वी की नमी से, वायुमण्डल की आर्द्रता, जल का अम्लपाक होने से, अग्नि के कम होने से वात आदि दोष कुपित होते हैं। इसलिये पानी में घुला सत्तू, दिन में सोना, ओस-खुले आकाश में सोना, नदी का जल, व्यायाम करना, धूप का सेवन, स्त्री सेवन छोड़ देवे। इस ऋतु में उद्घर्षण, उद्वर्त्तन, स्नान, सुगन्ध लगाना अधिक करना चाहिये। इस ऋतु में हल्के, श्वेत-धुले-सूखे (पसीने को चूसने वाले) वस्त्र पहनने चाहिये।

शरद्-ऋतु में—इस ऋतु में निरभ्र मेघ के कारण सूर्य की किरणों से पित्त का प्रकोप होता है (इसी से इस समय मलेरिया ज्वर होता है)। इसलिये मधुर, तिक्त, लघु, शीतल खान-पान करना चाहिये। दिन में सोना, धूप, दधि, सामने की वायु को छोड़ देना चाहिये।

हंसोदक—इस ऋतु में हंसोदक का व्यवहार सब कार्यों में करना चाहिये। दिन में सूर्य की किरणों से संतप्त और रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल बना, अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से निर्मल हुआ पानी हंसोदक कहा जाता है। 'अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से पानी में निर्मलता हो जाती है, यह बात प्रसिद्ध

है।[1] ऋग्वेद में हंस का अर्थ सूर्य है, चक्रपाणि ने हंस का अर्थ चन्द्रमा और सूर्य दोनों किया है। संस्कृत साहित्य में यह प्रसिद्ध है कि वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने पर हंस मानसरोवर में वापिस चले जाते हैं ('मेघदूत'-पूर्वमेध-११)। वर्षा समाप्त होने पर पुनः लौट आते हैं। तिब्बत में वर्षा कम होती है, मानसरोवर भी उसी प्रदेश में है। हंसों की भाँति पानी भी निर्मल हो जाता है, इसी से इसको हंसोदक कहते हैं।

हेमन्त ऋतु में—स्वास्थ्य की दृष्टि से शीत ऋतु उत्तम है, इसमें मनुष्य की जठराग्नि प्रबल रहती है, शीतल वायु के स्पर्श से जठराग्नि शरीर के अन्दर ही रुक कर (पसीने का वाष्पीकरण न होने से) बलवान हो जाती है। इसलिये वह गुरु द्रव्यों को पाचन करने में समर्थ होती है। इस ऋतु में भारी-स्निग्ध-घृत वाला मीठा खानपान अधिक खाना चाहिये। मद्य पीना चाहिये। तैल का अभ्यंग, जेन्ताक घर में रहना, धूप, भूमिगृह, अग्नि से गरम घरों का उपयोग करना चाहिये।

इस ऋतु में यात्रा, सवारी, उठना, बैठना, सोना-वस्त्रों से अपने को लपेट कर करना चाहिये। इस ऋतु में बरतने वाले वस्त्रों को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं, यथा—**प्रावार** (भारी वस्त्र-ओढ़ने-उपर लेने के), **अजिन** (मृगचर्म), **कौशेय** (मटका), **प्रवेणी** (बालों से बना), **कुथक** (नमदा, थूलमा आदि—जो कूट कर बनाये जाते हैं)।[2]

शरीर पर अगरू का गाढ़ा लेप करे, भारी और गरम वस्त्र पहने, इस ऋतु में स्त्री सेवन पर कोई रोक नहीं बताई। हल्के, वायुकारक खानपान, सामने की वायु, नियमित या थोड़ा आहार, पानी में घुला सत्तू छोड़ देना चाहिए।

शिशिर ऋतु में—हेमन्त ऋतु की ही ऋतुचर्या बरतनी चाहिए। इसी विधि को अधिक मात्रा में काम में लाना चाहिए। इस ऋतु में थोड़ी वर्षा भी हो जाती है, जिससे शीत बढ़ जाती है, सूर्य का आदान काल प्रारम्भ होने से वायु में रूक्षता, खर स्पर्श आ जाता है। इसलिए वायुरहित, उष्ण घर में

---

१. अत्रिदेव विद्यालंकार लिखित 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद'—पृ० ५५ देखें।

२. घरों और वस्त्रों के सम्बन्ध में इसी अध्याय में पृथक् लिखा है।

रहना चाहिए। इस ऋतु में शीतल, वायुकारक, लघु-हल्के खानपान छोड़ देने चाहिए।

ऋतु सन्धि—दो ऋतुओं के मिलने का नाम ऋतु-सन्धि है। इसमें जाने वाली ऋतु का अन्तिम सप्ताह और आने वाली ऋतु का प्रथम सप्ताह (ये पन्द्रह दिन) ऋतु सन्धि कहलाते हैं। इस समय में पूर्व ऋतु की चर्या को धीरे धीरे छोड़ते हुए अग्रिम ऋतु की चर्या को धीरे धीरे ग्रहण करते जाना चाहिए। सहसा ऋतु के आहार-विहार को छोड़ने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।[1]

ऋतुचर्या का विचार काल के कारण है, काल भी रोगों का एक कारण है; काल का नाम है परिणाम, क्योंकि यह प्रतिक्षण परिणमित होता रहता है (हेतुस्तृतीयः परिणामकालः—चरक शा० अ० २)। एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, बराबर गतिमान रहता है। इसलिए काल के कारण होने वाले रोगों से बचने के लिए, आहार-विहार (रहन-सहन) का उल्लेख किया है।

आयुर्वेद शास्त्र के दो ही प्रयोजन हैं—(१) स्वस्थ व्यक्ति के आरोग्य को बनाये रखना और (२) रोग से आक्रान्त व्यक्ति को रोग से मुक्त करना। इसमें स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये शारीरिक दृष्टि से दैनिक-चर्या और ऋतु-चर्या का उल्लेख किया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व—इस ऋतु-चर्या एवं दैनिक-चर्या के उल्लेख से उस समय के नागरिक जीवन की झाँकी मिल जाती है। इस समय का नागरिक नाना प्रकार के ऊनी वस्त्रों को, वर्षा में हल्के, श्वेत वस्त्रों को (मलमल की भाँति के आजकल के पतले महीन वस्त्र) पहनता था। ऊँचे मकान की छतों पर गरमियों में रहता था। वसन्त की चर्या में जंगलों में घूमना, नदियों के कलरव का आनन्द लेना भी शामिल था। घर भी कई प्रकार के बनते थे। भिन्न-भिन्न ऋतुओं का प्रसाधन—शरीर पर कस्तूरी-चन्दन-अगरू का लेप करता था; माला, सुगन्ध धारण करता था।

सद्वृत्त—सद्वृत्त का सम्बन्ध मन के साथ है। सद्वृत्त में ही आचार रसायन का समावेश है। सद्वृत्त का अर्थ शिष्टजनों का आचरण है, जिसे

---

१. अष्टांग संग्रह—सूत्र० अ० ४।७१।

शिष्टाचार कह सकते हैं। शिष्टाचार पालन करने के दो लाभ हैं—(१) आरोग्य और (२) इन्द्रियजय।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन्द्रियजय का लाभ बताते हुए लिखा है "विद्या और विनय, ये इन्द्रियजय के कारण हैं; मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष का त्याग करना चाहिए। यह सम्पूर्ण शास्त्र इन्द्रियजय के लिये है। इसके विरुद्ध बरतने पर, इन्द्रियों के वश में रहने वाला, चारों समुद्रों पर शासन करने वाला राजा भी अवश्य नष्ट हो जाता है।"[१]

सद्वृत्त से मुख्यतः मानसिक आरोग्य का सम्बन्ध है। सद्वृत्त के पालन से मन-आत्मा-इन्द्रिय इन तीनों पर प्रभाव होता है। आत्मा, इन्द्रिय का सम्बन्ध मन से है, इसलिए इस वृत्त का सम्बन्ध मुख्यतः मन के साथ है।

सद्वृत्त के कई विभाग हैं; यथा—

(१) वैयक्तिक स्वस्थवृत्त—इसमें भृत्य, स्त्री सम्बन्धित वैयक्तिक सद्वृत्त है।

(२) सामाजिक स्वस्थवृत्त—समाज-सभा में, लोक में किस प्रकार व्यवहार रखना चाहिये।

(३) मानसिक स्वस्थवृत्त—मन से सम्बन्धित सद्वृत्त।

(४) अध्ययन सम्बन्धित स्वस्थवृत्त—अध्ययन की विधि, छुट्टी आदि के नियम।

वैयक्तिक स्वस्थवृत—इसका अभिप्राय व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले सदाचार से है, उसको नौकर-चाकर के साथ किस प्रकार बरतना चाहिये, किस प्रकार से भोजन करना चाहिये, मन-आत्मा की शुद्धता के लिये उसे क्या करना चाहिये, इत्यादि बातों का उल्लेख है,[२] यथा —

मनुष्य को देवता, गाय, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य की सेवा करनी चाहिये। प्रशस्त औषधियों को धारण करना चाहिये, प्रातः और सायं दोनों समय सन्ध्या करनी चाहिये। केश, श्मश्रु, नख कटवाने चाहिये। निर्मल—कहीं से नहीं फटा वस्त्र सदा धारण करना चाहिये। मन को प्रसन्न रखें, सुगन्ध लगाये, उत्तम वेश सदा धारण करें; वेश भद्रजनोचित होना चाहिये, बालों को

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र—१।६।१।४-५।

२. चरक० सू० अ० ८।१८।

सँवार कर रखें, शिर, कान, नाक और पैरों पर प्रतिदिन तैल लगाना चाहिये। किसी से मिलने पर पहले स्वयं उससे कुशल मंगल पूछे; कठिनाई में फँसे मनुष्य की सहायता करे, दान दे, यज्ञ करें, कूप-तड़ाग-सार्वजनिक उपयोगी कार्य करे, अतिथियों का सम्मान करे, धर्म में मन लगाये, कारण में ईर्ष्या करे, फल में ईर्षा न करे, आस्तिक बुद्धि (परलोक को मानने वाला) बने; सब प्राणियों में बन्धुत्व की भावना रखें,[१] क्रोधी व्यक्तियों का क्रोध शान्त करे, डरे हुए व्यक्तियों को आश्वासन दे, दीनों का उपकार करे, सत्य प्रतिज्ञा वाला बने, दूसरों के कठोर वचनों को भी सहन करे, राग और द्वेष के कारणों से बचे।

नौकरों के प्रति बर्ताव—नौकर और चाकर इन दो शब्दों के लिये चरक में भृत्य और आश्रित ये दो शब्द आते हैं; भृत्य तो वे हैं, जो भृत्ति-पोषण-वेतन आदि लेते हैं, ये नौकर हैं। आश्रित वे हैं, जिनको किसी प्रकार का वेतन नहीं मिलता केवल खाना-खुराकी-कपड़ा-लत्ता दिया जाता है, ये चाकर हैं। इनके साथ में मनुष्य को कैसा बर्ताव रखना चाहिये—इसका उल्लेख चरक में है।

इनके प्रति व्यवहार करते हुए मन में कभी भी पापवृत्ति नहीं बरतनी चाहिये, अपने आप भोजन करने से पूर्व इनको खिला देना चाहिये।

स्त्रियों के प्रति सद्वृत्त—स्त्रियों का कभी भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। इनको जिम्मेदारी का कोई भी काम नहीं सौंपना चाहिये। इनका अधिक विश्वास भी न करे, स्वामी के बिना या अध्यक्ष की जानकारी के बिना इनसे दी हुई कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिये; इनके साथ एकान्त में न बैठे, न बात करे, आदर-सम्मान दिखाने पर उपेक्षा करे, पराई स्त्रियों के साथ हँसी, मज़ाक, ठठोली न करे, रहस्य की बात इनको न बताये, इनको कभी स्वतंत्रता (अधिकार) न दे।[२]

---

१. अथर्ववेद का मंत्र इसी प्रकार का है—'अभयंमित्रादभयममित्राद् अभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवानः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ (अथर्व० १९।१२।६)

२. सुश्रुत में भी इसी प्रकार की सूचना मिलती है—

"स्त्रीभिः सहास्य संवासं परिहासं च वर्जयेत्।

दत्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्भिषग्वरैः ॥ सू० अ० १०।९

रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, अशस्त (निन्दित), कुरूप, सेवापरायण, फूहड़, अकुशल, अशिक्षित, न चाहने वाली, पराई स्त्री के साथ सहवास न करे। सन्ध्याकाल में, भोजन या अध्ययन काल में स्त्री सेवन निन्दित है।

भोजन सम्बन्धी नियम—हाथ में रत्न धारण करके, स्नान करके, शुद्ध निर्मल वस्त्र धारण करके, जप करके, देवता, अतिथि, गुरु, भृत्य, आश्रित जनों को पहले भोजन कराके भोजन करे। भोजन करने से पूर्व, हाथ, पैर, मुख धो लेना चाहिये।

भूखे, अपवित्र लोगों से लाया, अपवित्र पात्रों में लाया, अस्थान में परोसा, असमय में उपस्थित किया भोजन नहीं करना चाहिये। भोजन करते समय भोजन की निन्दा न करे (तुलना कीजिये—उपनिषद् वचन से—'अन्नं न निन्द्यात्'–तैत्तिरीय–७।१), बासी भोजन न करे।[1]

सत्तू और दही—चरक के समय में सत्तू का अधिक प्रचार दीखता है, सत्तू को सुखा, पानी में घोलकर, घी और चीनी के साथ मिलाने का उल्लेख आता है। पाणिनी के सूत्र (७।३।१९) का उदाहरण देते हुए काशिका में साक्तु-सैन्धवः, पान-सैन्धवः ये दो उदाहरण दिये हैं। सिन्ध के दक्षिण-पूर्व का भाग—जो कि सौवीर कहलाता था, जहाँ का राजा जयद्रथ था, वहाँ पर दूध पीने का रिवाज था और सिन्ध के उत्तरी प्रदेश में सत्तू खाने का रिवाज था। उत्तरी सिन्ध में जिला डेराइस्माईल खाँ की तरफ आज भी वहाँ का जातीय भोजन सत्तू है; स्त्रियाँ सत्तू की सौगात भेजती हैं, मुसाफिरी में सत्तू साथ में रखती हैं (इसीसे चरक में कहा है—मन्थश्चोत्तरपश्चिमे—चि० अ० ३०।३१८)।

दक्षिण-पूर्वी सिन्ध में दूध का रिवाज था—इसी से पाणिनि के सूत्र (८।४।९)

---

१. गौतम (९।५९), बौधायन धर्मसूत्र [२।७।३६], मनु (२।५६) आदि के अनुसार गृहस्थ को केवल दो बार खाना चाहिये; उसे सन्धिकाल में नहीं खाना चाहिये। भोजन के समय गृहस्थ को सोना, जवाहरात [अँगूठी आदि] धारण कर लेना चाहिये। जब भोजन आ जाये तब उसका सम्मान करना चाहिये। उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये। उसमें दोष न खोजना चाहिये (गौतम ९।५९; वसिष्ठ धर्मसूत्र ३।६९; मनु २।५४-५५)। धर्मशास्त्र का इतिहास [हिन्दी अनुवाद], पृ० ४१४-४१५—चरक संहिता सूत्र० अ० ८ में भी यही नियम है।

के उदाहरण में 'क्षीरपयणाः उशीनराः' कहा है, चरक में इनको क्षीरसात्म्य बताया है (चि० अ० ३०।३१७)।

सत्तू के सेवन में बहुत-सी सूचनायें दी हैं; यथा—सत्तू को वर्षाकाल में पानी में घोलकर नहीं खाना चाहिये। गरमियों में पानी के अन्दर घोलकर पीना चाहिये, घी और शर्करा के साथ मिलाकर खाने से वृष्यता को उत्पन्न करता है, पेट में अफारा नहीं करता।

सत्तू को अकेला नहीं खाना चाहिये (नमक, मिर्च या शक्कर-घी के साथ खाना चाहिये); रात में सत्तू नहीं खाना चाहिये, दिन में दो बार सत्तू नहीं खाना चाहिये (भोजन के रूप में दोनों समय नहीं खाना चाहिये)। दांतों से चबाकर नहीं खाना चाहिये, इसको निगल जाना चाहिये। पानी पीकर सत्तू खाकर—फिर पानी नहीं पीना चाहिये।

दही के विषय में सत्तू जैसा अनुराग नहीं मिलता, दही मांगलिक जरूर है, परन्तु आहार दृष्टि से सत्तू की अपेक्षा कुछ कम ही है, रात में दही नहीं खाना चाहिये, यदि खाना ही हो तो मधु-घृत, शर्करा के साथ या आँवले और मूँग के साथ खाना चाहिये। शरद् ऋतु में दही नहीं खाना चाहिये।[१]

सामान्य सूचनायें—बहुतों से बनाये नियम को नहीं तोड़ना चाहिये, अपना बनाया नियम भी नहीं तोड़ना चाहिये; घूमने के अयोग्य स्थान में, रात्रि के समय नहीं जाये, सन्ध्याकाल में अध्ययन, स्त्रीसेवन न करे; बालक, वृद्ध-स्त्री, लालची, दुःखी जीवनवाले एवं नपुंसक के साथ मित्रता न करे, मद्यपान, द्यूत, स्त्री सेवन में रुचि न करे; इनके अधीन न बने; गुप्त बात न कहे, किसी के रहस्य को जानने की इच्छा न करे; अहंकार न करे; वृद्ध, गुरु, गण (समाज) की निन्दा न करे। बहुत न बोले; सगे-सम्बन्धिओं, आपत्ति में जिन्होंने मदद की हो, उनका तथा भेद को जाननेवालों का अपमान न करे।

अधीर-बेचैन न हो, उत्तेजित न बने; भृत्यों का पोषण करनेवाला बने (उनका वेतन न रोके), अपने ही व्यक्तियों में सन्देहशील न बने, सुख का अकेला उपभोग न करे; आचार (शास्त्र के उपदेश के अनुरूप व्यवहार) और

---

१. अष्टांग संग्रह में वसन्त, ग्रीष्म में ही दही का सेवन मना किया है—ठीक प्रकार से नहीं जमा दही नहीं खाना चाहिये—सूत्र० अ० ६।६६-६८।

उपचार (रहन-सहन) इनको दुःख का कारण न बनाये। सब स्थानों पर न तो विश्वास करे और न अविश्वास करे, हर समय सोचता न रहे।

कार्य करने के समय का अतिक्रमण न करे; सब स्थानों पर शंकाशील न रहे, जिस बात की जाँच-परीक्षा नहीं की उसमें हठ न करे, आग्रह न करे। इन्द्रियों के अधीन न बने; चंचल मन को इधर-उधर न दौड़ाये, बुद्धि और इन्द्रियों पर अधिक बल न दे, कार्य को विलम्ब से न करे, क्रोध या हर्ष के वश में न हो, शोक में डूबा न रहे, सफलता में बहुत गर्व न करे; असफलता में दीन-उदास न बने (तुलना कीजिये--सिद्धयसिद्धौ समौ भूत्वा समत्वं योग मुच्यते—गीता, २।४८, समः सिद्धावसिद्धौ च—गीता, ४।२२)। कृति (जन्म-कारण) को सदा याद रखे, शुभ-अशुभ कर्मों का फल होता है, इसे सदा स्मरण रखे। यह मैंने किया, ऐसा अभिमान न करे, वीर्य का त्याग न करे, अपमान का स्मरण न करे। ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, करुणा, हर्ष, उपेक्षा, शान्ति का सेवन करने वाला बने।

सामाजिक स्वस्थवृत्त—झूठ न बोले; किसी पराये का धन न ले, पराये धन या पराई स्त्री की चाह न करे, वैर को न बढ़ाये, पाप न करे और पापकर्म में सहायक भी न बने, दूसरे के दोषों को न बताये। अधार्मिक, उन्मत्त, पापी, गर्भ गिरानेवाले, क्षुद्र, नीच ओर दुष्टों की संगति न करे। दूषित स्थान पर न बैठे, पैर लटकाकर—घुटने ऊँचे उठाकर (जैसा कुर्सी पर बैठने में होता है) न बैठे, बिना बिछाये, तंग, छोटे, ठीक न बने, आसन या विस्तर पर न सोये, पहाड़ की चोटी, विषम स्थान पर न चढ़े; अग्नि के चारों ओर न घूमे; ऊँचे से न हँसे, शब्द के साथ अपान वायु को बाहर न करे; जम्भाई-छींक, हँसना, इनको मुख पर हाथ (या रूमाल) रखे, बिना न करे। नाक को न कुरेदे, दाँतों को न कटकटाये, नखों को न टकराये, अस्थियों को न बजाये, भूमि पर रेखा न बनाये, तिनके न तोड़े, मिट्टी को न फोड़े, अंगों को टेढ़ा न करे, ज्योति—चमकते रूप (उल्का आदि), अनिष्ट, अपवित्र वस्तुओं को न देखे, शव को देख-कर हुँकार न करे, रात्रि में देवमन्दिर, चैत्य—चौराहा—बाग—बगीचा—श्मशान—वधस्थान में न जाये। अकेला शून्य गृह या बड़े जंगल में न जाये, अपने से बड़ों से विरोध न करे, आग्रह से (जिद करके) सोना, जागना, स्नान, खानपान न

करे, हिंसक पशु के पास न जाये, झगड़ा प्रारम्भ न करे। थकान दूर हुए बिना, मुख धोये बिना, नंगा होकर: स्नान न करे, स्नान करके वे ही गीले वस्त्र न पहने, टेढ़ा होकर छींक न ले, रत्न, घी, पूज्यवस्तु–मंगलवस्तु का स्पर्श किये बिना, अप्रसन्न मन से घर से बाहर न जाये। पूज्य एवं मंगलवस्तुओं के वामपार्श्व से न जाये।

टेढ़ा होकर या शरीर को विषम रखकर न खाये और न सोये, मल-मूत्र का वेग उपस्थित होने पर दूसरा कार्य न करे, वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु इनकी ओर मुख करके थूकना, वायु मल, मूत्र न करे। रास्ते में, जनसमूह के समीप, भोजन करने के स्थान के पास, जप, होम, अध्ययन, बलि, मंगल क्रियाओं के पास में गन्दगी न करे।[१]

स्वास्थ्य सम्बन्धी सूचनायें—समय पर भोजन करना आरोग्य देनेवाले कारणों में सबसे श्रेष्ठ है। मल-मूत्र आदि के उपस्थित वेगों को रोकना अनारोग्य के कारणों में, एक समय भोजन, सुख से पचने वालों में, अधिक स्त्री सेवन शोष करने वाले कारणों में; उपस्थित शुक्र वेग को रोकना नपुंसक बनाने के कारणों में, भोजन का न करना आयु को कम करने के कारणों में; नपा-तुला खाना या समय पर भोजन न करना कृश बनाने वाले कारणों में, शान्ति सबसे अधिक पथ्यों में, थकान सबसे अधिक अपथ्यों में, मिथ्यायोग रोग के कारणों में, ब्रह्मचर्य आयुवर्धक कारणों में, पराई स्त्री का सेवन अनायुष्य के कारणे में, संकल्प वृष्यवस्तुओं में दुर्मनता अवृष्य कारणों में, बल से अधिक कार्य करना प्राण घातक वस्तुओं में, विषाद रोग बढ़ाने वालों में,[२] थकान दूर करने वालों में स्नान, सब रसों का सेवन बल देने वालों में, एक ही रस का सेवन दुर्बलता उत्पन्न करने वालों में, मरुभूमि आरोग्यदायक स्थानों में, आनूप-अहितकारी देशों में, आयुर्वेद-अमृतों में, सद्वृत्त करणीय कार्यों में, सब वस्तुओं का त्याग सुखों में श्रेष्ठ है—मुख्य है।[३]

अध्ययन सम्बन्धी सद्वृत्त—असमय में जब बिजली चमकती हो,

---

१. चरक सू० अ० ८।१९।

२. इसी से सुश्रुत में कहा है–'सुहृदोविक्षपंत्याशु कथाभिर्व्रणवेदना' :— सू० अ०१९।८।

३. चरक सू० अ० २५।४।

दिशाओं में आग लगी हो, अग्निकाण्ड होने पर, भूकम्प आने पर, किसी बड़े उत्सव के समय, उल्कापात होने पर, राहू का ग्रहण लगने पर, अमावस्या के दिन, सन्ध्या के समय में अध्ययन नहीं करना चाहिये। गुरु से बिना पढ़े, अक्षर को छोड़ते हुए, अधिक अक्षर या मात्रा बढ़ाकर, ऊँची आवाज से, चिल्लाकर, बिना स्वर के, पद को बिना व्यवस्थित किये, बहुत रुक-रुक करके, भरी हुई आवाजसे, बहुत ऊँचे से, या बहुत धीमे से नहीं पढ़ना चाहिए।[१]

स्वस्थ होने पर समय निकाल कर प्रातःकाल में उठकर या रात्रि का कुछ भाग शेष होने पर— तब उठकर आवश्यक कार्यों को करके जल का स्पर्श करके, देवता-गो-ब्राह्मण-सिद्ध-गुरु-वृद्ध—आचार्य को नमस्कार करके समान-पवित्र स्थान पर सुखपूर्वक बैठकर—मन लगाकर, वाणी से सूत्रों का उच्चारण करते हुए बार-बार उनको दोहराये, स्मरण करना चाहिय, जिससे उनका ठीक अर्थ समझ में आ जाये।[२]

मानसिक सद्वृत्त—मानसिक वृत्ति चार प्रकार की है—(१) मैत्री, (२) करुणा, (३) प्रीति (मुदिता), (४) उपेक्षा।[३] सब प्राणियों में मैत्री-भाव, रोगियों में करुणा, साध्यरोगियों में प्रीति, प्रकृतिस्थ [मृत] रोगियों में उपेक्षा करना वैद्य की वृत्ति चार प्रकार की है। मनुष्य को सदा प्रार्थना करनी चाहिये कि 'मेरे शरीर से अग्नि न निकले, वायु मेरे शरीर में प्राणों को दे, विष्णु मेरे शरीर में बल दे; इन्द्र वीर्य को दे, मंगलकारी जल मेरे शरीर में प्रवेश करे, 'आपोहिष्ठामयोभुवः' इस मंत्र से जल का स्पर्श करे, ओठ, पैर, शिर, इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे, हृदय शिर तथा सारे शरीर पर जल के छींटे देवे (सन्ध्या की विधि का सबसे पहला उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थों में यहीं पर है)।

---

१. चरक सू० अ० ८।२४।

२. वही, वि० अ० ८।७।

३. "मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्"—योगदर्शन। बौद्ध-दर्शन में इनको ब्रह्मविहार के नाम से कहा है [बौद्धदर्शन : आचार्य नरेन्द्रदेवकृत—पृष्ठ ९४]। मरणं प्रकृति शरीरिणां विकृतिः जीवित मुच्यते बुधैः ॥रघु० ८। अधिक स्पष्टता के लिये अत्रिदेव विद्यालंकार का 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पृष्ठ ११४ देखें।

आचार रसायन—रसायन से अभिप्राय जरा और मृत्यु को नाश करने वाले उपायों से है—जरा और मृत्यु का नाश होने से अभिप्राय इतना ही है कि ये स्वाभाविक अवस्थायें असमय में नहीं आती, दीर्घायु होती है।[१] अक्षय यौवन प्राप्त होता है। इन रसायनों में एक आचार रसायन भी अत्रिपुत्र ने कही है, इसके सेवन से भी रसायन के फल प्राप्त होते हैं। इनमें—

मनुष्य को सत्यवादी, क्रोध न करने वाला होना चाहिए, भय और मैथुन से अलग रहना चाहिये, अहिंसक वृत्ति वाला, शान्त, प्रियवादी, जप करनेवाला और पवित्र रहना चाहिये, धीर बने, सदा दान करे, तपस्वी, देवता-गो-ब्राह्मण-आर्य, सिद्ध, गुरु, वृद्धों की पूजा में रत रहना चाहिए (तुलना कीजिये मनुस्मृति के श्लोक से—"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्" ॥ मनु० २।१२१)। सदा करुणा वाला रहे, जागरण और सोना ये दोनों समान-नियमित करे (युक्त स्वप्नाव-बोधस्य योगो भवति दुःखहा—गीता, ६।१७)। नित्यप्रति दूध और घी का सेवन करे, देश-काल को पहिचाने, युक्ति—काम करने की तरकीब को जाने, घमण्ड का वचन न बोले, प्रशस्त आचरण रखे, बहुतों के योग से बने भोजन को न खाये (चन्दे से बना या बहुतों ने मिलकर जो भोजन बनाया हो, उसे न खाये), अध्यात्म चिन्तन में मन को लगाये, वृद्धों का सम्मान करे, उनके सत्संग में रहे, आस्तिक बुद्धि वाला (परलोक को मानने वाला) हो, जितात्मा, धर्मशास्त्र का आदर करने वाला बने। इस प्रकार आचरण करन वाला व्यक्ति सदा रसायन सेवी रहता है।[२]

---

१. दीर्घायु से अभिप्राय लम्बी आयु या पूर्ण आयु से है; रसायन योगों में जहाँ पर वर्ष के साथ 'सहस्र' शब्द आता है, वहाँ इसका अर्थ पूर्ण करना अधिक युक्तिसंगत है; यथा पुराणों में एवं अन्य स्थानों में आया सहस्र शब्द "एष त्रीणि वर्ष सहस्राणि शक्ति विशेष लाभार्थमृक्ष पर्वतेऽनुत्तमं तपस्तेपे इत्याहुः। तत्र सहस्र शब्दः पूर्णार्थाः सर्वं वैसहस्रम्"—शतपथ ४।६।१।१५। "षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक? दुखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ॥" यहाँ पर सहस्र शब्द पूर्ण के अर्थ में है; वा. रा. बाल. २१०।१.। पुराण कथा कौमुदी—लेखक पं० रघुनाथ दत्त बन्धु-भूमिका।

२. चरक० चि० अ० १।४।३०-३४।

सद्वृत्त का लाभ—सद्वृत्त के पालन करने से आरोग्य एवं इन्द्रियों पर विजय मिलती है। इन्द्रियों पर जय प्राप्त होने से रोग नहीं होते (जितेन्द्रियं नानुतपन्तिरोगाः— शा० अ० २)। रोगों का एक बड़ा कारण इन्द्रियों का विषयों के साथ असात्म्य-अनुचित संयोग है, यह अनुचित संयोग—अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग इन तीन रूपों में होता है। समयोग—बहुत दुर्लभ है (समयोगस्तु-दुर्लभः—चरक शा० अ० १)। यह समयोग इन्द्रियों के जय से ही मिल सकता है, इन्द्रियों में विजय सद्वृत्त के पालन करने से ही होता है। इसी से कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है कि जिस राजा ने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की, वह चारों समुद्रों पर राज्य करता हुआ भी नष्ट हो जाता है (विनयाधिकार—१।४)।

सद्वृत् पालन करने वाला व्यक्ति सबका आदर्श—प्रकाशस्तम्भ होता है, उसका यश सर्वत्र फैलता है। सज्जन मनुष्य उसकी प्रशंसा करते हैं, उसको धर्म और अर्थ प्राप्त होते हैं, प्राणियों से मैत्री मिलती है, मृत्यु होने पर अच्छा लोक मिलता है। मृत्यु के पीछे भी लोक में स्मरण किया जाता है—इसलिए मनुष्य को सदा सद्वृत्त का पालन करना चाहिये।[1]

गृह-निर्माण—चरक संहिता में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं के अनुसार गृह बनाने का उल्लेख है। शीत ऋतु में गर्भगृह, जेन्ताक गृह बनाने का, ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे प्रासाद बनाने का उल्लेख मिलता है। ग्रीष्म ऋतु में या रक्त-पित्त रोग में धारा-गृहों में रहने का उल्लेख किया है। सामान्यतः निम्न प्रकार के घरों का वर्णन मिलता है—

आतुरालय (अस्पताल) का स्थान—रोगी व्यक्ति के लिए सबसे पहले घर की व्यवस्था करे, इसके लिए मजबूत स्थायी घरको बनाये, उसमें वायु का सीधा प्रवेश न हो सके, अपितु एक पार्श्व से—एक दिशा से वायु आये (चारों ओर से वायु न आये), सुखपूर्वक उसमें चला-फिरा जा सके (लम्बा-चौड़ा पर्याप्त हो), किसी ऊँचे मकान से दबा न हो, पास में दूसरा कोई ऊँचा मकान न हो, धुआँ, धूप, वर्षा, धूल का प्रवेश न हो सके, मन को अच्छे न लगने

---

१. चरक० सू० अ० ८।२८-३३।

वाले शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध (इन्द्रियों के विषय) का प्रवेश न हो सके (सिनेमा, कसाई खाना, कारखाना आदि पास में न हो), इसमें आवश्यक दैनिक वस्तुओं का स्थान बना हो, जैसे पानी रखने के घड़े, कूटने-पीसने के लिए ऊखल-मूसल, मल-मूत्र का स्थान, स्नानगृह, रसोई करने का स्थान बना रहे, घर देखने में प्रशस्त (सुन्दर) हो।[1]

सुश्रुत में भी व्रण रोगी के लिए सबसे प्रथम घर बनाने का उल्लेख है, यह अच्छी भूमि पर बना होना चाहिये। इसमें रोगी के लिए शय्या, परिचारक आदि सब आवश्यक सामग्री रखनी चाहिये।[2]

कुमारागार—बच्चे के लालन-पालन के लिए वास्तुविद्या-गृह निर्माण शास्त्र में निपुण व्यक्ति सबसे पहले कुमारागार बनाये। इसके बनाने में पहले भूमि की परीक्षा करे, जहाँ की मिट्टी काली, मधुर या स्वर्ण के रंग की हो (पीली हो), मिट्टी में अस्थि, कंकड़, पत्थर आदि न हों, उस भूमि को पसन्द करे। वहाँ पर देखने में सुन्दर, सब ओर से प्रकाश के आने योग्य, खुला, पार्श्व से वायु के प्रवेश योग्य, तेज या सामने की वायु से बचा, मजबूत, हिंसक पशुओं से अगम्य, पतंगे-मच्छरों से बचा, मकान बनाये। इसमें पानी रखने का, कूटने-पीसने का, मल-मूत्र त्याग करने का स्थान; स्नानगृह—रसोई आदि आदि के लिए अलग-अलग प्रबन्ध करे। इसमें सब प्रकार से रक्षा का प्रबन्ध रहना चाहिये। घर में धार्मिक-कृत्य-बलि-मंगल-होम प्रायश्चित आदि अनुष्ठान सदा होते रहें।[3]

भूमिगृह—इससे अभिप्राय जमीन में बने तहखानों से है। ऐसे घर सर्दियों में गरम और गरमियों में ठण्डे रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्नकाल इन घरों में व्यतीत करना चाहिये। रक्तपित-रक्तस्राव की अवस्था में रोगी को इस प्रकार के घर का सेवन बताया है।[4]

---

१. चरक० सू० अ० १५।६।

२. सुश्रुत सू० अ० १९।३-८।

३. चरक० शा० अ० ८।५२।

४. वही, चि० अ० ४।१०६।

गर्भगृह—इसका अर्थ स्पष्ट नहीं; मानसार में गर्भगृह को वासगृह कहा है। उत्तर भारत में ये घर दो प्रकार के बनते हैं। पहले प्रकार का गर्भगृह मसूरी, बागेश्वर आदि पर्वतीय स्थानों में मिलता है, इसमें अगला भाग चौड़ाई में कम होता है, परन्तु अन्दर की ओर लम्बाई में बड़ा होता है। सामने में चौड़ाई यदि १५ फीट रहती है, तो अन्दर की ओर लम्बाई ६० या ७० फीट हो जाती है। इसी घर के तीन या चार भाग बना लेते हैं। सामने का अगला भाग दुकान के काम आता है। बीच का भाग सामान रखने और सोने के; तीसरा भाग रसोई पानी के काम आता है। चौड़ाई कम होने से शीत और वायु का प्रवेश नहीं होता, इसलिए पहाड़ों के लिए ये उत्तम हैं।

दूसरी प्रकार के घर गोल होते हैं, ये गरमी—लू से बचने के लिए सहारनपुर जिले में बनते हैं, इनको गुमटी कहते हैं। ये मिट्टी के बनते हैं, इनकी रचना जेन्ताक के घर की भाँति है। एक गोल घर बनाकर उसके चारों ओर एक ओर दिवार—तीन या चार फुट का अन्तर देकर बनाई जाती है। इसमें द्वार एक दूसरे के सामने भी रखते हैं, और हटाकर भी रखते हैं।

आजकल जो काम घर के चारों ओर चार फीट या आठ फीट का बरामदा बनाकर लेते हैं, और गरमियों में इसमें रूई के भारी-भारी परदे लटका कर लिया जाता है, वहीं काम बाहर की दिवार से उस समय लिया जाता था। इस प्रकार की गुमटी जमींदार अपनी जमींदारी में कहीं-कहीं बनाते थे। तहखानों के लिए भी गर्भगृह शब्द प्रचलित है। परन्तु चरक में इस अर्थ में यह शब्द सम्भवतः नहीं आया। मन्दिरों में देवता प्रतिष्ठान के लिए भी गर्भगृह बनते हैं; ये चारों ओर दूसरे मकानों से घिरे रहते हैं। मध्य का घर गर्भगृह कहलाता है।[१]

जेन्ताक गृह—विनयपिटक में अग्नि से गरम किये जाने वाले घर के लिये जन्ताक गृह नाम आया है। चरक का जेन्ताक गृह इसी घर से मिलता है।

---

१. [क] चरक० सू० अ० ६।१४। [ख] गर्भगृह का उल्लेख चतुर्भाणी में [धूर्त्त-विप्र संवाद में भी आया है; यथा—"एषा खलु सा रतिसेना गर्भगृहावरोधजनितस्वेदविन्दुसेकेनार्धोन्मीलितनयनविप्रेक्षितेन"—इसमें गर्भगृह का अर्थ डॉ० अग्रवाल और डॉक्टर मोतीचन्द्र ने महल या आवासगृह का वह भाग, जहाँ स्त्रियाँ रहती हैं, किया है—पृष्ठ ८४।

विनयपिटक के जेन्ताक गृह में गरम पानी रहता था, जनता वहीं आकर स्नान करती थी—बुद्ध ने श्रमणों के लिये इस घर का उल्लेख किया है। इस घर में एक धूमनेत्र होता था, यदि घर बड़ा होता था, तो धूमनेत्र बीच में रहता था, यदि घर छोटा होता था तो दिवार के सहारे किनारे में होता था (जैसा कि आजकल कोठियों में अंगीठी बनाई जाती है)।

चरक में जेन्ताक घर स्वेद कार्य के लिए वर्णित है। इसमें घर को अग्नि से गरम करके, इसके अन्दर बनी स्थण्डली (पिण्डिका—मिट्टी की बनी—भूमि से[1] चार-पाँच अँगुल ऊँची सांथरी—सोने की भूमि) पर लेटकर रोगी स्वेद लेता था।

इसके अतिरिक्त शीतऋतु में जेन्ताक घर का सेवन करने को कहा है, इससे स्पष्ट होता है कि जेन्ताक घर केवल स्वेदन के लिए नहीं थे, अपितु शीतऋतु में रहने के भी काम आते थे। जेन्ताक गृहों से अभिप्राय अग्नि से गरम किये घरों से है।[2]

धारागृह और शीत-गृह—धारागृह से अभिप्राय फुहार वाले घरों से है, शीत गृहों से अभिप्रयाय उन घरों से है जो कि पानी के पात्रों से या अन्य प्रकार से (कूलर आदि से) ठण्डे किये हों। ग्रीष्म-ऋतु में मध्याह्न का समय शीत-गृहों में व्यतीत करने को कहा है। रक्तपित्त रोग में धारागृहों का उपभोग करने को कहा है।[3]

ज्वर के रोगी को दाह अधिक होने पर शीतल पानी से ठण्डे किये, चन्दन के पानी से शीतल बने घर में या धारागृह में रखना चाहिये।[4]

मकान को ठण्डा करने के लिए वैडूर्य-बिल्लौर, मुक्ता, मणि (स्फटिक-पत्थर) के पात्र ठण्डे जल से भरकर बरतने चाहिये। इन पात्रों का स्पर्श भी दाह को शान्त करता है।[5]

शीत-गृह से पर्वत की गुफा के समान या लता आदि से ढाँप कर कृत्रिम बनाया घर भी हो सकता है, जैसे अमीर लोग अपने उपवन में बनाते हैं।

---

१. वही, सू० अ० १४।४६।
२. वही, सू० अ० ६।१४।
३. चरक० सू० अ० ६।३०।
४. वही, चि० अ० ६।३०, एवं चि० अ० ४।१०६।
५. वही, चि० अ० ३।२६१।

सूतिकागार—प्रसव के लिए पृथक् अस्थायी घर बनाया जाता था। यह घर ऐसे स्थान पर बनाया जाता था, जहाँ पर मिट्टी के ठीकरे, अस्थियाँ, रेत आदि न हों, स्थान सुन्दर हो, वहाँ का रूप-दृश्य, रस-गन्ध अच्छी हो, देखने में वहाँ का वातावरण सुन्दर हो। घर का द्वार पूर्व या उत्तर की ओर रखना चाहिये; इसमें प्रसव के उपयोगी सब सामान इकट्ठा रखना चाहिये। मकान बनाने वाले की सहायता से मकान में अग्नि, जल का स्थान, कूटने-पीसने का, मल-मूत्र का, स्नान और रसोई का; सबका अलग-अलग प्रबन्ध करे। घर ऐसा होना चाहिये कि सब ऋतुओं में काम आ सके।[1]

चरक में सबके लिए एक जैसा घर बताया है। सुश्रुत में ब्राह्मण के लिए श्वेत भूमि में, बिल्वकी लकड़ियों से, क्षत्रिय के लिए लालभूमि में बरगद की लकडी से, वैश्य के लिए पीली भूमि में तिन्दुक की लकड़ी से और शूद्र के लिए काली भूमि में भिलावे की लकड़ी से घर बनाना कहा है। इनके लिए इन्हीं लकड़ियों से पलंग बनाये।[2]

चरक में घर बनाने के लिए बिल्व, तिन्दुक, इंगुदी, भिलावा, वरणा, खैर आदि वृक्षों का उल्लेख किया है, इनके सिवाय भी अथर्ववेद को जानने वाले जो और भी वृक्ष बताये, उनकी लकड़ियों से घर बनाये। वहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की दृष्टि से लकड़ियों का विभाग नहीं है।[3] लकड़ी से घर बनाने का सम्भवतः यह उद्देश्य था कि यह घर अस्थायी होता था; पीछे छोड़ दिया जाता था; या नष्ट कर दिया जाता था।

गृह ऊँचे बनते थे, ग्रीष्म-ऋतु में घर की अट्टालिका पर रात्रि व्यतीत करने को कहा है (निशि चन्द्रांशु शीतले। भवेच्चन्दनदिग्धांगः प्रवाते हर्म्यमस्तके॥ सू० अ० ६।३०)।

वस्त्र—चरक संहिता में कार्पास-रूई का उल्लेख नहीं है, ऊन, सन, अलसी बालों के वस्त्रों का उल्लेख है। हल्के, श्वेत वस्त्रों का उल्लेख है (सू० अ०

१. वही, चि० अ० ४।१०६।

२. वही, शा० अ० ८।३३; और सुश्रुत शा० अ० १०।५।

३. चरक० शा० अ० १०।३३।

६।४५)। क्षोम से अलसी के रेशे से बने वस्त्र समझे जा सकते हैं। वस्त्रों के बहुत से भेद थे। प्रत्येक ऋतु के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र थे, यथा—

वर्षा-ऋतु में—हल्के, निर्मल, धुले-साफ-सुथरे वस्त्र पहनने चाहिये (लघु शुद्धाम्बरधरः सू० अ० ६।४५)।

शीत ऋतु में—पहनने के वस्त्रों के कई नाम दिये हैं, यथा—

प्रावार—भारी वस्त्र जो ऊपर ओढ़ा जाता था, (ऊपर लेने का वस्त्र-प्रावार कहा जाता है, इसी से ऊपर लेने का दुपट्टा भी प्रावार कहलाता है)।[१]

अजिन—चमड़े का वस्त्र मृगचर्म आदि से बने।

कौशेय—रेशमी वस्त्र।

प्रवेणी—बालों से बना वस्त्र।

कुत्थक—कूटकर बिठाई उन से बना वस्त्र गुदमा, पट्टू आदि।

कम्बल—ऊन से बने कम्बल।

गोलक—इसका अर्थ स्पष्ट नहीं, किस प्रकार का वस्त्र था, इसकी जानकारी नहीं मिली, क्योंकि यह शब्द प्रावार आदि दूसरे गरम वस्त्रों के साथ पढ़ा है, स्वेद देने के कार्य में बताया है, इसलिए कोई ऊनी वस्त्र ही प्रतीत होता है।[२] कलकत्ते की छपी पुस्तकों में गोलकैः के स्थान पर गोणकैः पाठ है। सहारनपुर जिले में गधों पर अन्न आदि लाने के लिए—गोणी बनती है। गोणी—एक वजन-भार भी है, जो लगभग १$\frac{१}{२}$ मन के होता है।[३] यह गोणी कुम्हार स्वयं बनाते हैं; यह प्रायः रस्सी सूतली और ऊन से या केवल ऊन से बनती है। इसलिए ऊन और रस्सी से बना वस्त्र गोणक कहलाता होगा।

---

१. महाभाष्य में प्रावारक [३-३-५४] शब्द आया है; पाणिनि ने प्रावारक को आच्छादन कहा है प्रावार से बड़ी वहतिका होती थी [५-४-६—महा०]। यह घुटनों तक आती थी—जैसे भिक्षुओं की चादर—संघाटी का अर्थ युगल है; [संघाटी प्राकृत भाषा का शब्द है—गाथा सप्तशती ५।१९]। यह जोड़ कर बनती है; प्रावार का उल्लेख मृच्छकटिक में भी आता है।

२. चरक० सू० अ० ६।१६; एवं सूत्र० १४।५३, कम्बल का उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी है—११।२।१०४।

३. 'शूर्पाभ्यां च भवद् द्रोणी वाही गोणी च सा स्मृता'—शा० सं० प्रः ख० १।२९।

परिधान—वस्त्र बिना फटा (अनुपहत) और साफ होना चाहिये। कटि से निचले वस्त्र के लिए **शाटी** शब्द आता है (न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमांगम्—स्नान करके उसी धोती से सिर को न पोछें (सू० अ० ८)। ऊपर के वस्त्र के लिए क्या शब्द था, यह स्पष्ट नहीं। शिर पर पगड़ी धारण की जाती थी; पगड़ी के लिए मौलि शब्द आता है।[1] पैरों में जूता, हाथ में छाता और दण्ड-लाठी रहती थी। सिले वस्त्रों का कोई उल्लेख चरक में नहीं है, परन्तु सूई और सूई रखने के खोल का उल्लेख है (सूची पिप्पलकम्—शा० अ० ५)।

अंगराग-प्रसाधन—शरीर पर लगाने के लिए प्रत्येक ऋतु में अलग-अलग अंगराग बरते जाते थे। अंगराग से पसीने की दुर्गन्ध दूर होती है, शरीर पर शीतलता या उष्णता रहती है। सौन्दर्य-रूप निखरता है।

शीतऋतु में—कस्तूरी और अगरु का गाढ़ा लेप किया जाता था। यह लेप छाती, मुख तथा शरीर के अन्य भागों पर किया जाता था।

ग्रीष्म ऋतु में—चन्दन का लेप किया जाता था (चन्दन दिग्धांगः)।

वर्षा ऋतु या साधारण ऋतुओं में—चन्दन और कस्तूरी को मिलाकर लेप करते थे।[2]

लेप करने की विधि—चन्दन का गाढ़ा लेप भी शरीर में दाह उत्पन्न करता है, और अगरु का पतला लेप भी शरीर को ठण्डक देता है, इसलिए लेप को देखकर आवश्यकतानुसार करना चाहिये।[3] लेप सदा ताजा पिसा होना चाहिये, बासी लेप कभी भी नहीं लगाना चाहिये। पहले किये हुए लेप को उतारकर दूसरा लेप करना चाहिये। दिन में किया लेप रात्रि में—सायंकाल में बदल देना चाहिये। लेप लगाकर इसको ढाँप नहीं देना चाहिये।

अंगराग—नागरिक जीवन के लिए आवश्यक है, साधु-सन्त अंगराग का कार्य नदी की मृत्तिका या होम की भस्म-राख से लेते हैं। शरीर के पसीने की दुर्गन्ध को सुखाने के लिए तथा दुर्गन्ध को दूर करने के लिए अंगराग या भस्म

---

१. चरक सू० अ० ८।१८।

२. प्राचीन भारत के प्रसाधन (अत्रिदेव विद्यालंकार) पृ० १५५।

३. चरक० चि० अ० २१।९८-१०७—यह सूचनायें प्रदेह-प्रलेप के सम्बन्ध में हैं; परन्तु कुछ सूचनायें सामान्य हैं, जो सब लेपों के लिए योग्य हैं, वे ही यहाँ ली हैं।

का उपयोग किया जाता है। गृहस्थ के लिए सुगन्ध लगाना, माला पहनना, एक दैनिक कार्य था। ग्रीष्म में ठण्डी वस्तुओं का और शीत ऋतु में गरम वस्तुओं का लेप, साधारण ऋतु में गरम और शीतल वस्तुओं का मिलित लेप किया जाता था।

गृहस्थ के लिए आवश्यक सामग्री—चरक संहिता में गृहस्थ के लिए आवश्यक वस्तुओं की एक अच्छी जानकारी दी हुई है, उससे पता चल जाता है कि उस समय क्या-क्या वस्तुएँ घर में काम आती थीं। इन वस्तुओं में बर्तन, गृहस्थी का सामान, नौकर, गाय आदि सबकी अच्छी जानकारी दी हुई है।

गाय का दूध—चरक में गौ और ब्राह्मण की पूजा प्रत्येक मांगलिक कार्य में दी हुई है। गाय के दूध को सब प्रकार के दूध में श्रेष्ठ कहा है, गाय का घृत सब घृतों में श्रेष्ठ है (सूत्र० अ० २५।३८), गाय का मांस सब प्रकार के मांसों में अहितकारी है (सू० अ० २५।३९)। गाय का दूध ओज के समान गुण वाला होने से ओज को बढ़ाता है (मद्य—ओज से विपरीत गुणों वाला होने से ओज का नाश करता है)। मद्यपानजनित व्याधि में दूध से उत्तम दूसरी औषधि नहीं, जिस प्रकार कि गरमी से सूखे वृक्ष के लिये वर्षा का पानी जीवन देने वाला होता है, उसी प्रकार मद्य से विदग्ध व्यक्ति के लिये दूध का पीना लाभकारी है (चि० अ० २४।१९७)।

गाय कैसी होनी चाहिये—बहुत दूध देने वाली (दोग्ध्रीं), सीधी मरखनी न हो (शीलवती), स्वस्थ-निरोगी (अनातुरां), बछड़ा जीवित हो (जीवद्वत्सां), पहली बार व्याई हो (गृष्टीं), चारों स्तनों से दूध झरता हो (चतुःस्तनीम्), गाय और बछड़े का एक ही रंग हो (समान वर्णवत्सां), रंग लाल या काला होना चाहिये (रोहिणीमथवाकृष्णां), सींग खड़े होने चाहिये (ऊर्ध्वश्रृंगीम्), देखने में सौम्य (अदारुणां), घट्ट (गाढ़े) दूधवाली; प्रचुर घी वाली (सान्द्रक्षीरां) गाय रखनी चाहिये।[1]

गाय को खाने के लिए ईख के गौले (ऊपर का भाग), अर्जुन वृक्ष के पत्ते, उड़द के पत्ते देने चाहिये। इसके उठने, बैठने सोने का पूरा प्रबन्ध

१. चरक० चि० अ० २।३।३-४।

करना चाहिये (सफाई का पूरा ध्यान रखे), खाने-पीने का सब सामान जुटा देना चाहिये।[१]

पात्र-वर्त्तन—गृहस्थ के घर में काम आने वाली वस्तुओं की एक लम्बी सूची चरक में दी हुई है, उससे पता चल जाता है कि उस समय किन-किन वस्तुओं का चलन था—

पात्री—गिलास या कटोरी
आचमनीय—छोटा चम्मच
उपकोष्ट—पानी की टंकी
मणिक—मटका-कोठी, जो पीतल की बनती है
पिठर—थाली
पर्योग—कड़ाही
कुम्भी—सुराही या मिट्टी का बड़ा घड़ा
कुम्भ—कलशा
भृंगार—गंगा सागर, गड़ुआ
दृषद्—शिला
शिलापुत्र—लोढ़ा
कुशहस्तक—झाड़ू
कुण्ड—कुंडा
शराब—प्याला, सकोरा
दर्वी—कलछी
कट—चटाई
उदञ्चन—पानी निकालने का बर्त्तन
परिपचन—तवा
प्रतिग्रह—पीकदान
मानभण्ड—मापने का पात्र, तराजू आदि
मन्थान—मथनी[२]

---

१. चरक० सूत्र० अ० १५।७।

२. वही, सू० अ० १५।७।

हसन्तिका—अंगीठी[1]

बिस्तर और आसन--बिछाने के लिये--चादर (आस्तरण), ऊपर ओढ़ने के लिये कपड़ा (उत्तर-प्रच्छद), सहारे के लिये तकिया (उपधान) था। बिस्तर या आसन ढासने लगे हुए होते थे (सोपाश्रयाणि[2])। फटे हुए वस्त्रों को सीने के लिये सूई और सूई को रखने के लिये कोश भी वरता जाता था।[3]

अन्य सामान—गृहस्थ के काम में आनेवाली वस्तुओं में घी, तैल, वसा, मज्जा, मधु, राब, नमक, पानी, नाना प्रकार के मद्य, सीधु (ईख के पकाये या बिना पकाये रस से बना), सुरा (जिस मद्य से मण्ड भाग अलग न किया हो), सौवीरक (छिलके उतारे जौ से बनी कांजी), तुषोदक (छिलके सहित जौ से बनी कांजी), मैरेय (आसव और सुरा दोनों का एक साथ सन्धान करके बनाया गया मद्य), मेदक, दधि, दधिमण्ड, उद्श्वित (आधा पानी मिला तक्र); धान्याम्ल (अनाज से बनी काँजी), शालिचावल, साँठी के चावल, मूंग, उड़द, जौ, तिल, कुलत्थी, बेर, द्राक्षा, गम्भारी का फल, फाल्सा, हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा नाना प्रकार के उपयोगी द्रव्य एकत्रित करने चाहिये।[4]

नौकर—नौकर-परिचारक के स्वभाव की अच्छी जानकारी चरक संहिता से मिलती है, यथा—नौकर शील (प्रकृति-स्वभाव), से ही पवित्र (शौच), स्नेह रखने वाला (अनुराग), व्यवहार को जानने-समझने वाला (आचार), चतुर (दाक्ष्य), काम करने में होशियार (प्रादक्षिण्य), सेवाकार्य का जानने वाला (उपचार कुशल) होना चाहिये, सब प्रकार के कार्य कर सके, किसी भी कार्य को करने में आनाकानी या घृणा का अनुभव न करे।[5]

---

१. चरक० सू० अ० १४।५४।

२. वही, सू० अ० १५।७।

३. वही, शा० अ० ५।१२, सूची पिप्लकम्, पिप्पलक का अर्थ चक्रपाणि 'सूचीस्थापन-पात्रम्' ने दिया है।

४. चरक० सू० अ० १५।७।

५. वही।

घर के पशु-पक्षी—सुश्रुत में घर में पशु-पक्षी पालने के दो लाभ बताये हैं—

१—इनके पालने से घर की शोभा बढ़ती है।

२—विष की परीक्षा में तथा चिकित्सा कार्य में इनसे सहायता ली जा सकती है।

इन दो लाभों के सिवाय कुछ और भी लाभ हैं, जैसे रोगी के मन का विनोद होता है। कुछ पक्षियों से (विशेषकर पारावत-कबूतरों से) घर की वायु की शुद्धि होती है। प्राचीन ऊँचे महलों में कबूतरों को बैठने के लिये पाली बनी रहती थी—उनके उड़ने से—परों के फटफटाने से वायु की शुद्धि होती थी, वायु में गति उत्पन्न होती है, इनके बीट की गन्ध तथा इनके शरीर की गन्ध क्षयरोग जैसे कृमियों को नष्ट करने वाली होती है (आयुर्वेद में कहा है कि कबूतर को क्षयरोग नहीं होता)।[1]

कामसूत्र में पक्षियों का स्थान बरामदा बताया है (तस्य बहिः क्रीड़ा शकुन-पिंजराणि—४।१३), इनसे मनोविनोद–दिल बहलाव किया जाता था। बटेरों की, मुर्गों की, मेढ़ों की लड़ाई कराकर मनोविनोद होता था। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के घर का वर्णन करते हुए उसके घर के सातवें प्रकोष्ट में रखे पशु-पक्षियों का सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। कवि बाण ने अपने पितृगृह के वर्णन में तोतों के वेदपाठी होने का उल्लेख किया है।

इन पक्षियों में बटेर, कपिञ्जल, खरगोश, हरिण (सींगवाला हरिण), कालपुच्छ, मृगमातृका (सम्भवत: नीलगाय), उरभ्र (मेढ़े) का उल्लेख किया है।

इस प्रकार से चरक के अध्ययन से गृहस्थ-जीवन का अच्छा परिचय मिलता है, गृहस्थ का जीवन सांसारिक बातों से शून्य नहीं था, जीवन में रस था, वह नाना प्रकार के मद्यों का रुचिपूर्वक स्वाद लेता था, शरीर को सजाता था, अपने दैनिक कार्य, ऋतुसम्बन्धी चर्या को भली प्रकार पूरा करता था। रहने

१. "पारावतकपिञ्छागंकुरंगानां पृथक्-पृथक्।
मांसचूर्णमजाक्षीरं पीतंक्षयहरं परम्॥"—आयुर्वेद संग्रह-राजयक्ष्मा।

के लिए नाना प्रकार के सुखदायी घर बनाता था, उनका प्रत्येक ऋतु के लिये सुखपूर्वक उपयोग करता था।[१]

स्त्रियों की स्थिति—चरक संहिता में स्त्रियों से सम्बन्धित उल्लेख मुख्यरूप से दो दृष्टियों से मिलता है:—

१—सामान्य रूप में।

२—चिकित्सा की दृष्टि से।

स्त्रियों के प्रति सदा सम्मान ही दिखाया गया है; स्त्री को धर्म, अर्थ, लक्ष्मी का स्थान माना है, लोक भी स्त्रियों में ही स्थित बताये हैं। स्त्रियों में प्रीति विशेषतः रहती है, सन्तान भी स्त्रियों से ही है।[२] वराहमिहिर ने बृहत् संहिता में स्त्रियों के लिये कहा है—

"श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृणां ह्लाद जननं
न रत्नं स्त्रीभ्योऽन्यत् क्वचिदपिकृतं लोकपतिना।
तदर्थं धर्मार्थौ सुतविषय सौख्यानि च ततो
गृहे लक्ष्म्यो मान्याः सततमबलामानविभवैः ॥७४।४

ब्रह्मा ने संसार भर में स्त्रियों के अतिरिक्त कोई दूसरा रत्न नहीं बनाया, जिसके सुनने, स्पर्श करने, देखने एवं स्मरण करने मात्र से आनन्द हो, स्त्री के लिये ही धर्म और अर्थ की सेवा लोग करते हैं, पुत्र तथा विषयों का सुख भी उसी से है, घर में लक्ष्मी भी स्त्री ही है, इसलिये मान और विभव से स्त्रियों का सदा आदर करना चाहिये।

चरक संहिता में भी अत्रिपुत्र ने यही कहा है, 'इन्द्रियों का एक-एक विषय भी प्रीति उत्पन्न करता है, फिर ये सब विषय तो स्त्री के शरीर में समूह रूप में स्थित है, इसीलिये बाजीकरण में स्त्री ही सबसे मुख्य है, विशेषतः जिससे प्रहर्ष उत्पन्न होता है। इन्द्रिय के विषयों का एकीभाव स्त्री के सिवाय दूसरे स्थान पर नहीं मिलता। इन्द्रियों के जो विषय स्त्रियों में रहते हैं, वे ही अतिशय

---

१. महाभारत में कहा है— भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरावाञ्छन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगोवधबन्धादृते क्षमः ॥ शा० प० १३०-६०।

२. चरक० चि० अ० २।१।६-७।

प्रीति उत्पन्न करते हैं। जो स्त्री सुन्दर, युवती, सामुद्रिक लक्षणों से शोभित होती है, जो वशवर्तिनी और कलाओं में शिक्षित होती है, वह सबसे अधिक वृष्य है।[1]

स्त्री को किस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, इस का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं, परन्तु सामान्यतः यही आभास होता है कि 'वात्स्यायन कामसूत्र' की चौसठ कलाओं की शिक्षा उसे दी जाती होगी। धात्री एवं परिचारिका को अपने कार्य में कुशल होना चाहिये। मद्यपान विधि में भी शिक्षित स्त्रियों का ही उल्लेख है (शिक्षिताभिर्विशेषतः—चि० अ० २४।१६)।

काश्यप संहिता में स्त्रियों के प्रति व्यवहार रखने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनायें दी हैं—

'आतुर कुल की स्त्रियों के साथ या नौकरानियों के साथ हँसी मजाक नहीं करना चाहिये, इन का नाम सदा सम्मान के साथ लेना चाहिये। इन के साथ उचित प्रसंग पर ही बात करे, इन के साथ में अतिप्रणय या व्यवहार (भेंट लेना-देना, उपहारों का आदान-प्रदान) न करे, स्वामी की बिना जानकारी के इन से कुछ भी न ले, बिना सूचना दिये घर में न जाये। इन के साथ एकान्त में न बैठे, न बातचीत करे, एकान्त में इन को न देखे, न हँसे। यदि स्त्री प्रणय दिखाये तो उस की उपेक्षा करे, इस की चर्चा किसी से न करे।[2]

स्त्रियों के साथ सहवास करने का प्रश्न भी आयुर्वेदिक दृष्टि से दिया गया है। इस के अनुसार रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, अप्रशस्त, घृणित, कुरूप, घृणित आचार की, घृणित उपचार एवं परिच्छद वाली, फूहड़, जो कामना नहीं करती या दूसरे की चाह करती हो, पराई स्त्री, पशुयोनि या अयोनि में, संध्या काल में, निषिद्ध तिथियों में, चैत्य-चौराहा-बाग-बगीची-श्मशान-वधस्थान-जल औषधि-ब्राह्मण-गुरूजन-देवमन्दिर—इन स्थानों में सहवास नहीं करना चाहिये।

अपवित्र अवस्था में, बिना औषध खाये, संकल्प किये बिना, प्रहर्ष न होने पर, भोजन बिना किये या बहुत भोजन करके, विषम स्थिति में स्थित होकर,

१. चरक० चि० अ० २।१।४-७।

२. काश्यप संहिता, पृ० ४२।

मल-मूत्र का वेग उपस्थित होने पर, श्रम, व्यायाम, उपवास, थकान से पीड़ित होने पर, एकान्त स्थान के बिना स्त्री सेवन न करे ।[1]

इसी प्रकार ऋतु विचार से भी स्त्री सेवन का निर्देश मिलता है। हेमन्त और शिशिर में स्त्री सेवन बुरा नहीं, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में स्त्री सेवन निषिद्ध किया है। ग्रीष्मकाल आदानकाल है, हेमन्त और शिशिर सूर्य के विसर्ग काल हैं।[2]

चिकित्सा की दृष्टि से स्त्रियों से सम्बन्धित जानकारी कई स्थानों पर मिलती है, उदाहरण रूप में—

(क) गुल्मरोग में स्त्रियों में शोणित गुल्म होने के जो कारण बताये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं—

(अ) **पारतन्त्र्याद्**—स्त्रियाँ परतन्त्र रहती हैं, इसका स्पष्टीकरण वेश्याओं के सदा रोगी रहने का कारण बताते हुए किया है—वेश्याको सदा मनुष्य के चित्त के अनुकूल बरतना पड़ता है, उसको सदा शरीर के सजाने की चिन्ता रहती है, इसलिए वह सदा रोगी रहती है।[3] स्त्री परतन्त्र रहती है, उसे सदा दूसरे की इच्छा से काम करना होता है, इसी से वह मल-मूत्र के उपस्थित वेग को भी रोकती है।

(आ) **अवैशारद्यात्**—शिक्षित न होने से।

(इ) **वेगानुपरुन्धत्या**—मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकने के कारण।

(ई) **सततमुपचारानुरोधात्**—निरन्तर सेवाकार्य करते रहने से।

(उ) **आमगर्भे वाप्यचिरपतिते**—गर्भस्राव होने पर या गर्भ गिरने के कारण।

(ऊ) **अचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपण्यान्यासेवमानायाः वातः प्रकोपमापद्यते**—प्रसव के पीछे शीघ्र ही अथवा ऋतुकाल में वात प्रकोपक वस्तुओं का सेवन करने से वायु कुपित हो जाती है—इन कारणों से रक्तगुल्म होता है।[4]

---

१. चरक० सू० अ० ८।२२।

२. वही, सू० अ० ६।

३. वही, सि० अ० १२।२२।

४. वही, नि० अ० ३।१३।

(ख) स्त्रियों के शरीर की बनावट पुरुषों के शरीर-रचना की अपेक्षा सुकुमार होती है, इसलिये उनकी चिकित्सा में विशेष सावधानी बरतनी चाहिये।

स्त्रियां की प्रकृति बहुत कोमल, अस्थिर, छोटे दिल वाली, थोड़े से भी कष्ट में घबराने वाली, अति नाजुक, निर्बल होती है। दूसरों से धैर्य एवं सान्त्वना मिलने पर ही इनको धैर्य आता है। इनको औषध देते समय इस प्रकार की औषध देनी चाहिये, जिससे इनको ग्लानि न हो, मात्रा में थोड़ी हो।[1]

धात्री और परिचारिका—सेवाकार्य को जानने वाली, पवित्र स्वभाव की अपवित्रता से द्वेष करने वाली, उच्च जाति की (अनन्त्यावसायिनी), उत्तम कुल में उत्पन्न, स्वस्थ, छोटे काम न करने वाली, देखने में सुन्दर धात्री उत्तम है।[2]

प्रसव के समय की परिचारिका के सम्बन्ध में जो भी सूचनायें दी हैं, वे अति महत्व की हैं, यथा—

बहुशः प्रजाता—जिसने बहुत बार प्रसव किया हो।
सौहार्दयुक्ताः—ममता रखने वाली।
सततमनुरक्ताः—सदा स्नेह रखने वाली।
प्रदक्षिणाचाराः—सेवा कार्य में कुशल।
प्रतिपत्तिकुशलाः—सूझवाली।
प्रकृतिवत्सला—स्वभाव से ही प्रेम रखने वाली।
त्यक्तविषादाः—आलस्य रहित।
क्लेश सहिष्णवः—दुःख को सहन करने वाली— स्त्रियाँ रहनी चाहिये।

इससे अधिक इस सम्बन्ध में सम्भवतः कुछ कहा भी नहीं जा सकता।

बच्चों का लालन-पालन—चरक संहिता के शारीरस्थान के अध्याय का

१. चरक० वि० अ० ८।९४।

२. वही, शा० अ० ८।३४। मनुस्मृति (४।७९) ने अन्त्यों और अन्त्यावसायियों का अलग-अलग उल्लेख किया है; और (१०।३९) में अन्त्यावसायी को चाण्डाल पुरुष एवं निषाद स्त्री की सन्तान कहा है। भाष्यों में ये अछूत और श्मशान के निवासी कहे गये हैं। धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) पृ० १२५।

नाम **जातिसूत्रीय** है। जाति का अर्थ जन्म है। इस अध्याय में शिशु के जन्म से सम्बन्धित सूचनायें दी गई हैं। इस में कल्याणकारी संतान (श्रेयसीप्रजामिच्छन्तः) की चाह रखने वाले माता-पिता के लिये निर्देश दिये हैं।

उत्तम संतान की चाह रखने वाले स्त्री और पुरुष के आर्त्तव और शुक्र अदूषित होने चाहिये, स्त्री का गर्भाशय भी निरोग होना चाहिये। इस प्रकार के स्त्री और पुरुष को स्नेहन और स्वेदन देकर, वमन और विरेचन कराके पीछे क्रमशः प्रकृति में लाये। शुद्ध होने पर आस्थापन और अनुवासन वस्ति देवें। पुरुष को मधुरगण की औषधियों से संस्कृत किये घी और दूध का तथा स्त्री को तेल और उड़द का भोजन देवें।

वृहदारण्यकोनिषद् में भी पुत्र उत्पन्न करने के लिये **क्षीरौदन, दध्योदन, घृतमिश्रित** भोजन देना लिखा है, कन्या के लिये **तिलोदन** देना लिखा है।[1] आयुर्वेद में आर्त्तव के न आने पर तेल खाने का उल्लेख है।[2] घृत और दूध सौम्य होने से पुरुष के लिये और तेल आग्नेय होने से स्त्री के लिये कहा है, पुरुष सौम्य हैं और स्त्रियाँ आग्नेय हैं, क्योंकि स्त्री को प्रजनन करना है—उत्पत्ति करनी है।

इस के आगे गर्भाधान की प्रक्रिया दी है, इसमें इच्छित संतान के लिये विस्तार से विधि बताई है। इस विधि में **शुद्ध स्नान** शब्द आया है। शुद्ध स्नान से अभिप्राय ऋतु के दिनों में तेल विना स्नान करने से है। कालिदास ने भी मेघदूत में इस का उपयोग किया है। ("शुद्ध स्नानात् परुषमलकम्" मेघदूत—उत्तर ३१; शुद्धस्नानात्-तैलादिरहितस्नानात्—मल्लिनाथ)। यहाँ पर भी शुद्ध-स्नान का अर्थ ऋतु के दिनों में तैलरहित स्नान से है। इन दिनों में किसी प्रकार का शृङ्गार नहीं करना चाहिये, ब्रह्मचारिणी रहना होता है। ऋतु के व्यतीत होने पर शिर सहित स्नान करके शुद्ध निर्मल विना फटे वस्त्र पहने, श्वेत माला धारण करे।

इस विधि में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात समागम करने के पीछे स्त्री को चाहिये कि शीतल जल का स्पर्श करे। जिन गाय-भैसों को गर्भ नहीं टिकता, उन को

---

१. वृहदारण्यकोपनिषद्-६।४।२४-१७।

२. तिलक्वाथोगुड़व्योषहिंगुभार्गीयुतः पिवेत्। नष्टे पुष्पे च योषिताम्॥ (चक्रदत्त)

समागम के तुरन्त पीछे नदी या तालाब में बिठा देते हैं, उन की पीठ पर नदी की ठण्डी मिट्टी बहुत बड़ी मात्रा में लगा देते हैं, इस से उस की गरमी शान्त हो जाती है। वही सिद्धान्त यहाँ पर भी माना है—"पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्"—श० अ० ८।६—पानी से उसे ठण्डा करे।[1]

पुत्रेष्टि होमविधि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के यज्ञ में जाति के अनुसार भिन्न-भिन्न आसन बताये हैं। ब्राह्मण के यज्ञ में ऋत्विक् शुद्ध निर्मल वस्त्रों की गद्दी या श्वेत बैल के चमड़े पर; क्षत्रिय के होम में व्याघ्र चर्म या सांड़ के चर्म पर; वैश्य के यज्ञ में बकरे या मृग के चमड़े पर बैठे।

तीनों जाति के लिए होमविधि कही है, परन्तु शूद्रा के लिये होमविधि नहीं कही, उस को तो केवल नमस्कार करना ही बताया है। इस से स्पष्ट है कि उस समय भी उसके लिये यज्ञ-विधान नहीं था।

इच्छित संतान—इस की भी विधि बताई है, जो स्त्री जिस जिस प्रकार की संतान चाहती हो, उस को चाहिये पुत्रीय होमविधि को सुन कर उसी प्रकार के जनपदों का मन से चिन्तन करे। इन जनपदों में मनुष्यों का जैसा-जैसा रहन-सहन, खान-पान, वेश-परिधान आदि होता हो, वैसा-वैसा ही अपना भी करे।

बच्चे का रंग-वर्ण पंचभूतों के कारण से बनता है, यथा—तेज धातु उदक और अन्तरिक्ष से मिलकर श्वेत वर्ण उत्पन्न करता है, तेज धातु पृथ्वी और वायु से मिलकर कृष्ण वर्ण उत्पन्न करता है, सब धातुओं के समान होने से (पृथ्वी अप्-तेज वायु और आकाश के बराबर होने से) श्याम वर्ण होता है। श्याम वर्ण की प्रकृति भी सम वात-पित्त-कफ रहती है।[2]

गर्भ का मन बनने में कारण—गर्भवती का गर्भकालीन सुनना, देखना, गर्भ का अपना संचय किया पूर्वकर्म, तथा पूर्वजन्म में किया मन का अभ्यास कारण होता है (पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियतेह्यवशोऽपि सः—गीता ६।४४)।

जिस प्रकार से निर्मल—अच्छी प्रकार से ठीक किये—तैयार रखे वस्त्र पर

---

१. संस्कार विधि विमर्श-अत्रिदेव विद्यालंकार, पृ० ४२।

२. वही; पृ० ५२ की टिप्पणी।

गिरा थोड़ा सा भी रंग वस्त्र को पकड़ लेता है, उसी प्रकार गर्भाशय के शुद्ध होने पर गर्भ तुरन्त स्थिर हो जाता है।[१]

नामकरण विधि—नामकरण संस्कार जन्म के दसवें दिन करने का विधान है[२]। उस दिन माता को स्नान कराके, नये, धुले, बिना फटे वस्त्र पहनाये, आभूषण धारण कराये। बच्चे को भी स्नान कराके गद्दी पर बिठाये। ब्राह्मणों से स्वस्ति पाठ कराये। नाम दो प्रकार का रखना चाहिये[३]—(१) नक्षत्र सम्बन्धी (नक्षत्र देवता से सम्बन्ध), और (२) अभिप्राय वाला। इनमें अभिप्राय वाला नाम घोषवान (घ, झ, ढ, ध और भ), अन्तःस्थ (य, र, ल, व), उष्मान्त (श, ष, स, ह) वाला नहीं होना चाहिये। नाम बहुत बड़ा नहीं रखना चाहिये। पिता, पितामह, प्रपितामह से मिलता हुआ, लोक में अनिन्दित, होना चाहिये। नक्षत्र देवता से मिलता नाम दो अक्षर का या चार अक्षर वाला होना चाहिये (जैसे—अत्रिपुत्र का नाम पुनर्वसु है, पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुए होने से ही सम्भवतः पुनर्वसु नाम है, ऐसा अनुमान होता है) अग्निवेश के गुरु यही पुनर्वसु हैं। अष्टांग संग्रह के कर्ता वाग्भट के पितामह का नाम भी वाग्भट या वाहट था, वही नाम इसने भी धारण किया था।[४] महाभाष्य [आ-१] में नामकरण के लिये कहा है—नाम का प्रारम्भ घोषवत् व्यंजन से होना चाहिये; मध्यस्थ में अन्तःस्थ व्यंजन आना चाहिये; वृद्ध अक्षर रहित; तीन पीढ़ियों के नाम के अनुसार; शत्रु वर्ग में अप्रतिष्ठित, दो या चार अक्षर वाला कृदन्त नाम श्रेष्ठ माना जाता है; तद्धितान्त नाम नहीं रखा जाता।

बच्चों के वस्त्र—बच्चों के लिये जो वस्त्र बनाये जाँय, उनके लिये कुछ आवश्यक सूचनायें दी गई हैं—

---

१. चरक० वि० अ० ८।१४, १७।

२. प्राप्ते दशमेऽहनि पुष्ये मुहूर्ते··· चन्द्रा पीड़ इति नाम चकार—कादम्बरी।

३. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र [१-१५-४] में भी नक्षत्र और नक्षत्र देवता के नाम पर नाम रखने का विधान है; बौधायन गृह्य सूत्र में नक्षत्र नाम को गुह्य कहा है। नक्षत्र नाम धेयेन द्वितीय नामधेयं गुह्यम् [बौधा० यू० सू० वीरमित्रदय; भाषा २—पृष्ठ २३७] से उद्धृत इसे केवल माता-पिता और परिवार के लोग ही जानते थे।

४. संस्कारविधि, पृ० ६३, एवं अष्टांगसंग्रह—उत्तरतंत्र अ० ५०।

१—वस्त्र कोमल होने चाहिये।

२—वस्त्र हल्के होने चाहिये।

३—वस्त्र साफ-धुले-पवित्र होने चाहिये।

४—वस्त्र सुगन्धित होने चाहिये।

५—वस्त्रों को धूप देनी चाहिये।

६—जो वस्त्र मैले हो जायँ, मल-मूत्र से खराब हो जाँय, जिनमें जूँ आदि पड़ जाँय, उनको तुरन्त हटा देना चाहिये।

७—यदि दूसरे वस्त्र न हों तो इनको ही धोकर, धूप में सुखाकर, धुवें आदि से शुद्ध करके काम में लाना चाहिये।

८—वस्त्रों को धूप देने के लिये—कृमिनाशक तथा सुगन्धित वस्तुओं को बताया है, यथा—सरसों, हींग, कूठ, वच, गुग्गुल, चोरक, जटामासी, सापकी केंचुली, घी—इनसे धूँवा देना चाहिये।[1]

बच्चे के खिलौने—अश्वघोष ने बुद्ध के लिये सम्बन्धी जनों से लाये खिलौने देने का उल्लेख किया है—

वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च।
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्याचित्राः॥

बुद्धचरित २।२२

बुद्ध की वय के अनुसार आभूषण, सोने के बने हाथी, मृग, घोड़े, बैल जुड़े रथ, सोने और चाँदी की बनी पुत्रियाँ सम्बन्धी जन लाये।

काश्यप संहिता में खिलौनों की एक लम्बी तालिका दी है, जिनसे पता लगता है कि उस समय किस प्रकार के खिलौने बनते थे, यथा—

गाय, हाथी, ऊँट, घोड़ा, गधा, भैंस, मेढ़ा, बकरा, हरिण, सूअर, बन्दर, मृग, हरिण, सिंह, व्याघ्र, लगड़भग्गड़, भेड़िया, कछुआ, मछली, तोता, सारिका, कोयल, कलविंक, चकोर, हंस, क्रौंच, सारस, मोर, केंकड़ा, चकवा, चिड़िया, मुर्गा, बटेर, ये पशुपक्षि, पहाड़, घर, रथ, चार घोड़ों का रथ, तुम्बी आदि अन्य खिलौने, गेंद आदि बनाये। कुमारी के लिये 'स्त्री कौतुक' खिलौने बनाये।

ये खिलौने पिष्टमय—पिट्टी के बनते थे, बच्चा खेलता था। चीनी के बने

१. काश्यप संहिता—पृ० २८४।

इस प्रकार के खिलौने से बच्चा खेलता है और टूटने पर खा जाता है। इस प्रकार के खिलौने से मुख में डालने से हानि नहीं करते।

चरक संहिता में खिलौने की नामावलि न देकर उनके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनायें दी हैं[१]—

बच्चों के खिलौने—

१—विचित्राणि—नाना प्रकार के होने चाहियें।

२—घोषवन्ति—बजने वाले होने चाहियें।

३—अभिरामाणि—देखने में सुन्दर होने चाहिये।

४—अतीक्ष्णाग्राणि—आगे से नोक या अणिदार—तेज नहीं होने चाहिये।

५—अप्राणहराणि—इनसे बच्चे के प्राणों को किसी प्रकार की हानि नहीं होनी चाहिये।

६—अवित्रासनानि—डरावने नहीं होने चाहिये, बच्चा इनसे डर न जाय।

संस्कृत का प्रसिद्ध मृच्छकटिकम् प्रकरण (मिट्टी की गाड़ी)—खिलौने के ऊपर ही लिखा गया है।

धात्री का चुनाव—बच्चे को दूध पिलाने के लिये धाय रखी जाती थी, धाय की परीक्षा के विषय में दी गई सूचनायें उस समय की पसन्दगी का द्योतक है—

समान वर्ण की, युवती, विनीत, निरोग-स्वस्थ, सब अंगों से स्वस्थ—कोई अंग विकृत न हो, सब व्यसनों से बची, देखने में सुन्दर, बच्चे के समान देश और समान जाति की, देखने में कुरूप या घृणित न हो, छोटी प्रकृति की न हो—उदार मनवाली, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल में उत्पन्न, प्रकृति से ही ममता रखने वाली, अपना बच्चा जिसका जीता हो, पर्याप्त दूध वाली, आलस्य और प्रसाद से रहित, सफाई पसन्द करने वाली, उच्च जाति की (नीच जाति की नहीं), ऐसी धात्री चुननी चाहिये।[२]

---

१. चरक० शा० अ० ८।६४।

२. चरक० शा० अ० ८।५२।

बच्चे का पालन, उसका अधिक समय धात्री के पास बीतता है, बच्चे में संस्कार धात्री से आते हैं, इसलिये धात्री के चुनाव में इतनी सूक्ष्म विवेचना की गयी है।

बच्चे का मनोविज्ञान—बच्चे के पालने में एक बात का सदा ध्यान चरक में दिया गया है; वह है उसमें भय उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये। उसके खिलौने भी ऐसे होने चाहिये, जिससे उसे डर न लगे। धात्री भी सौम्य, सुन्दर, रूपवती, युवती ही बताई है, घृणित, विकृत अंगों वाली धात्री न रखने की सूचना है।

उस के पालने में सब से महत्त्व सूचना यही है कि बच्चे को कभी भी भय न दिखाये। यदि वह न खाये अथवा कोई अकरणीय कार्य करता हो; तो भी उस को डराना-धमकाना नहीं चाहिये। उसे भयभीत करने के लिये राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नहीं लेना चाहिये, कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिस से उस के मन में भय बैठ जाय।[1]

कुछ मान्यतायें—बच्चा जीवित रहे, दीर्घायु प्राप्त करे, इसके लिये कुछ बातें उस समय प्रचलित दीखती हैं, जिनका कि चरक संहिता में उल्लेख है। इन वस्तुओं को बच्चे के गले में या उसके अंग पर रक्षाकरण्ड के रूप में बाँध देते थे।

बच्चे को नाना प्रकार की मणियाँ (पत्थर की गुरियाँ अकीक, संगयशव आदि की बनी) पहनानी चाहिये। जीवित गेंड़ा, रूरू, गवय, बैल इनमें से किसी एक के दक्षिण सींग में से थोड़ा-सा भाग लेकर बच्चे को पहना देना चाहिये। ऐन्द्री आदि दिव्य औषधियाँ शिशु के शरीर पर बाँधनी चाहिए। इनके सिवाय और भी जो वस्तुएँ अथर्ववेद को जानने वाले ब्राह्मण बतायें, वे सब करें[2]।

देहातों में आज भी रिवाज़ है कि जिस गाय या भैंस का बछड़ा या कटरा-

---

१. चरक० शा० अ० ८।६४। चरक में पूतना नाम यहीं पर है। भेलसंहिता-(अपस्मार-चिकित्सा पृ० १५३) में भी पूतना नाम है "रूपस्था च वयस्था च पूतना केशधारिणी" इससे स्पष्ट है कि ६५० ई० पू० या ७०० ई० पू० यह शब्द इसी अर्थ में था। काश्यप संहिता में तो बहुत स्पष्ट है, जो गुप्त काल की है।

२. वही।

कटरी बार-बार मर जाते हैं, उसके कान का थोड़ा-सा भाग या उसी बछड़ा-बछड़ी, कटरा-कटरी के कान का थोड़ा-सा भाग काटकर उसको दे देते हैं—खिला देते हैं। लोगों की मान्यता है कि इससे वह जी जाता है।

उपसंहार—चरककालीन गार्हस्थ्य जीवन, स्त्रियों की स्थिति, बच्चों का लालन-पालन, उनके मनोविज्ञान की झाँकी इस प्रकरण में दी गई है। गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित सब बातों का विचार, सामाजिक जीवन, वैयक्तिक जीवन, खान-पान सम्बन्धित सूचनाएँ, स्त्रियों के प्रति कर्त्तव्य आदि बातें इस अध्याय में स्पष्ट कर दी हैं। बच्चे के होने में कारण, उस समय की सावधानी, इच्छित सन्तान, उस का पालन, उस के वस्त्र, खिलौने आदि बातों को विस्तार से विचार किया गया है। बच्चे का मन किस प्रकार से विकसित करना चाहिये, उस के साथ कैसा बर्ताव रखना चाहिये, आदि बातों का उस समय क्या विचार था, यह चरक संहिता के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। बच्चे को डराने के लिये राक्षस—पूतना आदि शब्दों का उच्चारण नहीं करना चाहिये (आज जैसा देखा जाता है कि बच्चे के दूध न पीने पर या अन्य अकरणीय कार्य करने पर उसे भयभीत करने के लिये हौआ आदि नाम लिये जाते हैं, वैसा रिवाज उस समय भी था, जिसका चरक संहिता में निषेध किया है)।

भय के कारण से मन निर्बल बनता है, जिस से उस में उन्माद रोग होने की सम्भावना हो सकती है, उन्माद भीरु-डरपोक पुरुषों में जल्दी उत्पन्न होता है।[१] इसलिये बच्चे को सब अवस्थाओं में डराना मना किया है। उसके वस्त्र और खिलौने का विचार ज्ञान के आधार पर किया है, जो कि उस समय के ज्ञान के विकास की उत्तम साक्षी है।

---

१. चरक० नि० अ० ७।४।

पाँचवाँ अध्याय

अध्ययन-अध्यापन विधि

[शिक्षा की व्यवस्था, छात्र-जीवन, अनुशासन, आचार्य का स्वरूप, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, अध्ययन की शाखायें, अध्ययन के प्रकार, परिषदें—छुट्टियाँ—अध्ययन का ढंग ।]

आयुर्वेद का अध्ययन सबसे पुण्यशाली है—आयुर्वेदका सम्बन्ध वेद से है, और इस शास्त्र का सम्बन्ध आयुसे है, इसीलिये यह शास्त्र वेदवादियों से पूजित है। ऋग्वेद आदि दूसरे शास्त्रों का सम्बन्ध परलोकसे है। आयुर्वेद शास्त्रका सम्बन्ध इहलोक और परलोक दोनों से है, इसलिये यह आयुर्वेद सबसे अधिक पुण्यतम है।[१]

काश्यप संहिता में कहा है कि वेद आयुर्वेद का ही आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार से हाथ में चार अंगुलियाँ और अंगुठा है, ये सब अंगुली नाम से कहे जाते हैं, परन्तु नाम और रूप में भिन्न हैं, इसी प्रकार आयुर्वेद भी चारों वेदों के साथ में ही है। जिस प्रकार से अंगूठा चारों अंगुलियोंपर शासन करता है, उसी प्रकार से आयुर्वेद भी चारों वेदों से अधिक है। जिस प्रकार वेदों में ब्रह्मज्ञानियों ने धर्म, अर्थ, काम के साथ में पुरुष निश्रेयस का विचार किया है, उसी प्रकार से इस वेद में भी निदान उत्पत्ति-लिंग-अरिष्ट चिकित्सा रूप से धर्म-अर्थ-सुखकारी पुरुष निश्रेयस् का विचार किया है (पृष्ठ ४३)।

आयुर्वेद पढ़ने के अधिकारी—काश्यप संहिता में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारो को आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है, ब्राह्मण को परोपकार के लिये, क्षत्रिय को अपने शरीर की रक्षा के लिये, वैश्य को वृत्ति के लिये और शूद्र को सेवा के लिये आयुर्वेद पढ़ना चाहिए। चरक संहिता में शूद्र

---

१. चरक० सू० अ० १।४३।

को आयुर्वेद का अधिकारी सामान्य रूप से नहीं कहा गया है। सुश्रुत में मंत्र भाग को छोड़कर शेष रूप में आयुर्वेद शूद्र को पढ़ाने का उल्लेख किया गया है।

इसमें विकल्प करके सबके लिये आयुर्वेद सीखने का भी उल्लेख है (धर्मार्थ-काम परिग्रहार्थं सर्वैः—(चरक० सू० अ० ३०।२९)। धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) की दृष्टि से सब मनुष्यों को आयुर्वेद का ज्ञान सामान्य रूप से होना आवश्यक है। यह आयुर्वेद—आयु का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। आयु के लिये कौन वस्तु उपादेय या हेय है, हितावह है या अहितकारी है, इसका ज्ञान सबके लिये एक समान होने से आयुर्वेद सबके लिए आवश्यक है। इसी से शूद्र को भी अधिकारी माना गया है।

अध्ययन-अध्यापन विधि—बुद्धिमान मनुष्य को सबसे प्रथम अपनी कार्य करने की क्षमता का पता लगाना चाहिए, जब वह हल्के या भारी काम करने का निश्चय कर ले, तब उसके कर्मफल का निश्चय करना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि मुझे इस कार्य के करने से क्या लाभ होगा। फल का विचार करके देश-काल परिस्थिति का विचार करे। इस प्रकार तर्क-युक्ति-विचार से जब मनुष्य वैद्य बनने का ही निश्चय करे, तब सबसे प्रथम वह शास्त्र की परीक्षा करे।

शास्त्र की परीक्षा—वैद्यों के बहुत से शास्त्र लोक में प्रचलित हैं, इसलिए इनमें जो शास्त्र महान् यशस्वी, गम्भीर पुरुषों से सेवित, अर्थ बहुल (व्यर्थ के पन्ने न भरे हों), विद्वानों से सम्मानित, मन्द-मध्यम और तीक्ष्ण तीनों प्रकार के शिष्यों के लिये उपयोगी, पुनरुक्ति दोष से रहित, ऋषियों से प्रणीत (उस विषय के विद्वान् से बनाया), **सूत्र, भाष्य** (विस्तार), संग्रह(उपसंहार) क्रम से युक्त हो, अपने ही में पूर्ण हो (जिसके समझने के लिए दूसरे ग्रन्थों की जरूरत न हो), अर्थ वाले शब्दों से युक्त (व्यर्थ के या ग्राम्य शब्द जिसमें न हों), कठिन या श्लेषात्मक शब्दों से रहित, सम्यक् प्रकार से अर्थ को स्पष्ट करने वाला, जिसमें विषय क्रम से कहा गया हो, अर्थ तत्व का निश्चय कराने वाला, संगत अर्थ का ज्ञापक, स्पष्ट प्रकरणों वाला, जल्दी ज्ञान कराने में समर्थ, जिसमें अर्थ और उदाहरण स्पष्ट हों, ऐसा शास्त्र चुनना चाहिए। इस प्रकार का शास्त्र निर्मल-स्वच्छ सूर्य की भाँति अन्धकार को दूर करके विषय को प्रकाशित करता है।[1]

---

१. चरक वि० अ० ८।३

शास्त्र-ग्रन्थ की रचना तीन रूप में होती थी—

१—सूत्र-क्रम ।

२—भाष्य-क्रम ।

३—संग्रह-क्रम ।

सूत्र क्रम में वस्तु को संक्षेप में कह कर पीछे उसका भाष्य-विस्तार करते हैं, और अन्त में उसका उपसंहार किया जाता है। भाष्य करने में उदाहरण के साथ सूत्र के अर्थ को स्पष्ट किया जाता है। संग्रह का अर्थ उपसंहार या संक्षेप है, इसमें सारे सन्दर्भ को थोड़े से शब्दों में निचोड़ दिया जाता था। ग्रन्थ के व्याख्यान का सबसे सुन्दर यही ढंग था। इसी से चरक संहिता में स्थान-स्थान पर सुन्दर उपमाएं मिल जाती हैं (जैसा कि शास्त्र के चुनाव में एवं आचार्य के सम्बन्ध में दी है)।

चरक संहिता और सुश्रुत संहिता में अध्याय के अन्त में 'भवन्ति चात्र' या 'भवति चात्र' कहकर सारे सन्दर्भ का सारांश दो या तीन श्लोक में कह दिया गया है।

आचार्य के गुण—जिसने भली प्रकार से शास्त्र का ज्ञान किया हो (सैद्धान्तिक ज्ञान), अच्छी प्रकार से कर्माभ्यास देखा हो (क्रियात्मक ज्ञान), शिष्य में अनुकूल बुद्धि रखनेवाला, कुशल, मन और शरीर से पवित्र, जित-हस्त; सब साधन सामग्री से युक्त, सब इन्द्रियों से युक्त, प्रकृति को जाननेवाला, उत्तम सूझ का, शास्त्र-ज्ञान द्वारा जिसने अपनी विद्या को अच्छी प्रकार मांजा हो (परिष्कृत किया हो), अहंकार रहित, निन्दा न करने वाला, क्रोधी न हो, क्लेश सहनेवाला, शिष्य वत्सल, पढ़ाने की तथा समझाने की योग्यता वाला, आचार्य उत्तम है।[१] इस प्रकार का आचार्य अच्छे शिष्य को शीघ्र ही वैद्य-गुणों से युक्त कर देता है,

---

१. कालिदास ने शिक्षक-आचार्य के सम्बन्ध में कहा है—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रातिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥
लब्धास्पदोऽस्मि विवादभीरोस्तितीक्षमाणस्यपरेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥

—मालविका, १।१६-१७.

जिस प्रकार कि ऋतु पर बरसा मेघ अच्छे क्षेत्र को धन-धान्य से पूर्ण कर देता है।

मूर्ख आचार्यों की पहचान अत्रिपुत्र ने बहुत ही सुन्दर दी है, यथा--

१—मूर्ख गुरु असत्पक्ष—(अप्रसिद्ध आगम या अनागम पक्ष) का आश्रय लेते हैं।

२—पूछने पर कह देते हैं कि अभी समय नहीं है, फिर आना।

३—शिर में या कहीं दर्द का बहाना करते हैं, अभी दर्द है, अब जाओ।

४—दम्भ—अपना रहन-सहन, गर्व इतना दम्भपूर्ण रखते हैं कि शिष्य उनके पास जाने से भी डरता है।[1]

५—शिष्य के पूछने पर उसके साथ कठोरता से पेश आते हैं, उसे झिड़क देते हैं, जिससे उसे पूछने का साहस ही नहीं होता।

ऐसे आचार्य प्रायः अपने शास्त्र में अनाप्त—अशिक्षित रहते हैं, ये दूसरों की सदा निन्दा करते रहते हैं। इस प्रकार के शास्त्र को दूषित करने वाले आचार्यों, गुरुओं, पण्डितों को मृत्यु के पाश समझकर दूर से ही छोड़ देवे। शान्ति, ज्ञान-विज्ञान से जो पूर्ण हों, उन वैद्यों की सदा सेवा करे (चरक० सू० अ० ३०।८२-८३)।

शिष्य की परीक्षा—अध्यापन कार्य में रुचि रखने वाले आचार्य को सबसे प्रथम शिष्य की परीक्षा करनी चाहिये। जैसे—शान्त (चंचल प्रकृति न हो), आर्य प्रकृति, नीच कर्म न करने वाला, आँख, मुख, नासा वंश सीधे हों, जिह्वा पतली, लाल, स्पष्ट (उच्चारण वाली) हो, दाँत और ओष्ठ अविकृत हों, मिनमिन न करता हो, धैर्यशाली, घमण्डी न हो, मेधावी, तर्क-युक्ति से सम्पन्न, उदार चित्त, वैद्य कुल में उत्पन्न अथवा वैद्य वृत्ति वाला, तत्व ज्ञान में बुद्धि रखने वाला, उत्तम अंगों का, अदूषित इन्द्रियों का, विनीत, उद्धत न हो, अर्थ तत्व को समझनेवाला, अक्रोधी, व्यसनों से बचा, शील-शौच-आचार-स्नेह-चतुरता-कौशल से युक्त, पढ़ने में रुचिवाला, अर्थ जानने में, कर्म दर्शन में मन लगाने वाला, लालच रहित, आलसी न हो, सब प्राणियों की हित कामना

१. "दम्भिभवत्यविवेकी"—पंचतन्त्र०

रखनेवाला, आचार्य की आज्ञा को मानने वाला, अनुराग वाला शिष्य अध्यापन के योग्य है।

अध्यापन विधि—शिष्य के स्वभाव को जानने के लिये, दीक्षा देने से पूर्व शिष्य को कुछ समय आचार्य-कुल में रहना होता था। इस समय उसकी संज्ञा माणविक होती थी। अष्टांग संग्रहमें यह समय ६ मास का बताया गया है (षण्मासानुवृत्तिः)। इसके पीछे उसे यदि ज्ञान के योग्य समझा जाता था, तब दीक्षा देकर अन्तेवासी बनाया जाता था।

अन्तेवासी—शिष्य से अभिप्राय यही था कि वह गुरु के घर का एक सदस्य हो जाता था, उससे कुछ भी छिपाया नहीं जाता था, वह गुरु के घर में अन्दर-बाहर प्रवेश कर सकता था। अथर्व वेद में कहा है—

"आचार्यः उपनयमानः ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।"—अथर्व०

आचार्य शिष्य का उपनयन करके (समीप में लाकर) गर्भ के अन्दर करता है, अपने अन्दर कर लेता है—उससे अब कुछ भी नहीं छिपाता। इसी से सुश्रुत में कहा है—तेरे ठीक प्रकार से बरतने पर भी यदि मैं तुझमें दोष निकालूँ तो मुझे पाप लगे, मेरी विद्या निष्फल हो जाय (सू० अ० २।७)।

दीक्षा देने का समय—आचार्य शिष्य को प्रशस्त नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त में आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिये दीक्षित करता था। प्रशस्त दिन, उत्तम करण, और कल्याणकारी मुहूर्त्त में शिष्य का सिर मुंड़वा कर उसे उपवास रखवाकर, स्नान कराके, काषाय वस्त्र धारण कराये। शिष्य हाथों में सुगन्ध, समिधा, घृत, शरीर पर लगाने के लिये चन्दन आदि लेप, पानी का कुम्भ, अग्नि, माला, दाम, दीपक, अघटित तथा घटित स्वर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता आदि रत्न, क्षौम आदि उत्तम वस्त्र, कुश, लाजा, सरसों, अक्षत, श्वेत पुष्प, गुँथे तथा बिना गुँथे पुष्प, पवित्र भक्ष्य, घिसा चन्दन आदि लेकर गुरु के समीप आये। शिष्य जब सामान लेकर उपस्थित हो जाय, तब उसको अग्नि के समीप पूर्व की ओर मुख करके बिठाकर अध्ययन विधि के अनुसार (सम्भवतः वेदारम्भ संस्कार के अनुसार) मधु और घृत से तीन-तीन आहुतियाँ दिलाये तथा इन आहुतियों के साथ में आशीर्वाद सम्बन्धी मंत्रों को पढ़े। ब्रह्मा, अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति,

अश्विनी, इन्द्र, ऋषि और सूत्रकारों को अभिमन्त्रित करते हुए मंत्रों से पहले आहुति देवे।

शिष्य भी इसी प्रकार से करे। होम करके अग्निकी प्रदक्षिणा करे। परिक्रमा करके, ब्राह्मणों की स्वस्ति-मंगल कामना तथा शान्ति-पाठ करके उपस्थित वैद्यों की पूजा करे।

अनुशासन—शिष्य को आचार्य कुछ उपदेश देता था, यह उपदेश उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि वेदारम्भ संस्कार में आचार्य ब्रह्मचारी को देता है।[1] इसमें उसे करणीय कार्यों का उपदेश दिया जाता है, यथा—

तुझको ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, मांस नहीं खाना चाहिए, पवित्र-साफ भोजन करना चाहिए, मत्सरता से बचना चाहिए, शस्त्र नहीं पकड़ना चाहिए, मेरी आज्ञा के बिना कोई भी अकरणीय कार्य नहीं करना चाहिए, जो भी कुछ बाहर से लाओ, उसे पहले मुझे अर्पण करना चाहिए, मुझको प्रधान—मुख्य मान कर, मेरे अधीन रहकर, मेरे हित में काम करते हुए तुमको बरतना चाहिए। अग्नि के समान, देवता के समान, राजा के समान, पिता के समान, स्वामी के समान, पुत्र की भाँति, दास की भाँति, भिक्षुक की भाँति तुमको मेरी सेवा करनी चाहिए। मेरी अनुकम्पा से सम्पूर्ण शास्त्र के विषय में दृढ़ता लाने के लिये शास्त्र के अर्थ को भली प्रकार समझने के लिये, बोलने की क्षमता प्राप्त करने के लिये, बार-बार इसमें प्रयत्न करना चाहिए।

कर्मसिद्धि, अर्थसिद्धि और यशकी इच्छासे सबसे प्रथम सब प्राणियों की मंगल कामना करनी चाहिए। अपनी जीविका (पेट भरने) के लिए भी रोगियों से झगड़ा नहीं करना चाहिए। मन से भी पराई स्त्री का ध्यान नहीं करना चाहिए। तुम्हारा वेश विनीत होना चाहिए, अहंकार रहित रहना चाहिए, पाप कार्यों में सहायक नहीं बनना चाहिए। स्नेह से भरा सत्य, धर्मयश और हितकारी बचन बोलना चाहिए। देश, काल के अनुसार स्मृतिपूर्वक, समझ-बूझ कर तुमको कार्य करना चाहिए। राजासे द्वेष रखनेवाले या राजा जिनसे द्वेष रखता हो, महाजनों से द्वेष करनेवाले या महाजन जिनसे द्वेष करते

१. 'संस्कार विधि'—वेदारम्भ संस्कार में शिष्यको दिया जाने वाला उपदेश देखें।

हों, उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार अतिशय विकृत, दुष्ट, दुःखी जीवन वाले, साधनों से रहित, मनुष्यों की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। जिन स्त्रियों के अभिभावक पास में न हों, उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। स्वामी या अभिभावक की जानकारी के बिना स्त्रियों से दी गयी कोई वस्तु नहीं लेनी चाहिए।

रोगी के घर में प्रवेश करते समय सूचना देकर, अनुमति मिलने पर, सहायक के साथ में प्रवेश करना चाहिए। भद्र वेश धारण करना चाहिए, आँखें नीची रखनी चाहिए। प्रवेश करते समय चेहरे पर मुस्कराहट रखनी चाहिए, याददाश्त ठीक रखकर प्रवेश करना चाहिए। घर में जाकर रोगी के उपकार के सिवाय मन, बुद्धि, इन्द्रियों को अन्यत्र नहीं लगाना चाहिए (व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए)। आतुर कुल की प्रवृत्तियों को बाहर नहीं कहना चाहिए। आयु का ह्रास होता हुआ भी देखकर उसे नहीं कहना चाहिए, विशेष करके जहाँ पर दूसरे की मृत्यु की आशंका रहे। अपनी प्रशंसा स्वतः कभी नहीं करनी चाहिए, कारण कि विद्वान् भी जब आतमप्रशंसा करने लगते हैं, तब दूसरे आदमी उनसे उद्विग्न हो जाते हैं।

आयुर्वेद की समाप्ति—पार कहीं भी नहीं है, इसलिए इसके ज्ञान में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। बिना निन्दा किये दूसरों से भी यह शास्त्र सीखना चाहिए, क्योंकि बुद्धिमानों के लिए सम्पूर्ण लोक ही आचार्य है, अबुद्धिमानों के लिए शत्रु है। इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि अपने शत्रु के धन्य, यशस्वी आयुष्य, पौष्टिक, वचन को सुने और करे भी।

इसके पीछे आचार्य शिष्य को उपदेश देता है—"देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, सिद्ध, आचार्यों में तुझे भली प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इनके साथ में भली प्रकार बरतने से यह अग्नि, सर्वगन्ध, रत्न, बीज, सब देवता तेरे लिए कल्याणकारी रहेंगे। यदि इनमें ठीक प्रकार से नहीं बरतेगा तो ये अशुभ होंगे। आचार्य के कहने पर शिष्य भी ऐसा ही कहे। यदि उपदेश के अनुसार शिष्य का व्यवहार रहे, तब उसको आयुर्वेद पढ़ाना चाहिए और यदि उपदेश के अनुसार शिष्य व्यवहार न करे तो उसको नहीं पढ़ाना चाहिए। इस प्रकार अध्यापन करने पर आचार्य पठन-पाठन के फल से अपने को युक्त करता है—

उसे अध्यापन का लाभ मिलता है" (योहि गुरुभ्यः सम्यगवाप्य विद्यां न प्रयच्छन्त्यनोवासिभ्यः सखल्वृणी गुरुजनस्य महदेना विन्दति—चक्रपाणि सू० अ० १।४-५)। गुरुओं से विद्या पढ़कर जो शिष्यों को नहीं देता, उसे बहुत पाप लगता है। सम्भवतः इसीसे आयुर्वेद की परम्परा अक्षुण्ण मिलती है।

अध्ययन के नियम और अध्ययन का समय—उस समय शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी, एक प्रकार से यह प्रवचन काल था, शिष्य गुरु से पढ़े हुए पाठ को मौखिक ही याद करने का यत्न करता था। इसके लिए यदि शिष्य स्वस्थ हो तो उसे चाहिए कि प्रातःकाल में या रात्रि थोड़ी शेष रहने पर शय्या त्याग कर दे, अपने नित्य के कार्यों से निवृत्त होकर, देवता, ऋषि, गाय, ब्राह्मण आदि को नमस्कार करके, पवित्र स्थान पर सुखपूर्वक बैठकर, मनोयोग के साथ वाणी द्वारा सूत्रों को बोलते हुए बार-बार उनको दुहराये। सूत्रों के अर्थ को बुद्धि से समझते हुए उनके अन्दर के भाव को समझने का यत्न करे। जिससे अपने में, कोई त्रुटि न रहे और दूसरे की निर्बलता को समझ सके। इसी प्रकार मध्याह्न में अपराह्न में, रात्रि में निरन्तर करना चाहिए (शिष्य को सारा समय अध्ययन में ही व्यतीत करना चाहिए)।

अध्ययन का ढंग—शास्त्र गुरु के मुख से ही पढ़ना चाहिए, बिना गुरु से पढ़े स्वयं नहीं पढ़ना चाहिए। पढ़ते समय वर्ण को नहीं छोड़ना चाहिए, न कोई मात्रा बढ़ानी चाहिए। बहुत ऊँची आवाज़ से या मरी हुई आवाज़ से, बिना स्वर के, पदों को ठीक प्रकार न रखकर, नहीं पढ़ना चाहिए। न बहुत जल्दी, न बहुत रुक-रुककर, न बहुत चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ना चाहिए।

कवि राजशेखर ने भी इसी प्रकार कहा है—

> **"अतितूर्णमतिबिलम्बितमुल्वणनादं न नाद हीनं च।**
> **अपदच्छिन्नमनावृतमतिमृदु पुरुषं च निन्दति॥"**
>
> —काव्यमीमांसा, ७ वाँ अध्याय।

अति शीघ्र या अति विलम्ब से, बहुत जोर से या चिल्लाकर अथवा अति धीमी आवाज से बिना परिच्छेद किये एवं अति मृदुता या अति कठोरता से पढ़ना निन्दनीय है।

अवकाश—वर्षा ऋतु के बिना अन्य समय में बिजली चमकने पर, दिशाओं में आग फैली होने पर, कोई बड़ा अग्निकाण्ड हो जाने पर, भूकम्प आने पर, कोई बड़ा उत्सव होने के समय, उल्कापात होने पर, सूर्य या चन्द्रग्रहण के समय,अमावस्या तिथि में और सन्ध्या काल में नहीं पढ़ना चाहिए।[१]

विद्याभ्यास (तद् विद्यसम्भाषा)—महाभाष्य में विद्या प्राप्ति के चार उपाय बताये हैं, यथा—

(१) आगम काल—ग्रहण काल (विद्या पढ़ने का समय), (२) स्वाध्याय काल—अभ्यास काल (तद् विद्यसम्भाषा), (३) प्रवचन काल—अध्यापन काल, (४) व्यवहार काल—महाभाष्यकार ने यज्ञ कर्म में इसका उपयोग बताया है, जीवन में व्यवहार होने से जो ज्ञान प्राप्त होता है (जैसे चिकित्सक को चिकित्सा-कर्म में ज्ञान होता है), वह यह है। इन चार प्रकारों से विद्या की प्राप्ति होती है।[२]

सुश्रुत में भी विद्या प्राप्ति के चार उपाय बताये हैं—(१) निरन्तर स्वाध्याय करना, (२) वाद-तद् विद्यसम्भाषण, (३) दूसरे ग्रन्थों का अवलोकन, देखना-पढ़ना, (४) उस विद्या के जानने वालों के पास उठना-बैठना, उनकी संगति करना, ये चारों उपाय बुद्धि और मेधा को बढ़ाने वाले हैं।[३] चरक संहिता में तीन उपाय बताये हैं—(१) अध्ययन, (२) अध्यापन, (३) तद्विद्य सम्भाषा[४]। वाद या तद् विद्यसम्भाषा का उल्लेख बाण ने अपने हर्षचरित में (आठवें उच्छ्वास में) भी किया है। व्युत्पादन के पीछे मनुष्य में विवाद की सीढ़ी आती है, जब पात्र में जल लबालब गले तक भर जाता है, उसमें अधिक आने की गुंजायश नहीं रहती, तब वह चारों ओर बिखरता है, यही स्थिति व्युत्पादन के पीछे विवाद की आती है।

---

१. चरक सू० अ० ८।

२. महाभाष्य।

३. सुश्रुत० चि० अ० २८।२७।

४. (क) चरक० वि० अ० ८।६। (ख) कालिदास के वचन से भी ज्ञात होता है कि उस समय वाद की प्रतिष्ठा थी—"लब्धास्पदोऽस्मीति विवाद भीरोस्तितीक्षमाणस्य परेण निन्दाम्॥"—मालविका १।१७।

तद् विद्यसम्भाषा या वाद से शास्त्र में दृढ़ता आती है, पढ़ी हुई वस्तु भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है, अर्थ ज्ञान में; वचन शक्ति में निपुणता आती है, इसलिये विद्वान् तद्विद्य सम्भाषण पसन्द करते हैं।

रोगाभिसर वैद्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि इनका न तो कोई आचार्य, न कोई शिष्य, न सहपाठी होता है और न इन्होंने किसी से वाद—शास्त्रार्थ किया होता है।[1]

सम्भाषण के लाभ—वैद्य का वैद्य से ही सम्भाषण होता है, दूसरे विषय के ज्ञाता से नहीं होता। इस सम्भाषण में जो स्पर्धा चलती है (होड़ बैठती है), उससे ज्ञान बढ़ता है, शास्त्र ज्ञान में विशदता—स्पष्टता आती है, बोलने की क्षमता बढ़ती है, यश फैलता है, पहले सुनी बात में यदि कोई सन्देह होता है, तो वह सन्देह पुनः सुनने से दूर हो जाता है। बहुत सी बातें जो पहले सुनने में नहीं आई होती, इस समय सुनने में मिलती हैं। सेवा परायण शिष्य से भी जो बात गुरु छिपाकर रखता है, वह भी विवाद में दूसरे को जीतने की इच्छा से या अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए, अथवा अभिमान से या होड़ की दृष्टि से कह देता है, इस समय वह सुनने में आती है, इसलिए विद्वान् इस सम्भाषण को पसन्द करते हैं।

सम्भाषण दो प्रकार का है:—

(१) सन्धाय सम्भाषण—जिसमें मिलकर विवाद किया जाता है।

(२) विगृह्य सम्भाषण—जिसमें हार-जीत का प्रश्न रहता है।

सन्धाय सम्भाषण—इसमें ज्ञान-विज्ञान, प्रतिवचन, वचन से युक्त, क्रोध न करने वाले, अनहंकारी, जिसे अपनी विद्वत्ता दिखाने की इच्छा न हो, जो निन्दा न करता हो, विनम्र एवं नम्रता का आदर करने वाले, क्लेश को सहने वाले, बोल-चाल में मिठास वाले व्यक्ति से सन्धाय सम्भाषण किया जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति के कुछ पूछने पर विश्वास से कहना चाहिए, अपने आप भी जो पूछना हो, उसे भी विश्वास के साथ पूछना चाहिए। यदि वह कुछ पूछे तो जैसा भी आता हो, उसी प्रकार बिना संकोच के कह देना चाहिए, गलती के भय से डरना नहीं चाहिए। इस प्रकार के व्यक्ति से यदि कहीं भूल हो जाये,

१. चरक, सू० अ० २९।९।

तो उसे जान लेने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए और न दूसरों से निन्दा करनी चाहिए, अज्ञानवश मन में अभिमान भी नहीं लाना चाहिए। जो वस्तु जानी हुई न हो, उसका वर्णन या उल्लेख न करे। अनुनयपूर्वक सब पूछना चाहिए और उसमें ध्यान लगाना चाहिए (तुलना कीजिये—"तद् विद्धि प्रणिपातेन" —गीता ४।३४)।

विगृह्य सम्भाषण—इसमें हार-जीत का प्रश्न रहता है, इसलिये सबसे प्रथम अपने में और विपक्षी में श्रेष्ठता और हीनता का विचार करना चाहिए। इसमें विपक्षी के और अपने गुण-दोषों की तुलना, परिषद् में बैठने वाले विद्वानों की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा के ऊपर ही कार्य करने या कार्य न करने का निश्चय निर्भर करता है, इसलिये इसे ठीक प्रकार से करे।

परीक्षा करते समय गुण-दोषों की तुलना अपने और विपक्षी में करनी चाहिए।

गुण	दोष
(१) अध्ययन—कितना पढ़ा हुआ है	(१) कोपनत्व—जल्दी गुस्सा आ जाना
(२) विज्ञान—शास्त्र ज्ञान	(२) अवैशारद्य—अनिपुणता
(३) धारण—स्मरण शक्ति	(३) भीरुत्व—डरना
(४) प्रतिभा—सूझ	(४) अधारणत्व—याद न रहना-भूलना
(५) वचन शक्ति—बोलने की शक्ति, चातुर्य।	(५) अनवहितत्व—असावधानता, एकाग्रता का अभाव।
ये गुण उत्तम-श्रेयस्कर हैं।	ये दोष हैं।

इन गुण और दोषों को अपने में तथा विपक्षी में गुरु-लघु की दृष्टि से (श्रेष्ठता या हीनता की दृष्टि से) देखना चाहिए।

विपक्षी तीन प्रकार का होता है—(१) अपने से श्रेष्ठ, (२) अपने से हीन, कमजोर, (३) ज्ञान में गुणों की दृष्टि से अपने समान।

परिषद् विचार—परिषद्—सभा दो प्रकार की होती है—(१) ज्ञान वाले-पढ़े लिखे विद्वानों की, (२) मूढ़ परिषद्—जहाँ पर विषय को न समझने वाले बैठे हों। यही परिषद् सभासदों के विचार से तीन प्रकार की हैं—(१) मित्र परिषद्, (२) शत्रु परिषद् और (३) उदासीन परिषद्।

इनमें शत्रु परिषद् के सामने, ज्ञान-विज्ञान, प्रतिवचन शक्ति से सम्पन्न होने पर भी, किसी के साथ भी जल्प (विवाद) नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार मूढ़ परिषद् में भी विवाद नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि मूढ़ सुहत्परिषद् हो या उदासीन परिषद् हो तो ज्ञान-विज्ञान-प्रतिवचन शक्ति से कम होने पर भी प्रसिद्ध, तेजस्वी, यशस्वी, बड़े पुरुष जिससे द्वेष रखते हों, ऐसे के साथ भिड़ जाना चाहिए। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी के साथ में लम्बे-लम्बे समास वाले (जुड़े हुए) सूत्र समूह रूपी वाक्य खण्डों को कहना चाहिए। अपने-आप खूब प्रसन्न होते हुए, दूसरों को हँसाते हुए, इशारों से दूसरों को दिखाते हुए, सभासदों का ध्यान अपनी ओर खींचते हुए, उसको बोलने का अवसर नहीं देना चाहिए। कठिन शब्द बोलते हुए, उसके पूछने पर कहना चाहिए कि अब हम नहीं कहते, तुम प्रतिज्ञा से गिर गये (पक्ष को छोड़ बैठे)। फिर दुबारा बुलाने पर कहना चाहिए, 'अभी और एक साल गुरु के पैर दबाओ' तुम्हारे लिए इतना ही पर्याप्त है, मालूम पड़ता है कि तुमने गुरु की सेवा नहीं की (पैसा देकर नहीं पढ़े), एक बार पकड़ में आ जाने पर कहना चाहिए कि मार लिया, मार लिया, ऐसा कहते हुए विपक्षी को बोलने का अवसर ही नहीं देना चाहिए। परन्तु अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

अपने से हीन के साथ या अपने समान के साथ में हार-जीत की बाजी से शास्त्रार्थ होने पर मित्र परिषद् में ही प्रवृत्त होना चाहिए। अथवा उदासीन परिषद् में भी अवधान (धारण करने का गुण), श्रवण, ज्ञान-विज्ञान, उपधारण, वचन-प्रतिवचन शक्ति की अपने में तथा प्रतिपक्षी में बारीकी से परीक्षा करने पर यदि अपने को उससे श्रेष्ठ समझे, तभी प्रवृत्त हो। विपक्षी जिस विषय में अपने से श्रेष्ठ हो, उस विषय में अल्प विवाद न करे। इस कार्य को इस प्रकार से करना चाहिए कि विपक्षी को थोड़ा भी ज्ञान न हो, होशियारी से अलग हो जाना चाहिए। प्रतिपक्षी को जहाँ पर अपने से कमजोर समझे, वहीं पर उसको पकड़े। अपने से हीन व्यक्ति को शीघ्र परास्त करने के उपाय हैं—

जिसने पढ़ा न हो (श्रुतहीन), उसके सामने लम्बे-लम्बे सूत्र पाठ करना प्रारम्भ करे, समझ से हीन व्यक्ति के आगे कठिन शब्द बोले, जो व्यक्ति वाक्य धारणा हीन हो, उसके आगे समास वाले लम्बे-लम्बे वाक्य बोले, प्रतिभा से हीन

व्यक्ति के लिये एक ही जैसे; परन्तु अनेकार्थ वाले वाक्यों का प्रयोग करे, वचन शक्ति से हीन व्यक्ति के लिए आधा ही वाक्य कहे, जो शर्मीला हो उसे झेंपाकर (शर्म दिलाकर), क्रोधी को क्रोध दिलाकर, डरपोक को डराकर, असावधान को बार-बार सावधान करके ध्यान खींचकर पराजित करे। इन उपायों से हीन प्रतिपक्षी शीघ्र पराजित हो जाता है।

विवाद में जो भी कहे, वह युक्ति से कहे और युक्तिपूर्वक कही बात का इन्कार न करे, उसे स्वीकार करे। क्योंकि कई बार विवाद से सदा की शत्रुता हो जाती है, क्रोधी मनुष्य के लिये कुछ भी अकरणीय नहीं रहता, उसके लिये कुछ भी अवाच्य नहीं, इसलिए सज्जन पुरुष समिति (सज्जनों की गोष्ठी) में झगड़ा पसन्द नहीं करते।

वाद-विवाद करने से पूर्व निम्न बातें देख लेनी चाहिए—

सन्धाय परिषद् में जो प्रकरण अपना अच्छी प्रकार अभ्यास किया हो, वह विषय रखना चाहिए; अथवा जो विषय दूसरे के लिए कठिन हो, वह विषय रखना चाहिए। अथवा जिस विषय में परिषद् रुचि न रखती हो (विमुख हो), वह विषय रखना चाहिए। या फिर परिषद् को अपने साथ मिलाकर कह देना चाहिए कि इस विषय में हम विवाद नहीं करेंगे। यह तो तेरे घर की अपनी सभा है, इसमें तू अपनी ही इच्छानुसार वाद का विषय, वाद के नियम रखेगा, यह कहकर चुप हो जाय।

इसके आगे वाद मर्यादा के लक्षण बताये हैं। ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए, ऐसा करने से पराजित होता है।

वैद्य को चाहिए कि वह वाद मार्ग से सम्बन्धित शब्दों को ठीक प्रकार से समझ ले, ये शब्द चवालीस हैं। इनमें से बहुत से शब्द न्याय, वैशेषिक दर्शन में भी जाते हैं, कई शब्दों के रूप में अन्तर है (यथा चरक में अर्थप्राप्ति और न्याय में अर्थापत्ति), कुछ शब्द नये भी हैं, जो इसी ग्रन्थ के हैं, दूसरों में नहीं हैं (यथा—व्यवसाय, अनुयोग, अनुयोज्यम्, अननुयोज्यम् आदि)। इन शब्दों से ज्ञात होता है कि वाद का विषय सबसे प्रथम चरक संहिता में आया है, न्याय-दर्शन और बौद्ध-दर्शन में पीछे का है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि यह देन प्रतिसंस्कर्ता की है, क्योंकि भेल

संहिता में इस विषय की छाया भी नहीं, साथ ही आयुर्वेद के दूसरे किसी भी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं। परन्तु पुनर्जन्म, द्रव्य, गुण, कर्म आदि का विचार भी आयुर्वेद के दूसरे ग्रन्थों में नहीं है, न भेल संहिता में है, इसलिये यह तर्क बहुत बुद्धिगम्य नहीं। यह सत्य है कि यह विषय सबसे पहले चरक संहिता में मिलता है, दूसरे स्थानों में इसके पीछे का है।

वैद्य को आयुर्वेद में ही वाद करना चाहिए। वाद में जो भी कहा जाय वह सहेतुक, सोच-समझ कर, नपे तुले शब्दों में कहना चाहिए। अप्राकृत, शास्त्र रहित, अहेतुक, अव्यापक वचन नहीं बोलना चाहिए।

चरक संहिता में परिषदों की परिपाटी—चरक संहिता में मैत्रेय और भरद्वाज के साथ सम्भाषण मिलता है। आत्रेय का कहना है कि चार पाद और सोलह गुण वाली औषध है, ऐसा वैद्य कहते हैं, यदि इनका ठीक प्रकार से प्रयोग किया जाय तो आरोग्य मिलना निश्चित है।[१]

मैत्रेय का कहना है कि ऐसी बात नहीं, हम देखते हैं कि बहुत से रोगी साधन सम्पन्न हैं, परिचारक भी उनके पास हैं, प्रशस्त औषधि भी सुलभ है, विद्वान् वैद्यों से चिकित्सा की जा रही है, फिर भी मर जाते हैं। इसलिये यह कहना कि चार पादों वाली और सोलह गुणों वाली ही औषध है, यह ठीक नहीं।

इसी प्रकार गर्भावक्रान्ति के विषय में भरद्वाज और आत्रेय का सम्भाषण है। ये दोनों उदाहरण विगृह्य सम्भाषण के हैं। जहाँ पर अपने पक्ष को सिद्ध करने की होड़ दीखती है।[२]

सन्धाय सम्भाषण के उदाहरण—वातकलाकलीय अध्याय (सूत्र० अ० १२) में वात-पित्त-कफ की विवेचना है। यज्ञ: पुरीषीय अध्याय (सूत्र० अ० २५) और रसाहार विनिश्चय (सू० अ० २६), वस्ति सिद्धि (सि० अ० ११) में भी सन्धाय सम्भाषण के उदाहरण हैं, इनमें ऋषियों ने परस्पर मिलकर विचार किया है। मिलकर विचार करना सब प्रकार संशय को दूर करता है (वैद्य समूहो संशयहराणाम् श्रेष्ठतमः—चरक० सू० अ० २५)।

१. चरक सूत्र० अ० १०।४।

२. चरक शा० अ० ३।

परिषद्—उपनिषदों में परिषदों का उल्लेख आता है।[1] किसी वस्तु का निश्चय या विचार करने के लिये परिषद् रूप में विचार होता था। चरक संहिता में ऐसी दो-तीन परिषदों की जानकारी मिलती है, इनमें ऋषियों ने परस्पर एक साथ बैठ कर विचार किया। वाह्लीक, भिषक् और कांकायन ने भी इनमें भाग लिया था।

काश्यप संहिता में भी ऐसी परिषद् का उल्लेख आया है (रोगाध्याय-पृ० २६)। इस परिषद् में ऋषियों के नाम कुछ वही हैं, जो कि चरक संहिता में आये हैं, यथा—वायोर्विद, कांकायन, भारद्वाज के साथ कृष्ण विशेषण (कृष्णो भारद्वाज) लगा है, चरक संहिता में भरद्वाज ही आता है।

पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है—(१) शिक्षा संबंधी, (२) समाज गोष्ठी सम्बन्धी, (३) राज शासन सम्बन्धी।[2] प्रथम प्रकार की परिषद् एक प्रकार की विद्वत्सभा थी, जो कि उच्चारण, व्याकरण तथा अन्य शास्त्र सम्बन्धी नियमों का निश्चय करती थी। यह परिषद् चरण शाखा के अन्तर्गत होती थी। इसकी स्पष्टता काश्यप संहिता के इस वचन से होती है—

"अर्वागपि यदाहारविशेषादारोग्याच्च पूर्णं भवत–इति परिषत्।"

—काश्यप संहिता, पृ० ५३।

बौद्ध-काल में परिषदों का बहुत सम्मान था—परिषदों में पूर्ण व्यवस्था रहती थी। राजवैद्य जीवक सम्राट् अजातशत्रु को पूर्णिमा की रात में एकत्र एक ऐसी ही परिषद् में ले गया तो वहाँ की निःशब्दता से आशंकित होकर उसने पूछा—"जीवक कहीं मेरे साथ धोखा तो नहीं कर रहे हो? कहीं मुझे शत्रुओं के हाथ तो नही सौंप रहे हो। यह कैसे हो सकता है कि १२५० भिक्षुओं की इस बड़ी परिषद् में कोई शब्द न हो अथवा कोई छींके या खाँसे भी नहीं" (हिन्दू सभ्यता, पृ० २६१)।

परिषद् एक प्रकार की सभा है, प्रत्येक चरण या शाखा की अपनी परिषद् होती थी। यह परिषद् उस शाखा के लिए नियम या सिद्धान्त निश्चित करती

---

१. बृहदारण्यक ६। २। १, ३। १। १।

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २९१।

थी, उसी शाखा से सम्बन्धित विद्वान् इस परिषद् में भाग लेते थे। शाखा से सम्बन्धित ग्रन्थ या नियम, मन्तव्य में परिवर्तन करने का अधिकार परिषद् को ही था। परिषद् से स्वीकृत विषय या वस्तु को उस शाखा या चरण से स्वीकृत माना जाता था। परिषद् में सन्दिग्ध विषयों पर विचार होता था। जैसा कि यज्जः पुरीषीय (सू० अ० २५) तथा फलमात्र सिद्धि (सि० अ० ११) में विचार मिलता है। चरक के उपदेश काल तक परिषद् विचार की मान्यता थी, चैत्ररथ में ऋषि लोग जीतने की इच्छा से एकत्रित हुए थे (समीयुर्विजिहीर्षवः—सू० अ० २६।६)। एक दूसरे स्थान पर मिलकर विचार करते हुए बताये हैं (सू० अ० २५), वहाँ पर हार-जीत का प्रश्न नहीं था।

सैद्धान्तिक और क्रियात्मक अध्ययन—शिक्षा सैद्धान्तिक और क्रियात्मक दोनों प्रकार की थी। वैद्य के लिए शास्त्र का ज्ञान भली प्रकार प्राप्त करना (श्रुतेः पर्यवदात्तत्वम्) और बहुत बार कर्माभ्यास का प्रत्यक्ष ज्ञान (बहुशो दृष्टकर्मता) आवश्यक बताया है। आचार्य के लिए पर्यवदात्त श्रुतं, परिदृष्टकर्माणम् शब्दों का उल्लेख इस बात की महत्ता को बताता है। औषधियों के नाम, रूप और गुण का ज्ञान बकरी, भेड़ पालने वाले, गायों को चराने वाले एवं तपस्वियों से किया जाता था। जो व्यक्ति औषधियों को नाम और रूप से जानता है, इनके गुणों को तथा प्रयोग विधि को भी जानता है, वह नाम और रूप मात्र जानने वाले से श्रेष्ठ है (सूत्र० अ० १।१२०-१२२)।[1]

शास्त्रको भली प्रकार जानने वाले, पवित्र, चिकित्सा कर्म में निपुण, जितहस्त वैद्यों को सदा नमस्कार किया है (सू० अ० २९।१३)। इसलिये वैद्य को चाहिए कि वह शास्त्र-ज्ञान और कर्म-दर्शन में सदा तत्पर रहे (वि० अ० ८।८६)।

---

१. सुश्रुत में इस विषय को विस्तार से स्पष्ट किया गया है, देखिये—

एतद् हि अवश्यमध्येयम्-अधीत्य च कर्माव्यवश्यमुपासिव्यम्, उभयज्ञोहि भिषग् राजार्हो भवति।

यस्तु केवल शास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। समुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥

यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्ष्ट्याच्छास्त्रबहिष्कृतः। ससत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हतिराजतः॥

उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि। अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविवद्विजौ॥

—सु० सूत्र० अ० ३।४७-५०।

अध्ययन की शाखायें—ब्रह्मा ने आयुर्वेद को एक लक्ष श्लोकों में और एक हजार अध्यायों में कहा था। फिर मनुष्यों की अल्प बुद्धि और अल्प आयु देखकर आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त किया। यथा—

१. **काय चिकित्सा**—काय का अर्थ सम्पूर्ण शरीर है उसकी चिकित्सा, अथवा "कायति शब्दं करोति" इति कायो जाठराग्निः, अंगुली पिहिते कर्ण-युगले धूक् इति शब्द श्रवणात्—जाठर : प्राणिनामग्नि : काय इत्यभिधीयते—शिवदास सेन (चरक० सू० अ० २९।२८ की टिप्पणी)—काया का अर्थ जाठराग्नि है, उसकी चिकित्सा काय चिकित्सा है।

२. **शालाक्य चिकित्सा**—शलाका से किये जानेवाले कर्म (शलाका पटल वेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यम्)।

३. **शल्य चिकित्सा**—'शल हिंसायाम्' इस धातु से 'अच्' करने से शल्य शब्द बनता है, हिंसोचित सम्बन्ध शास्त्र शल्य-शास्त्र।

४. **कौमार भृत्य**—कुमारों के भृति-धारण, पोषण से सम्बन्धित शास्त्र (कुमार भृत्याकुशलैरनुष्ठिते—रघु० ३।)।

५. **रसायन**—रस शब्द से सब धातुओं का ग्रहण होता है (लाभोपयो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्—चि० अ० १)। सब धातुओं को पुष्ट करने वाला अंग।

६. **वाजीकरण**—जिससे स्त्रियों के साथ रमण करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, वह वाजीकरण है। अथवा वाज का अर्थ वेग है, वह जिसमें है; वाजी, जिससे अवाजी, वाजी (वेगवान्) किये जाते हैं, उसे वाजीकरण कहते हैं। अथवा वाज का अर्थ शुक्र है; वह जिसमें है, वह वाजी, अवाजी वाजी जिससे किये जाते हैं, वह वाजीकरण।

७. **भूतविद्या**—राक्षस, भूत, पिशाच आदि का ज्ञान एवं उनके उपद्रवों को शान्त करने का उपाय।

८. **विष या गर वैरोधिक प्रशमन**—गर-कालान्तर में प्रकोपी विष, वैरोधिक-संयोगजन्य विष, विष, गर और वैरोधिक विषों की शान्ति का उपाय।

आयुर्वेद के मुख्य अंग ये ही थे, परन्तु इनके कुछ अवान्तर भेद भी थे, यथा शल्य चिकित्सा में—अग्नि से दाह, क्षार से जलना, वेधन करना, काटना

आदि। शस्त्र सम्बन्धी उपचार करने वालों के लिये 'धान्वन्तरीय' शब्द का प्रयोग हुआ है:—

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः चि० अ० ५।४४।

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजांबलम्—चि० अ० ५।६३।

क्षार प्रयोग में, दाह कर्म में, चीर-फाड़ में अलग-अलग निपुणता प्राप्त की जाती थी।[1]

अर्श रोग की चिकित्सा में क्षार, शस्त्र, अग्नि और औषध चारों प्रकार की चिकित्सा की तुलना करके औषध चिकित्सा को श्रेष्ठ बताया है, अर्श रोग के लिये शस्त्रोपचार, क्षार प्रयोग, सुश्रुत में वर्णित है। क्षार, शस्त्र और अग्नि कर्म वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने बहुत शास्त्रों का अभ्यास किया हो। इन कार्यों में यदि कहीं भूल हो जाय तो उसका परिणाम बहुत भयावह होता है। कई बार क्षार, शस्त्र, अग्नि के भ्रंश से मृत्यु तक हो जाती है।[2]

शस्त्र—चरक संहिता में शस्त्र कर्म बहुत सीमित है, उदर रोग चिकित्सा में पेट से पानी निकालने की विधि का उल्लेख किया है। इसे भी शल्य हरण करने वाले, दृष्ट कर्म चिकित्सकों को ही करने के लिये लिखा है (इदं तु शल्य हर्त्तृणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम्—चि० अ० १३।१८४)। इसी प्रकार अर्बुद चिकित्सा में अर्बुद को कोष सहित निकालने के लिये कहा है, क्योंकि थोड़ा-सा भी भाग शेष रह जाने से इसके पुनः बढ़ने की शंका रहती है (चि० अ० १२।८२)।

चरक संहिता में द्विव्रणीय चिकित्सित अध्याय (चि० अ० २५) शल्य शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इसमें व्रणों के सोलह उपद्रव (२८-३०) एवं व्रण के स्वस्थ न होने के चौबीस कारण (३१-३५) बहुत महत्व के हैं। एक प्रकार से इन श्लोकों में इस विषय का सारा निचोड़ ऋषि ने भर दिया है। इसी प्रकार से व्रण के छत्तीस उपक्रम (३९-४३) इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं। सुश्रुत में व्रण के साठ उपक्रम कहे हैं (चि० अ० १।८)। चरक के उपक्रम संक्षिप्त होने पर भी अपनी दृष्टि में सीमित एवं पूर्ण हैं।

---

१. चरक० चि० अ० ५।४४, और ६३। क्षेमेन्द्र ने वैद्य के लिये चरक शब्द बरता है—'चरश्चरकं न जानाति'—देशोप०।

२. वही, चि० अ० १४।३३-३६।

शालाक्य सम्बन्धी रोगों के वर्णन में नेत्र, कर्ण, मुख, नासिका, शिर के रोगों का संक्षेप में वर्णन करने का कारण बताया है कि 'पराधिकार में—दूसरे के अधिकार विषय में हमको विस्तार से नहीं कहना चाहिये, इसी से यहाँ पर केवल ग्रन्थ को पूरा करने के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही कहेंगे (चि० अ० २६।१३१)।

यह वचन दृढ़बल का अपना है, दृढ़बल ने स्वयं कहा है कि ग्रन्थ को पूर्ण करने के लिए मैंने नाना तन्त्रों से संग्रह करके इस ग्रन्थ को पूरा किया। इसी से 'अपीनस' रोग का लक्षण सुश्रुत से चरक में पूर्णतः मिलता है (चि० अ० २६ । ११३)। यह लक्षण दृढ़बल ने सुश्रुत संहिता से लिया दीखता है। चरक में नेत्र रोग छियानवें बताये हैं, मुखरोग ६४। कराल ने भी नेत्र रोगों की संख्या ९६ बताई है; विदेह ने भी मुख रोग ६४ कहे हैं।

आयुर्वेद के आठ अंगों में जो शिष्य जिस अंग को पढ़ना चाहता था, उसी अंग का गुरु उपदेश करते थे। इसी से धन्वन्तरि ने सुश्रुत आदि के लिये शल्य का, इन्द्र ने भरद्वाज के लिए काय चिकित्सा का, इन्द्र ने काश्यप और वसिष्ठ के लिये कौमार भृत्य का उपदेश किया।

अध्ययन का प्रकार—अध्ययन प्रवचन के रूप में व्याख्यान देकर होता था। इसके लिये कोई नियमतः पढ़ाई नहीं होती थी। जिस समय गुरु अपने दैनिक कार्यों से, होम आदि से निवृत्त हो चुके होते थे, उनको समय होता था, उस समय शिष्य अपने संशय या जिज्ञासा को पूछता था। पूछने में सदा नम्रता पाई जाती है, कई स्थानों पर तो पैरों को छूकर नमस्कार करके पूछने का उल्लेख मिलता है (चि० अ० ४।३, १९।३)।

उस समय ग्रन्थ प्रणयन प्रारम्भ हो गया था, इसी से शास्त्र परीक्षा में कहा है कि ग्रन्थ में सूत्र, भाष्य, संग्रह क्रम स्पष्ट होना चाहिए; तीक्ष्ण, मध्यम, मन्द तीनों प्रकार के शिष्यों के लिये बुद्धिगम्य होना चाहिये; पुनरुक्ति दोष से रहित तथा अपने आधार से खड़ा—अपने आप में सम्पूर्ण होना चाहिए। शास्त्र में ग्राम्य शब्द नहीं होने चाहिए; उसके प्रकरण पृथक्-पृथक् होने चाहिए। इससे पता चलता है कि उस समय ग्रन्थ प्रणयन था। इसी से अग्निवेश,

हारीत, भेल, पाराशर, क्षारपाणि आदि ने पृथक्-पृथक् अपने ग्रन्थ बनाये और ऋषियों सहित बैठे आत्रेय को सुनाये।

आत्रेय ने अपना ज्ञान प्रवचन उपदेश रूप में मौखिक ही दिया था। वह भी किसी एक स्थान पर निश्चित बैठकर नहीं, अपितु घूमते-फिरते समय-समय पर स्वतः अथवा शिष्य के पूछने पर उपदेश करते हैं। जनपदोध्वंस रोग के कारणों को बताने के लिये आत्रेय स्वयं अग्निवेश को सम्बोधन करके उपदेश करते हैं। इसी अध्याय की समाप्ति पर अग्निवेश ज्वर में गरम पानी देने का कारण पूछते हैं और आचार्य उसका उत्तर देते हैं (वि० अ० ३)। इस प्रकार से कहीं आचार्य स्वतः उपदेश करते दीखते हैं और कहीं पर शिष्य के पूछने पर उत्तर के रूप में कहते हैं।

सब शिष्य पृथक्-पृथक् प्रश्न नहीं करते प्रतीत होते। चरक संहिता में अग्निवेश ही प्रश्न करता है और उसी को सम्बोधन करके पुनर्वसु आत्रेय उपदेश देते हैं। भेल संहिता में भेल प्रश्न करता है और भेल को ही सम्बोधन करके उपदेश दिया गया। सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरि ने सुश्रुत को सम्बोधन करके उपदेश दिया है, और सुश्रुत ने ही प्रश्न किये हैं। यद्यपि सम्पूर्ण संहिता में सुश्रुत का कोई भी प्रश्न नहीं मिलता, जैसा कि चरक संहिता में अग्निवेश को प्रश्न करता देखते हैं।

सुश्रुत संहिता में सुश्रुत के अन्य साथियों ने धन्वन्तरि के सामने अपनी ओर से सुश्रुत को ही प्रतिनिधि रूप में यह अधिकार दे दिया है कि वही उन सबकी ओर से प्रश्न करेगा और उसी को सम्बोधन करके उपदेश किया जाय।[१] परन्तु सुश्रुत ने कोई प्रश्न स्वतः नहीं पूछा।

चरक संहिता में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ पर स्थान-स्थान पर आत्रेय अग्निवेश को सम्बोधन करके उपदेश देते हैं, अग्निवेश भी समय-समय पर अपनी जिज्ञासा पूछता है।

---

१. सुश्रुत को सम्बोधन करने का कारण सुश्रुत में यह दिया है—"अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रक्ष्यति, अस्मै चोपदिश्यमानं वयमुपधारयिष्यमः ॥—सूत्र० अ० १.१२। इसके आगे सुश्रुत को सम्बोधन करके संहिता का आरम्भ हो गया है।

सुश्रुत संहिता का उपदेश एक ही स्थान पर बैठकर हुआ है, परन्तु चरक संहिता का उपदेश घूमते-फिरते दिया गया है। इसी से धनेशायतन, हिमालय के पार्श्व में, हिमालय के उत्तर पार्श्व में, चैत्ररथ वन में, पंचगंगा में, काम्पिल्य-आदि भिन्न-भिन्न स्थानों में उपदेश देते हुए आत्रेय को देखते हैं, इससे स्पष्ट है कि ये ऋषि यायावर श्रेणी के थे, इसी से इनका प्रवचन भी एक स्थान पर न होकर घूमते होता था।

इस प्रकार के प्रवचन या शिक्षा में ज्ञान का क्रम नहीं रहता, कोई वस्तु—विषय कहीं पर आ जाता है, उसी को पीछे से क्रमबद्ध किया जाता है। उपलब्ध चरक संहिता के साथ भी यही रूप मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रवचन काल था। इसी प्रकार से मौखिक अध्ययन उस समय होता था। अध्ययन का समय कोई निश्चित नहीं था, परन्तु सामान्यतः प्रातःकाल ही था, जब गुरु जप-होम से निवृत्त हो जाते थे, उनको कोई काम नहीं होता था, समय रहता था, तब शिष्य अपनी शंका या प्रश्न पूछता था।[१] गुरु उसी समय उपदेश से उसकी शंका या प्रश्न का उत्तर देते थे।

उपसंहार—चरक संहिता की अध्ययन विधि की तुलना कुछ अंशों में मनुस्मृति के वेदारम्भ संस्कार से की जा सकती है। वेदारम्भ संस्कार के लिये आयु का निश्चय वर्ण के अनुसार है, परन्तु चरक संहिता में आयुर्वेद पढ़ने की कोई आयु निश्चित नहीं। आयुर्वेद पढ़ने का निश्चय व्यक्ति को स्वतः करना होता है, इसलिये ऐसा अनुमान होता है कि बुद्धि परिपक्व होने पर; प्रौढ़ वय में आयुर्वेद का अध्ययन किया जाता था। इसके लिये कोई रुकावट किसी प्रकार की नहीं थी। गुरु शिष्य की परीक्षा लेकर उसे अध्ययन कराते थे।

चरक संहिता के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अध्ययन प्रवचन रूप में होता था। एक स्थान पर बैठकर नियमतः पढ़ाई नहीं होती थी। गुरु के अग्निहोत्र आदि अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होने पर अवसर देखकर शिष्य गुरु से अपनी जिज्ञासा पूछता था। गुरु व्याख्यान रूप में उसका उत्तर देते थे।

विद्याध्ययन में वाद मर्यादा का बहुत महत्व था, वाद मर्यादा के नियम

---

१. चरक० चि० अ० १४।३।

चरक संहिता में सबसे प्रथम मिलते हैं। न्याय-दर्शन में भी ये नियम हैं, परन्तु थोड़े परिवर्तन एवं सुधार के साथ हैं, जिनसे अनुमान होता है कि ये नियम चरक संहिता के आधार पर बने हैं।

परिषद् की परिपाटी पुरानी है। उपनिषद् में भी इसकी चर्चा है, परिषद् में विचार-विमर्श दोनों प्रकार से होता है—मिलकर-सन्धाय सम्भाषण—और हार-जीत के विचार से (विगृह्य सम्भाषण)। राजा जनक ने बहु दक्षिणा वाले यज्ञ में कुरु-पंचाल के ब्राह्मणों की जो परिषद् बुलाई थी, वह हार-जीत की परिषद थी। इसमें याज्ञवल्क्य से ऋषियों ने बहुत प्रश्न किये, उसने उन सब का उत्तर दिया।[1] इस प्रकार कि विगृह्य सम्भाषण परिषदों में किस प्रकार से व्यवहार रखना चाहिये, इसकी अच्छी जानकारी चरक में मिलती है। न्याय-दर्शन में तथा अन्यत्र वाद मर्यादा के नियमों का ही उल्लेख है। उनमें परिषद् का विचार, प्रतिपक्षी को पराजित करने के उपाय आदि वर्णित नहीं किये गये—यह चरक संहिता की अपनी देन है। ज्ञानवृद्धि के लिये वाद एक आवश्यक वस्तु है, यह बात बाण के हर्षचरित तथा सुश्रुत के वचन से भी पुष्ट होती है।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्—३।१।१।

छठाँ अध्याय

चरक संहिता में दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं, ज्ञात्वादेव मुच्यते सर्वपापैः—श्वेताश्वेतर ६।१३

× × ×

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्, नास्तियोगसमं बलम्

तावुभौवेकचर्यौतु उभावभिधनौस्मृतौ ॥ महा० शा० ३०४।२

× × ×

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे—गीता० १३।२४

दर्शनों में सांख्य का स्थान सबसे पहला है। चरक संहिता में सांख्य के चौबीस तत्व, योगशास्त्र की सिद्धियों तथा बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है। बौद्ध सिद्धान्त बुद्ध से पहले के हैं (६०० ईस्वी के पूर्व)। उपनिषदों में पुनर्जन्म और आत्मा सम्बन्धी ऊहापोह मिलता है, वही विचार चरक में भी है। इसलिये इन सब दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि सात सौ ईस्वी पूर्व के लगभग की है—इसी से महत्वपूर्ण है।

आदि सांख्य—चरक संहिता में सांख्य और योग इन दो का ही नाम मिलता है, यद्यपि न्याय और वैशेषिक से सम्बन्धित कुछ विषय इसमें आते हैं। सांख्य और योग, इन दोनों में गीता के अनुसार कोई भेद नहीं, ये एक ही हैं। योग के लिये '**सांख्य प्रवचन**' शब्द आता है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य और योग नाम से भिन्न दीखने पर भी मूल में एक ही हैं[1], इसीसे महाभारत में कहा है—'नास्ति सांख्य समं ज्ञानम् नास्ति योग समं बलम्'।

---

१. (क) चरक० सू० अ० १३।५, सू० अ० २५।१३, शा० अ० १।१३७, १५१।

(ख) भगवद्गीता—३।४-५।

(ग) "सांख्य योगौ परम पुरुषार्थ साधनत्वेन लोकप्रख्यातौ"—शांकर भाष्य।

(घ) सर्वदर्शन संग्रह में योग का अपरनाम सांख्य प्रवचन दिया है। न्यायकुसुमाञ्जलि में "अनुशिष्यते च सांख्य प्रवचने ईश्वरप्रणिधानम्" (५।१७) हैं। यह लेख भी पातंजल

चरक में सांख्य के जानने वालों का उल्लेख है, और ऐसे लोगों के प्रति सम्मान दिखाया है; पुनर्वसु आत्रेय इन्हीं के साथ बैठकर विचार विनिमय करते हैं।[१] साथ ही यह भी पता चलता है कि चरक में उल्लिखित सांख्य 'आदि सांख्य' है, इनको ही ईसा की चौदहवीं शती के गुणरत्न ने मौलिक सांख्य कहा है और दूसरों को अपर सांख्य।[२]

मौलिक या आदि सांख्य चौबीस तत्व मानते हैं। ये प्रधान (प्रकृति) और पुरुष को एक मानते हैं, जैसा चरक में पढ़ते हैं (पुनश्च धातु भेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः:—शा० अ० १।१७)। चरक संहिता के पीछे बनी सुश्रुत संहिता में पचीस तत्व माने हैं।[३] महाभारत में छब्बीस तत्व मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख है।[४] इस प्रकार से स्पष्ट है कि चौबीस तत्त्व वाले आदि सांख्य कहलाते थे, अथवा सम्यक् ज्ञान होने से सांख्य कहे जाते थे। इसी से सम्बन्धित संख्यात शब्द का प्रयोग चरक में मिलता है। संस्कृत साहित्य में संख्यात प्रयोग नहीं मिलता (प्रख्यात मिलता है), परन्तु पालि साहित्य में इसका रूप मिलता है—

"सांख्यैः संख्या संख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्।" सूत्र० अ० १३।५

चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"संख्या-सम्यग्ज्ञानं, तेन व्यवहरन्ति इति सांख्याः संख्यातं ज्ञातं संख्येयं ज्ञेयं यैस्ते।"

योग के ईश्वर प्रणिधानाद्वा (१।२३) सूत्र का स्मरण कराता है। इसी प्रकार सांख्यकारिका की जयमंगला नामक व्याख्या में २३ वीं कारिका की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है—"यथोक्तं सांख्य प्रवचने-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः। शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" ये दोनों यम-नियम योगदर्शन (२।३०, ३२) के हैं।—सांख्य दर्शन का इतिहास : उदयवीर शास्त्री।

१—शा० अ० १।१५ १, सू० अ० १३।५, सू० २५।१५ में आदि सांख्य नाम आया है।

२—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलौस्फी : सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भा० १ पृ० २१३।

३—सु० शा० अ० १।८।

४—(क) महाभारत—शा० प० ३१८।५४, ५५। "षड्विंशं पंचविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति।"

(ख) गणः षोडशनः सांख्ये विस्तरेण प्रकीर्त्तितः। चतुर्विंशति तत्त्वानि पुरुषः पञ्च विंशकः॥
देहीति प्रोच्यते देहे स चात्मानं हि पश्यति। विदन्ति परमात्मानं षष्टं तं विंशतेः परम्॥
[षड्विंशमित्यर्थः]।
— स्कन्द पुराण, प्रभास खण्डमहात्म्य २९ १८।१५-१६।

चौवीस तत्व वाले सांख्य प्रकृति और पुरुष को एक मानते हैं (चक्रपाणि का कहना है कि ये दोनों अव्यक्त हैं, इसलिये एक गिना है)। पचीस तत्व मानने वाले प्रकृति और पुरुष को पृथक् मानते हैं। और छव्वीस तत्व वाले योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर को मानते हैं। इस प्रकार से चरक संहिता में वर्णित सांख्य तत्व आदि सांख्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

तन्मात्र—चरक संहिता से पता चलता है कि उस समय तन्मात्र शब्द नहीं था। तन्मात्र के स्थान पर सूक्ष्म शब्द था, जैसा कि चक्रपाणि ने "खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथऽष्टमः"(शा० अ० १।६३) की व्याख्या में लिखा है कि—'खादीनि सूक्ष्मभूत खादीनि' (पाठान्तर में—शब्दतन्मात्रादि शब्दाभिधेयानि तन्मात्र शब्दाभिधेयानि)। सुश्रुत में तन्मात्र शब्द आता है। चरक में तन्मात्र का प्रयोग नहीं मिलता।

षष्टि तन्त्र—ईश्वर कृष्ण की बनाई सांख्यकारिका में सांख्यदर्शन का प्रथम तन्त्र—षष्टि तन्त्र मिलता है। कुछ लोगों का विचार है कि षष्टि तन्त्र और षडध्यायी एक ही हैं। इसी के आधार पर ईश्वर कृष्ण ने अपनी कारिकायें बनाई हैं।[1] षष्ठी तन्त्र के कर्ता कपिल कहे जाते हैं। यदि यह मान्यता सत्य हो तो चरक संहिता का यह विचार इससे भी पूर्व का है, क्योंकि उसमें तन्मात्र शब्द का उल्लेख नहीं है।

सुश्रुत में सांख्य षडध्यायी के अनुसार ही पचीस तत्व माने है, सांख्य षडध्यायी में पचीस तत्व—

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुषः पंचविंशतिर्गणः।

—सुश्रुत में (३ से ८ तक के सूत्रों को मिलाकर उसमें से चुना भाग)।

सत्वरजस्तमो लक्षणमव्यक्तम् अव्यक्तान्महान् महतोऽहंकारः, अहंकारात् एकादशेन्द्रियाणि पंचतन्मात्राणि, तेभ्योभूतानि पुरुषः पंचविंशति तमः॥

—(शा०अ० १)।

---

१. सांख्यदर्शन का इतिहास : उदयवीर शास्त्री कृत का तीसरा प्रकरण।

सुश्रुत और षडध्यायी के पाठ में थोड़ा सा अन्तर है, अर्थ में कोई भेद नहीं—'षडध्यायी में अहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिद्रियम्' पाठ है, सुश्रुत में 'अहंकारात् एकादशेन्द्रियाणि पंचतन्मात्राणि'।

इससे यह स्पष्ट है कि सुश्रुत के समय षडध्यायी या षष्टि तन्त्र था, परन्तु चरक संहिता के समय आदि सांख्यों के विचार ही थे और चौबीस तत्व ही थे, तन्मात्र नाम की कोई वस्तु नहीं थी। गुणरत्न ने इनको ही मौलिक सांख्य कहा है।

ईश्वर कृष्ण का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शती माना जाता है, उसने अपनी कारिकायें षडध्यायी या षष्टि तन्त्र के आधार पर बनाई हैं। षडध्यायी की समानता सांख्यकारिका से बहुत अधिक है, कारिकाओं में इसके ही सूत्र आते हैं।[1] इस प्रकार से चरक संहिता का सांख्य ज्ञान उपलब्ध सब सांख्य ज्ञान से प्राचीन है।

प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि में कारण—महाभाष्य में (४।१।३ सूत्र की व्याख्या में) विद्यमान प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि के छः कारण बताये हैं, यथा—

षड्भिः प्रकारै सतांभावानामनुपलब्धिर्भवति—अति सन्निकर्षात्, अति विप्रकर्षात् मूर्त्यन्तरव्यवधानात्, तमसावृतत्त्वात्, इन्द्रियदौर्बल्यात् प्रमादादिति।

उपस्थित पदार्थों की उपलब्धि छः कारणों से नहीं होती—अति समीप होने से, अति दूर होने से, वस्तु के बीच में आ जाने से, अन्धकार से आवृत होने से, इन्द्रिय (साधन) के दुर्बल होने से और अति प्रमाद से वस्तु होने पर भी नहीं मिलती।

परन्तु चरक संहिता तथा सांख्यकारिका (जिसका आधार षष्टि तंत्र है) ने वस्तु की अनुपलब्धि के कारण आठ बताये हैं, जो कि दोनों में सामान्य हैं—

चरक में—

"सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादति सौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः"।

—चरक० सू० अ० ११।८।

१. वही—इसमें सांख्यकारिका और षडध्यायी की तुलना की है, सांख्यकारिका—७२।

सांख्यकारिका में—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥—(७वीं कारिका)

चरक और सांख्यकारिका की कारिका में संख्या की समानता के साथ शब्द एकता भी है। ऐसा दीखता है कि चरक की शब्दावली ही कारिका में आ गई है।

'सांख्यदर्शन का इतिहास' में श्री उदयवीर शास्त्री ने लिखा है कि 'कैयट ने अवतरणिका में कहा है—इन छः कारणों को पतंजलि ने कहीं से लिया है (इतरौ विद्यमानस्यापि लिंगस्य सौक्ष्म्यानुपलब्धि कारणं दर्शयितुमाह-षड्भिरिति)।[1]

प्रतिसंस्कर्ता चरक का समय ईसा की प्रथम शती का अन्त अथवा द्वितीय शती का प्रारम्भ सम्भावित है। सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वर कृष्ण का समय भी लगभग दूसरी या तीसरी शती माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि चरक के प्रतिसंस्कार के समय प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि में आठ कारण माने जाते थे।

इसके साथ में यह भी स्पष्ट होता है कि महाभाष्यकार पतंजलि और चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्ता एक नहीं हैं। क्योंकि एक ही व्यक्ति एक स्थान पर प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि में छः कारण कहे और दूसरे स्थान में आठ कारण कहे, यह ठीक नहीं।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि चरक संहिता में आया सांख्य सिद्धान्त सबसे पहला है, उसका यह वचन **'सांख्यैराद्यैः प्रकीर्त्तितः'** (सू० अ० २५।१५) इस बात का प्रमाण है। पीछे से प्रतिसंस्कर्ता चरक ने इसमें आठ कारण बढ़ाये, अथवा ये मूलवचन हैं, ऐसा निश्चय नहीं कर सकते। चरक संहिता के उपदेश काल में सांख्य के चौबीस तत्व ही प्रसिद्ध थे, सांख्य के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान था। सांख्य प्राचीन है, सांख्यकारिका, सुश्रुत संहिता का विचार, ये इसके पीछे हैं।

---

१. सां० द० इ० : उदयवीर शास्त्री—पृ० २०४।

योग—सांख्य के साथ चरक में योग का भी महत्व है। योग का अर्थ चरक संहिता के अनुसार मन का विषयों से निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर हो जाना है।[१] जब यह स्थिति आ जाती है, तब सुख और दुःख दोनों की निवृत्ति हो जाती है, और इसमें वशित्व (अष्टविध ऐश्वर्य—योगदर्शन में वर्णित विभूतियाँ) उत्पन्न हो जाता है।

चरक संहिता के **योग** और **मोक्ष** ये दो शब्द योग और सांख्य के वाचक हैं। योग और मोक्ष में सब प्रकार की वेदनायें निवृत्त हो जाती हैं। मोक्ष होने पर मनुष्य आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। तुलना कीजिये—

> **"प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।**
> **ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥"**—(सां० का० ६८)

चक्रपाणि ने मोक्ष का अर्थ,आत्यन्तिक शरीराद्युच्छेदः निःशेषेति—न पुनर्भवति—किया है, जो कारिका से सम्मत है। मोक्ष में प्रवर्त्तक योग है। योग के लिये सांख्य प्रवचन शब्द आता है। योगदर्शन में क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल), आशय (संस्कार) से अप्रभावित पुरुष विशेष को ईश्वर कहा है, और उसकी सत्ता स्वीकार की है (योग दर्शन १।२३)। परन्तु चरक में ईश्वर शब्द इस अर्थ में नहीं है। चरक संहिता में ईश्वर शिव के लिये आया है, न्याय दर्शन या योग दर्शन में जिस अर्थ में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, उस रूप में ईश्वर का उल्लेख चरक में नहीं है। इससे स्पष्ट है कि चरक सम्मत योग विचार भी प्राचीन है और सांख्यके साथ ही मिश्रित था। दोनों में कोई पार्थक्य उस समय नहीं था, जैसा कि चरक के इस वचन से स्पष्ट है—

> **"योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्त्तनम्।**
> **मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगोमोक्षप्रवर्त्तकः॥"**—(शा०अ० १।१३७)

चरक का यही वचन गीता में मिलता है—

> **"सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।**
> **एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।**

---

१. चरक संहिता, शा० अ० १।१३८।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥"—गीता ५।४-५

सांख्य के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए साथ में योग का भी उल्लेख किया है। योग होने से (मन के आत्मा में स्थिर होने पर) मनुष्य में शरीर सहित वशित्व (अष्टविध ऐश्वर्य) प्राप्त हो जाता है। मोक्ष—शरीर के छूट जाने पर—सब संयोगों से वियोग हो जाने पर—अपुनर्भव प्राप्त होता है। यह अपुनर्भव तभी होता है, जब रज और तम नष्ट हो जाते हैं, और सब बलवान कर्मों का क्षय हो चुकता है। मोक्ष में योग ही प्रवृत्त करता है। इस प्रकार से योग और मोक्ष एक ही वस्तु के पूरक हैं या अवस्थायें हैं, इनमें कोई भेद नहीं। यह ज्ञान की बात भी सांख्यों ने ही बताई है—

"अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः ।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् ॥"

—चरक० शा० अ०१।१५१

योग सांख्य का ही भाग है, उससे पृथक् नहीं। योग-सांख्य का; मोक्ष का—अपुनर्भव का पूरक है, बिना योग के (मन के आत्मा में स्थिर हुए बिना) मोक्ष (अपुनर्भव शरीर का आत्यन्तिक उच्छेद) प्राप्त नहीं होता। मोक्ष ही जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष की प्राप्ति सम्यक् ज्ञान (सत्याबुद्धि) होने से होती है। सम्यक् ज्ञान होने पर मनुष्य समझने लगता है, यह मेरा नहीं है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर वह सब कुछ छोड़ देता है। इस चरम सन्यास की अवस्था में सब वेदनायें मूल सहित नष्ट हो जाती हैं।[1] संज्ञा (आलोचक निर्विकल्प ज्ञान), ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) और विज्ञान—(बुद्धि का व्यवसाय) सब समाप्त हो जाता है। तुलना कीजिये—

"सम्यक् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादिनामकरणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाद् चक्रवद् भ्रमतिधृत शरीरः ॥"—सा०का० ६७

---

१. वेदना शब्द से पालि साहित्य की तीन प्रकार की वेदनायें हैं—(१) सुखवेदना, (२) दुःखवेदना और (३) अदुखम सुखवेदना। सभी प्रियवेदना सुखवेदना, सभी अप्रिय वेदना दुःखवेदना, और जो वेदना न तो प्रिय और न अप्रिय हैं वह अदुःखमसुख वेदना है। विद् ज्ञाने धातु से वेदना शब्द बना है।

संज्ञा, ज्ञान, विज्ञान-तत्व ज्ञान मोक्ष कराके निवृत्त हो जाते हैं। अब ब्रह्म-भूत हो जाता है, अब इसका कोई भी चिह्न नहीं रहता। ब्रह्म को जानने वाले इसको जान सकते हैं, मूर्ख इसको नहीं समझ सकते।[१]

चरक में सांख्य का पूरक योग है, सांख्य से पृथक् योग की सत्ता नहीं। ईश्वर नाम की कोई वस्तु चरक में नहीं है। योग मोक्ष में प्रवृत्त करता है, मोक्ष का अर्थ ही अपुनर्भव है, अपुनर्भव का अर्थ रज और तम से पृथक् होना तथा बलवान् सब कर्मों का क्षय है। यह संज्ञा, ज्ञान, विज्ञान के विनाश से होता है। संज्ञा, ज्ञान, विनाश का नाश सत्याबुद्धि (सम्यक् ज्ञान) उत्पन्न होने से होता है। सत्याबुद्धि तब होती है जब मनुष्य यह समझने लगता है कि कारण वाली सब वस्तुएँ दुःखदायी हैं, सब वस्तु अनित्य हैं, मेरा कुछ नहीं।

सांख्य-योग-ईश्वर—सांख्य का अर्थ सम्यक् ज्ञान है। यह सम्यक् ज्ञान सबसे प्रथम जिन्होंने विचारा, वे सांख्य कहलाये। इसी का प्रतिपादन सबसे प्रथम चरक संहिता में मिलता है। सांख्य में ईश्वर का नाम नहीं, योग-दर्शन में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है। इसलिए कुछ लोग सांख्य को नास्तिक कहते हैं। महाभारत में सांख्य और योग-दर्शन का भेद बताते हुए सांख्य को नास्तिकवादी कहा है और योग को आस्तिक दर्शन कहा है। महाभारत के समय आस्तिक और नास्तिक की कसौटी ईश्वर का मानना और न मानना था, ऐसा प्रतीत होता है।[२]

चरक संहिता में आस्तिक और नास्तिक का विचार परलोक के मानने और न मानने से किया है।[३] नास्तिक होना सबसे बड़ा पातक है। त्याज्य वस्तुओं में नास्तिक होना सबसे मुख्य रूप में त्याज्य है (नास्तिको वर्ज्यानाम्)। परलोक को मानने वाले आस्तिक और परलोक को न मानने वाले नास्तिक कहे जाते थे।

पाणिनि के सूत्र 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' (४।४।६०) का भी यही अर्थ है, जैसा कि काशिका वृत्ति में स्पष्ट किया है—

---

१. चरक० शा० अ० १।१५४-१५५।

२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलौस्फी : सु० दा० ग०, पृ० २२०-भाग १।

३. चरक० सू० अ० ११।१५।

"न च मतिसत्तामात्रेप्रत्यय इष्यते। कस्तर्हि ? परलोको अस्तीति यस्य-मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः"—काशिका० ४।४।६७

पाणिनि का समय ईसा की पाँचवीं शती से अर्वाचीन नहीं है। उस समय आत्मा की सत्ता स्वीकार थी। परन्तु ईश्वर का स्थान नहीं था। पीछे से नास्तिक शब्द या आस्तिक शब्द वेद के मानने या न मानने वालों के रूप में आने लगा। इससे स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति अपनी श्रद्धेय एवं मान्य वस्तु में श्रद्धा न रखता हो, अथवा उसका विरोध करता हो, उसको नास्तिक कहने लगे और जो उसे स्वीकार करे, उसे आस्तिक नाम दिया।[1]

यही बात इन दर्शनों के साथ भी हुई। जिन दर्शनों में ईश्वर की सत्ता या उसका नाम स्वीकार किया गया, वे आस्तिक दर्शन कहलाये; यथा योग और न्याय-दर्शन तथा जिनमें ईश्वर का नाम नहीं आया, उनको नास्तिक माना; यथा सांख्य, बौद्ध-दर्शन आदि। महाभारत के समय भी यही स्थिति थी, इस दृष्टि से सांख्य को नास्तिक कहा है, इसी दृष्टि से देखने से भी चरक संहिता नास्तिक श्रेणी में आता है।

परन्तु चरक संहिता को नास्तिक श्रेणी से बचाने वाली वस्तु वेद है। चरक में वेद की सत्ता स्वीकार की गई है, वेद को आप्तागम कहा है, वेद को स्वतः प्रमाण माना है (जैसा स्वामी दयानन्दजी ने माना है)। वेद से सम्मत, परीक्षकों से प्रणीत, सज्जनों से अनुमोदित, लोक के कल्याण के लिए जो भी प्रवृत्त हुआ शास्त्र है, वह भी आप्तागम है।[2] इस प्रकार से चरक में वेद की सत्ता को जोर के साथ स्वीकार किया है, परन्तु ईश्वर का नाम कहीं नहीं लिया। फिर भी हम चरक को आस्तिक गिनते हैं। वास्तव में चरक का दार्शनिक विचार सांख्य विचार से मिलता है, उसी की भाँति आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है।

---

१. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिः बहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः॥—मनु० २।११।
इस विषय में पं० सुखलाल जी की पुस्तक 'अध्यात्म विचारणा'—पृ० (१०-११) उपयोगी है।

२. चरक० सूत्र अ० ११।२७।

बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन—बौद्धों के अनात्मवाद, क्षणिकवाद और निर्हेतुकविनाश इन तीनों का विचार चरक संहिता में मिलता है। बौद्ध आत्मा को रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार इन पाँच स्कन्धों का समुदाय प्रज्ञामात्र मानते हैं (तुलना कीजिये–चरक के शब्दों से 'संभूयकरणैः कृतम्'–शा० १।४४)। बौद्धों के संघातवाद (नैरात्म्यवाद) और सन्तानवाद (क्षणिकवाद) आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। ये आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते, अपितु पाँच स्कन्धों के मिलने से आत्मा बनती है, ऐसा मानते हैं। इस आत्मा को क्षणिक मानते हैं।[1]

चरक संहिता में इन दोनों बातों का निराकरण किया है, यथा—

संघातवाद—इसमें दोष बताते हुए कहा गया है कि यदि कर्ता के बिना; कारणों के परस्पर मिलने से (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार इन स्कन्धों के परस्पर मिलने से) ही निर्माण होता हो तो कुम्भकार के बिना ही मिट्टी, दण्ड,

---

१. इस विषय को मिनेन्द्र प्रश्न में सुन्दर उदाहरण देकर स्पष्ट किया है—'नागसेन ने मिनेन्द्र से पूछा कि आप इस धूप में जिस रथ से आये हैं, उसका वर्णन कीजिये। क्या यह चक्र रथ है? मिनेन्द्र ने कहा—नहीं। क्या ये दण्ड-रथ हैं? क्या यह जुआ रथ है? मिनेन्द्र ने कहा—नहीं। नागसेन ने कहा कि फिर रथ क्या है? तब मिनेन्द्र ने कहा कि चक्र, दण्ड, जुआ ये सब मिलकर रथ हैं। तब नागसेन ने कहा कि ठीक यही दशा आत्मा की है। पाँचों स्कंधों के मिलने से आत्मा नाम पड़ता है। यही उपमा चरक में भी आई है—"यथा वा रथो नाना रथाङ्ग समुदायात्"—चरक० शा० अ० ३।१३। आत्मा की पृथक् कोई सत्ता नहीं है (पृ० ३०-३२)। गर्भ के निर्माण में ... समुदाय को ही कारण बताया है—"सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्य समुदितो गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते"—चरक शा०.अ० ३।१३।

ये पाँचों स्कन्ध दो क्षण भी समान रूप से स्थिर नहीं रहते, प्रतिक्षण इनमें परिणाम होता रहता है। जिस प्रकार कि नदी के जिस एक जल से हम स्नान करते हैं, वह जल दूसरे क्षण में नहीं रहता। इसी प्रकार से जो दीप-शिखा एक बार जलती है, दूसरे क्षण वह नहीं रहती, केवल सन्तान परम्परा से वही प्रतीत होती है।

नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टान्त देकर इस क्षणिकवाद को और भी स्पष्ट किया—उसने कहा कि दूध दुहा जाने पर कुछ समय के पीछे जमकर दही बन जाता है। दही से मक्खन, मक्खन से घी बनता है। इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के विकारों में वस्तु की सत्ता बनी

चक्र के मिलने से घड़ा बनना चाहिये। मिट्टी-तिनके, काष्ठ के समूह से स्वतः घर का निर्माण होना चाहिये। जो मनुष्य बिना कर्त्ता के घड़े और घर की कल्पना करता है, वही यह कह सकता है कि कारणों ने मिलकर इस शरीर को बनाया।[१]

क्षणिकवाद—बौद्धों के क्षणिकवाद में भी दोष बताया है, यद्यपि इसमें नाम किसी का नहीं दिया। समुदाय मात्र से शरीर का निर्माण मानने वाले आत्मा का अस्तित्व पृथक् स्वीकार नहीं करते, उनके मत में सन्तान परम्परा से आत्मा क्षणिक है। इनके मत में समुदाय कर्त्ता रहित है, पुरुष न कर्त्ता और न भोक्ता है। इनके मत से एक भाव के किये कर्मों का फल दूसरे भाव भोगते हैं, जो कि नये होते हैं। पहले जिन भावों ने कर्म किया होता है, वे दूसरे क्षण में नहीं रहते, इसलिये फल दूसरे भावों को मिलता है, जो असंगत है, एक का किया दूसरा भोगे (इसपर चक्रपाणि ने लिखा है कि मनुष्य की प्रवृत्ति स्वार्थ के लिये होती है, परार्थ के लिये नहीं)।[२]

निर्हेतुक विनाश—बौद्धों के निर्हेतुक विनाश (विनाश में कारण न होना) का भी उल्लेख चरक में है। इसको 'केचित्' शब्द से कहा है। नदी का पूरा बढ़ाव होने पर पानी चारों ओर फैल जाता है, परन्तु पीछे से यह स्वतः ही कम हो जाता है, उतर जाता है। इसी प्रकार पाँचों स्कन्धों के मिलने में तो कारण है, परन्तु इनके पृथक् होने में कारण की अपेक्षा नहीं होती—क्योंकि इनका अपना वास्तविक स्वभाव पृथक् रहना है, जिस प्रकार कि नदी के पूर का उतरना स्वभाव है।

इनके विचार से कार्य की उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा रहती है, परन्तु कार्य के विनाश में कारण की अपेक्षा नहीं, वह तो अपने स्वभाव से ही नष्ट हो

रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति और लय होता रहता है। इन दोनों अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता। एक के लय होने पर दूसरी अवस्था आ जाती है। यह प्रवाह जन्मान्तर ग्रहण में भी रहता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है (मि० प्र०, पृ० ४९-५०)।

१. चरक० शा० अ० १।४३-४४।

२. वही, शा० अ० १।४६-४८।

जायेगा। कार्य के नाश में कारण का न होना ही इसके नाश में कारण है।[१] इसलिये जब रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान का समुदाय छिन्न होता है, तब आत्मा भी नष्ट हो जाता है, इनके मिलने से पुनः हो जाता है।

संघातवाद, क्षणिकवाद, निर्हेतुकविनाश सिद्धान्त यद्यपि बौद्धों के नाम से जाने जाते हैं, परन्तु चरक संहिता की दृष्टि से ये बुद्ध के समय के पूर्व के हैं। उपनिषदों में आत्मा और पुनर्जन्म के विषय में विचार सन्देह मिलता है। उस समय भी इनके विषय में संशय था, और इसके निराकरण का यत्न था।

कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से आत्मा के विषय में प्रश्न किया। पुनर्जन्म के विषय में पूछा कि मरने के पीछे फिर से हम उत्पन्न होते हैं, या नहीं।[२] इन्हीं प्रश्नों को उस समय बौद्धों ने भी विचारा था। बुद्ध के समय ये विचार दृढ़ हो गये थे, इसलिये इन विचारों को बौद्ध दार्शनिक विचार कहने लगे; परन्तु ये विचार बुद्ध के जन्म से पूर्व प्रचलित थे।

वैशेषिक विचार—वैशेषिक दर्शन में न्याय-दर्शन की भाँति ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गयी। इसमें आत्मा के जो लक्षण दिये हैं, वे चरक संहिता में दिये—परमात्मा के (पुरुष के) लक्षण ही हैं—

"प्राणापानौ निमेषाद्याः जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तर संचारः प्रेरणं धारणं च तत्॥
देहान्तर गतिः स्वप्ने पंचत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारः लिंगानि परमात्मनः॥"—शा० १।७०-७२

वैशेषिक दर्शन में—"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनंमनोगतिः, इन्द्रियान्तर विकार सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनोलिंगानि"— वैशेषिक सूत्र ३।२।४। वैशेषिक का यह सूत्र चरक संहिता के पुरुष के लक्षणों की छाया है।

चरक संहिता में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः

---

१. चरक० सू० अ० १६।२७-२८।

२. कठोपनिषद्—१।१।२०,२१; पुनर्जन्म के लिये १।२।६, २।२।६७, ९-१२।

पदार्थ माने हैं, वैशेषिक ने अभाव को भी स्वीकार किया है, यही इसमें विशेष है। चरक के पदार्थ भाव-पदार्थ हैं। द्रव्यों के विषय में भी दोनों में समानता है, दोनों ने नौ द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन) माने हैं।[1]

गुणों की संख्या में भेद है। वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या सतरह है (१।१।६)। भाष्यकार ने इसमें सात गुणों को जोड़कर चौबीस संख्या की है। चरक में गुणों की संख्या अधिक है। चक्रपाणि ने गुणों के तीन विभाग किये हैं—वैशेषिक गुण, सामान्यगुण और आत्मा के गुण। इनमें अर्थ शब्द से शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण किया है (चरक० शा० अ० १।३१)। गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध, रुक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर, मृदु, कठिन विशद, पिच्छल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र और द्रव ये बीस गुण सामान्य हैं। पृथ्वी आदि में साधारण गुण हैं। बुद्धि, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, स्मृति, अहंकार ये परमात्मा के लिंग हैं (शा० अ० १)। पर-अपर, युक्ति, संख्या, विभाग, पृथकत्व, परिमाण, संस्कार, अभ्यास ये भी गुण ही हैं (सू० अ० २६)।

अनुमान की सिद्धि के लिये चरक संहिता के अनुसार हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगम का होना आवश्यक है। 'व्याप्ति' शब्द का उल्लेख नहीं है, जैसा कि न्याय-दर्शन में आवश्यक है। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार भी हेतु और साध्य का सम्बन्ध माना है, परन्तु पारिभाषिक शब्द व्याप्ति का उल्लेख नहीं किया। अनुमान को चरक में एक ही प्रकार का माना है, वैशेषिक और सांख्य में इसके तीन भेद दिये हैं—पूर्ववत्, शेषवत्, सामन्यतोदृष्ट। चरक संहिता में इनका नाम नहीं कहा, परन्तु उदाहरण दिये हैं, यथा—

"प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥"

सूत्र० अ० ११।२१-२२

---

१. चरक० सू० अ० १।४८।

चक्रपाणि ने प्रत्यक्ष पूर्व से व्याप्ति का ग्रहण किया। (१) कार्य से कारण का अनुमान, गर्भदर्शन से मैथुन का अनुमान, (२) कारण से कार्य का अनुमान, बीज से कार्य फल का अनुमान, (३) सामान्यतो अनुमान, धूम के देखने से अग्नि का अनुमान। इस प्रकार से तीनों कालों का—भूत, भविष्य, वर्त्तमान का ज्ञान हो जाता है।

अनुमान को प्रमाण स्वीकार किया, उसके तीन भेद बताये, परन्तु इनका नामकरण नहीं किया।

अनुमान और युक्ति—चरक में अनुमान के साथ युक्ति को पृथक् प्रमाण माना है परन्तु न्याय, वैशेषिक में या सांख्य में युक्ति को पृथक् प्रमाण स्वीकार नहीं किया, इसका अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। चरक संहिता में युक्ति को अनुमान से पृथक् स्वीकार किया है।[१] इसमें अनुमान की भाँति दृष्टान्त नहीं रहता।

मन का लक्षण—वैशेषिक-दर्शन का मन का लक्षण चरक संहिता के मन के लक्षण की छाया है। चरक में मन के लिये कहा है—

"लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च-
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्त्तते।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्चवर्त्तते।
अणुत्वमथचैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ॥"

आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का होना और सन्निकर्ष न होने पर ज्ञान का न होना मन का लक्षण है। मन लगने पर ज्ञान होता है, मन न लगने पर ज्ञान नहीं होता। मन अणु और एक है।

वैशेषिक-दर्शन में मन का लक्षण—

"आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्चमनसो लिंगम्।"[२]

—(३।२।१)

आत्मा और ईश्वर—वैशेषिक-दर्शन में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया

---

१. चरक० सू० अ० ११।२३-२५, १७।

२. काश्यप संहिता में भी मन का यही लक्षण है—"ज्ञानस्याभावोभावश्चमनसो लक्षणं; तस्यैकत्वमणुत्वं च द्वौ गुणौ; प्रयत्न ज्ञानयौगपद्यादेकम्"—काश्यप शारीर।

है, उसकी सत्ता को सिद्ध किया, परन्तु ईश्वर का कोई विचार नहीं। चरक संहिता में भी ईश्वर का विचार नहीं, परन्तु आत्मा की सत्ता स्वीकार की है। न्याय की भाँति ईश्वर की जरूरत कर्मफल के सम्बन्ध में दोनों को नहीं पड़ी।[१]

इस प्रकार से वैशेषिक-दर्शन और चरक संहिता में पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में आत्मा, मन के लक्षणों के सम्बन्ध में, ईश्वर की पृथक सत्ता न मानने में समानता मिलती है।

परमाणुवाद—वैशेषिक-दर्शन का समय चरक संहिता के बाद का है। चरक में वैशेषिक का परमाणुवाद नहीं है, परन्तु उसका बीज वर्त्तमान है; यथा—सृष्टि का प्रारम्भ होने में आत्मा सबसे प्रथम, सबसे सूक्ष्म अन्तरिक्ष को बनाता है। फिर इससे स्थूल वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी को बनाता है।[२] चरक में अणु-परमाणु का विचार नहीं, यह विवेचना पीछे की है। परन्तु सृष्टि-निर्माण का क्रम समान है।

न्याय-दर्शन—चरक संहिता में न्याय-दर्शन सम्मत प्रमाण तथा कुछ पदार्थों का उल्लेख मिलता है। न्याय-दर्शन को तर्कविद्या या वाद-विद्या भी कहते हैं। चरक संहिता में वाद मर्यादा विशेष विस्तार से दी है। इस वाद मर्यादा में और न्याय-दर्शन प्रतिपादित पदार्थों में कहीं पर समानता है, और कुछ भेद भी है। कुछ वस्तुएँ चरक में नई हैं। इनके देखने से स्पष्ट है कि न्याय की वाद मर्यादा पीछे की है। चरक में एक स्थान पर प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश और युक्ति ये चार प्रमाण माने हैं।[२] दूसरे स्थान पर तीन ही प्रमाण माने हैं—'आप्तोपदेश, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति।'[३] न्यायदर्शन सम्मत उपमान को नहीं माना, परन्तु वाद मर्यादा में उपमान का नाम औपम्यम् शब्द से आया है, इसको प्रमाण कोटि में स्वीकार नहीं किया।

वाद मर्यादा—नियम में निम्न पदों को जानना आवश्यक कहा है। ये पद न्याय के पदार्थ ही हैं; यथा—वाद, द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय,

---

१. वैशेषिक दर्शन—३।२।४, चरक, शा० अ० १।७०-७४।

२. चरक० शा० अ० ४।८।

३. सू० अ० ११।१७।

४. वि० अ० ४।३।

प्रतिज्ञा, **स्थापना, प्रतिष्ठापना,** हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, **उत्तर, सिद्धान्त,** शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्यम् , औपम्यं, संशय, प्रयोजन, सव्यभिचार, **जिज्ञासा, व्यवसाय,** अर्थप्राप्ति, संभव, **अनुयोज्य अननुयोज्यम्, अनुयोग, प्रत्यनुयोग, वाक्यदोष, वाक्यप्रशंसा,** छल, अहेतु, अतीतकाल—**उपालम्भ, परिहार** प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, **हेत्वन्तर, अर्थान्तर,** निग्रहस्थान।

इनमें स्थूलाक्षरों के पद चरक संहिता के अपने हैं। अर्थापत्ति के स्थान पर अर्थ प्राप्ति शब्द आता है। जाति और छल चरक और न्यायदर्शन में समान हैं, परन्तु छल के भेद चरक में दो हैं और न्याय में तीन हैं। दृष्टान्त, प्रयोजन, प्रतिज्ञा, वितण्डा के लक्षण दोनों में समान हैं। परन्तु जल्प, छल, निग्रह स्थान की परिभाषा दोनों में अपनी-अपनी है। जाति और निग्रहस्थान के भेद न्यायदर्शन के समान चरक संहिता में नहीं हैं।

चरक में युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है, अनुमान में उसका अन्तर्भाव नहीं हुआ। क्योंकि इसमें दृष्टान्त नहीं रहता।[1]

ईश्वर विचार—षड्दर्शनों में ईश्वर की सत्ता को पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध करने वाला न्याय-दर्शन ही है। इसी दर्शन के आधार पर श्रीउदयनाचार्य ने बौद्धों और चार्वाको से लोहा लेने का यत्न किया। बौद्धों और चार्वाकों के शास्त्रार्थ के लिये वाद मर्यादा-नियम न्याय-दर्शन में समझाये गये। यह विवाद मुख्यतः ईश्वर को लेकर ही था।

न्याय-दर्शन में कार्य और कारण सम्बन्ध से ईश्वर सिद्ध किया है। चरक संहिता में इसी कार्य-कारण से आत्मा की सिद्धि की है (शा० अ० १।४३-४४)। न्याय-दर्शन में ईश्वर को कर्मफल का देनेवाला कहा है (अ० ४।१९)। शरीर की उत्पत्ति में भी ईश्वर कारण है, वही कर्मफल के अनुसार अच्छे या बुरे कुल में जन्म देता है। चरक संहिता में जन्म ग्रहण का सम्बन्ध आत्मा के साथ माना

१. "यस्मिन्सति भवत्येव न भवत्यसतीति च। तस्मादतो भवत्येतद्युक्तिरेषाऽभिधीयते॥
प्रमाणान्तरमेवेदमित्याह चरको मुनिः। नानुमानियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते॥
तद्भावभावित्वेन या तत्कार्यता प्रतिपत्तिरियं युक्तिः,
इदं च सविकल्पत्वान्न प्रत्यक्षं नाप्यनुमानं-दृष्टान्ताभावात्।"
—चरक० सू० अ० ११।२५ की व्याख्या में चक्रपाणि।

है। इष्ट योनि में जन्म, ऐश्वर्य, मोक्ष इनको आत्मा को समझने वालों ने आत्मा के अधीन बताया है (चरक० शा० अ० ३।९)। इस प्रकार से ईश्वर की जरूरत चरक को नहीं हुई।

चरक संहिता में आप्तोपदेश से वेद का ही ग्रहण किया है, अथवा जो भी कोई वचन वेद से अविपरीत, परीक्षकों से कहा, सज्जनों से अनुमोदित, लोक के अनुग्रह के लिये प्रवृत्त होता है, वह भी आप्तवचन कहा है। चरक में रज और तम से रहित, भूत-भविष्य, वर्त्तमान तीनों कालों का ज्ञान करने वालें को आप्त कहा है। परन्तु न्याय-दर्शन में वेद के सिवाय विश्वसनीय व्यक्ति को भी प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। वात्स्यायन ने ऋषि, आर्य और म्लेच्छ तीनों को विश्वसनीय कहा है। वैशेषिक दर्शन में वेद को स्वीकार किया है, परन्तु वेद को शब्द प्रमाण नहीं माना।

न्याय-दर्शन में छल का लक्षण वक्ता के अर्थ को बदल कर वचन का उल्टा अर्थ करना छल है (१।२।१०)। छल तीन प्रकार का है—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। चरक संहिता के अनुसार दूसरे को ठगने के लिये अर्थाभास के रूप में वाग्वस्तु का कहना छल है। यह दो प्रकार का है—वाक्छल और सामान्य छल (वि० अ० ८।५६)। निग्रह स्थान का लक्षण भी चरक में न्याय-दर्शन से भिन्न है।

मोक्ष का स्वरूप—सांख्यकारिका में जिस वस्तु को 'दुःख' शब्द से कहा है और जिसकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति होने पर मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति होती है, उसी को चरक में **वेदना** शब्द से कहा है। इन वेदनाओं की अधिष्ठान भूमि इन्द्रिय (ज्ञान) वाला शरीर है, निरिन्द्रिय शरीर को वेदनाओं का स्थान नहीं माना। निरिन्द्रिय शरीर—केश, लोम, नखों का अग्रभाग, अन्न, मल-द्रव (मूत्र, स्वेद आदि), गुण—शब्दादि हैं, इनको छोड़कर शेष शरीर वेदनाओं का अधिष्ठान है। यहाँ पर वेदना शब्द पालि में आये वेदना शब्द को ही सूचित करता है। वेदनायें तीन प्रकार की हैं--सुखवेदना, दुःखवेदना और अदुखमसुखवेदना।[१]

---

१. चरक० शा० अ० १।१३६।

चरक संहिता में वेदना—दुःख का अधिष्ठान ऐन्द्रियशरीर को ही माना है, केश आदि को नहीं माना, यह विचार सर्वथा भिन्न है। चक्रपाणि ने इस पर लिखा है—

"एते हि केशादयो न वेदनाधारा इत्यनुभव एव प्रमाणम्। यातु मूत्र पुरीष गता वेदना ग्रहणी मूत्रकृच्छ्रादौ वक्तव्या, सा मूत्रपुरीषाधारशरीर प्रदेशस्यैव बोध्या ॥" (चक्रपाणि)

वेदना का कारण—धी (बुद्धि) भ्रंश, धृति भ्रंश, स्मृति भ्रंश, काल सम्प्राप्ति, कर्म सम्प्राप्ति, असात्म्य (हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग) रूप में इन्द्रियों का और विषयों का संयोग दुःख का कारण है।[१]

वेदनाओं की निवृत्ति—योग और मोक्ष में सब प्रकार की वेदनायें निवृत्त हो जाती हैं। योग में वेदनायें निवृत्त होकर फिर भी हो सकती हैं, पुनर्जन्म हो सकता है, परन्तु मोक्ष में पुनर्जन्म नहीं होता, आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। योग-मोक्ष का प्रवर्तक है। मोक्ष में रज और तम का अभाव होने से तथा बलवान कर्मों का क्षय हो जाने से, सब संयोग से वियोग हो जाता है, इसी को अपुनर्भव कहते हैं।[२]

इस प्रकार से सांख्य में जिस दुःख की निवृत्ति को मोक्ष बताया है, उसको चरक में वेदना शब्द से कहा है और वेदनाओं की निवृत्ति मोक्ष में बताई है, साथ ही मोक्ष का स्वरूप भी बता दिया। वेदनाओं की अधिष्ठान भूमि चरक में सांख्य से नई है, सांख्यकारिका में इस सम्बन्ध में विचार नहीं है।

---

१. चरक० शा० अ० १।९८।

२. चरक० शा० अ० १।१३७, १४२।

पालि साहित्य में इन्द्रियों के ज्ञान को (सुखरूप, दुःखरूप और अदुःखमसुखरूप) वेदना कहना है। परन्तु पीछे यह अनुभव हुआ कि स्पर्श की वेदना अन्य इन्द्रियों की वेदना से भिन्न है। प्रिय स्पर्श की सुखवेदना सुन्दर फूल के देखने या मधुरगान के सुनने की वेदना से भिन्न है। भिन्नता इस बात में है कि स्पर्श की वेदना प्रधानतः शारीरिक वेदना है और दूसरी इन्द्रियों का अनुभव प्रधानतः मानसिक वेदना है। श्री भिक्षु जगदीश काश्यप से इस सूचना के आधार पर, चरक में कहा है—"तत्कालमेवास्यचेतसिवेदना निवन्धन प्राप्नोतिः"—शा० अ० ४।१८।

श्रेयस्-प्रेयस् मार्ग विचार—भगवद्गीता में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहा है, उसी को उपनिषदों की भाषा में श्रेयस् और प्रेयस् शब्द से कहा है।[१] मनुष्य स्वभाव से ही सुख के लाभ से और दुःख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। इनमें विषयजन्य या ऐन्द्रिक सुख का मार्ग प्रेयस् और आत्मा कल्याण का मार्ग श्रेयस् है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों की दो धारायें हैं—एक सुख के भोग की ओर बहती है और दूसरी आत्मकल्याण के लिये। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रयत्नपूर्वक द्वितीय मार्ग का ही अवलम्बन करे।

कठोपनिषद् में इन दोनों का स्पष्टीकरण है—श्रेयस् और प्रेयस्, दोनों एक दूसरे से पृथक् भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इन दोनों की लक्ष्य भूमि भिन्न-भिन्न है। ये दोनों मनुष्यों को बाँधते हैं, अर्थात् अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। इन दोनों में से जो श्रेयस् का मार्ग का अवलम्बन करता है, उसका भला होता है और जो प्रेयस् का वरण करता है, वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

श्रेयस् और प्रेयस्, दोनों मिले-जुले रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। बुद्धिमान् (विवेकशील) मनुष्य सम्यकतया विचार कर उनको अलग-अलग करता है। वह प्रेयस् को छोड़कर श्रेयस् को ग्रहण करता है और जो मन्द बुद्धि होता है, वह योग क्षेम के कारण अर्थात् सुखोपभोग की दृष्टि से प्रेयस् का वरण करता है।[२]

धनादि पदार्थों के मोह में फँसे और विषय विलास में आसक्त मूर्ख मनुष्य को अपने परलोक का ध्यान नहीं आता; यही लोक है, परलोक नहीं; ऐसा मानने वाला बार-बार मृत्यु के वश में आता है और जन्म-मरण के चक्र में ही पड़ा रहता है।[३]

श्रेयस् मार्ग को निवृत्ति मार्ग और प्रेयस् मार्ग को प्रवृत्ति मार्ग कह सकते

---

१. गीता में प्रवृत्ति-निवृत्ति शब्द मिलते हैं—"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धनं मोक्षं च यावेत्ति बुद्धिः पार्थ सात्विकी॥"—१८।३०।

२. कठोपनिषद् १।२।२।

३. वही, १।२।२।६।

हैं। आपततः यह समझा जाता रहा है कि इन दोनों में मूलतः नितान्त विरोध है, अन्ततोगत्वा यह विरोध ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के विरोध में पर्यवसित हो जाता है।[१]

चरक सहिता में इसी को प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग के नाम से कहा है, जो गीता और महाभारत के वचनों से मिलता है।[२] इनमें जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनका स्पष्टीकरण चरक संहिता और अश्वघोष के बुद्धचरित के सिवाय अन्यत्र देखने में नहीं आता।

प्रवृत्ति और निवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सब दुःखों का मूल प्रवृत्ति है और निवृत्ति उपरम है, प्रवृत्ति दुःखरूप है, निवृत्ति सुखरूप है, जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्य है। **प्रवृत्ति का मूल और निवृत्ति का उपाय—** प्रवृत्ति का मूल मोह, इच्छा, द्वेष रूपी कर्म है, (धर्म-अधर्म कारण है)। इनमें **अहंकार, संग, संशय, अभिसंप्लव, अभ्यवपात,** विप्रत्यय, अविशेष, अनुपाय ये उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार से बड़ा वृक्ष अपनी शाखा प्रशाखाओं से छोटे वृक्ष को ढाँप लेता है, उसी प्रकार से ये भी पुरुष को घेर लेते हैं। जिससे मनुष्य संसार को नहीं छोड़ता।[३]

जाति, रूप, वित्त, वृत्त, शील, विद्या, अभिजन, वय, वीर्य, प्रभाव से मैं सम्पन्न हूँ, बड़ा हूँ—ऐसा समझना अहंकार है (धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में कहा है—स्नान ठीक धर्म मानना, जाति का अभिमान—ये ध्वस्त प्रज्ञावालों की मूर्खता के चिह्न हैं। मन, वाणी, कर्म से मोक्ष के लिये काम न करना संग है।

---

१. डा० मंगलदेव शास्त्रीकृत "औपनिषद् धारा की मूल प्रवृत्तियाँ"—कल्पना, २ जून, १९५९।

२. (क) मार्कण्डेय पुराण में प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग को वैदिक कर्म कहा है—"प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्विविधं कर्म वैदिकम्"—मार्कण्डेयपुराण ४५।१,

(ख) "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जवान विदुरा सुराः"—गीता० अ० १६।७।

(ग) "निवृत्तश्चास्थितो धर्म क्षेमी भागवत प्रियः।
प्रवृत्तिधर्मान् विदधे स एव भगवान प्रभुः॥"—महाभारत० शान्ति० ३२७।२।

× × ×

"जानामिधर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापिदेवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥"—महाभारत०

३. चरक० शा० अ० ५।८, ९।

कर्मफल, मोक्ष, पुनर्जन्म, पुरुष आदि हैं या नहीं, यह संशय है। सब अवस्थाओं में अपने को ब्रह्म से अभिन्न मानना, मैं बनाने वाला हूँ, स्वभाव से ही मैं सिद्ध हूँ, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्मृति में अपने को राशि पुरुष समझना अभिसंप्लव है। माता, पिता, भाई, पत्नी, पुत्र, बन्धु, मित्र, भृत्य मेरे हैं और मैं इनका हूँ—अभ्यवपात है। कार्य में अकार्य, शुभ-अशुभ-हित-अहित में विपरीत बुद्धि का होना विप्रत्यय है। ज्ञान-अज्ञान में, प्रकृति-विकृति में, प्रवृत्ति और निवृत्ति में एक समान बुद्धि रखना अवशेष है। प्रोक्षण, अनशन, अग्निहोत्र, अभिषवण, अभ्युक्षण, आवाहन, यजन, याजन, सलिल प्रवेश, अग्नि प्रवेश आदि कार्यों का करना (भी स्वर्ग के लिए) अनुपाय हैं।

जिस प्रकार से वृक्ष पक्षियों के बैठने का स्थान होता है, उसी प्रकार से धी, धृति, स्मृति, अहंकार से भरा, दुनियादारी में फँसा, अभिसंप्लव बुद्धि वाला, अन्यथा दृष्टि एवं अविशेष ग्राही, विमार्ग में जाने वाला यह मनुष्य मन और शरीर के सब दोषों के कारण सब दुःखों से पीड़ित होता है। इस प्रकार अहंकार आदि दोषों से विभ्रमित मनुष्य प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता, यही प्रवृत्ति पाप का मूल है (शा० अ० ५।१०)।

भगवान् बुद्ध को भी आराट् ने इसी उपदेश को इसी प्रकार दिया है। कवि अश्वघोष के शब्दों में पढ़िए—

विप्रत्ययादहंकारात्संदेहादभिसंप्लवात् ।
अविशेषानुपायाभ्यां संगादभ्यवपाततः ॥
तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवर्त्तते ।
अन्यथा कुरुते कार्यं मन्तव्यं मन्यतेऽन्यथा ॥
ब्रवीम्यहमहं वेद्मि गच्छाम्यहं स्थितः ।
इतीहैवमहंकारस्त्वनहंकार वर्त्तते ॥
यस्तु भावानसंदिग्धानेकीभावेन पश्यति ।
मृत्पिण्डवद् संदेह संदेहः स इहोच्यते ॥
य एवाहं स एवेदं मनो बुद्धिश्च कर्म च ।
यश्चैवेष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसंप्लवः ॥

अविशेषं विशेषज्ञ प्रति बुद्धा प्रबुद्धयोः ।
प्रकृतिनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥
नमस्कारवष्टकारो प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।
अनुपाय इति प्राज्ञैरूपायज्ञः प्रवेदितः ॥
सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः ।
विषयेष्वप्यनभिष्वंग सोऽभिष्वंग इति स्मृतः ॥
ममेदमहमस्येति यद् दुःखमभिमन्यते ।
विज्ञेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥"—बुद्ध च० १२।२४-३२

इसी से कहा है—

"प्रवृत्ति हेतुर्विषमः सदृष्टो निवृत्ति हेतुर्हि समः स एव"—
चरक० शा० अ० २।४४

विषम प्रवृत्ति रोग एवं अधर्म का हेतु है और सम प्रवृत्ति निवृत्ति का कारण है। इसी से अन्यत्र कहा है—'समंबुद्धिर्हिपश्यति' (चरक० शा० १।९९) और 'सुखहेतुसमस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः' (चरक० शा० १।१२९), उचित बुद्धि सबको यथावत् देखती है, समयोग ही सुख का कारण है और यह समयोग दुर्लभ है। गीता में पढ़ते हैं—'समत्वं योगमुच्यते' (२।४८)। समता—समान बुद्धि का नाम ही योग है। यही समयोग निवृत्ति का कारण है।

महाभारत में भी इन्हीं दो मार्गों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

"द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्ति लक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभाषितः ॥"—महाभारत शा० २४०।६

ये ही दो मार्ग हैं, जिसमें वेद प्रतिष्ठित है। इनमें एक मार्ग प्रवृत्तिविषयक धर्म का है और दूसरा मार्ग निवृत्ति, अर्थात् सन्यास लेने का है।

इससे स्पष्ट है कि दोनों पन्थ स्वतन्त्र हैं। निवृत्ति को ही अपवर्ग, मोक्ष एवं ब्रह्म नाम से कहा है। यह अतिशय प्रशान्त, शान्तिदायक स्थिति है, इसी से मोक्ष है। गीता में कहा है—"प्रवृत्तिं च निवृत्तिंच जना न विदुरासुराः"—गीता १६।७। आसुर प्रकृति के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं समझते।

सृष्टिक्रम—उपनिषदों में सृष्टि-निर्माण में ईश्वर की इच्छा को ही मूल

कारण कहा है—"तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेति, ततेजोसृजत् ततेज ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेति।"—(छान्दो० ६।४।२)।

चरक संहिता में भी इसी इच्छा को सृष्टि-निर्माण में कारण बताया है; यथा—गर्भ निर्माण में सबसे प्रथम चेतनाधातु, मन के द्वारा गुणवान भूतों को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है।[1] यही चेतनाधातु हेतु-कारण-निमित्त अक्षर, कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, पुरुष, जीव, प्रधान, अव्यक्त, पुद्गल, चेतनावान्—विभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, अन्तरात्मा आदि नामों से कहा जाता है। यह चेतनाधातु गुणग्रहण काल में वायु आदि दूसरे भूतों से पूर्व अन्तरिक्ष के गुणों को लेता है। जिस प्रकार कि प्रलय की समाप्ति में सृष्टि-निर्माण की इच्छा से मन कारण वाला अक्षर भूत आत्मा सबसे प्रथम आकाश को उत्पन्न करता है, इसके पीछे आकाश से अधिक व्यक्त गुण वाले वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी को क्रम से उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शरीर ग्रहण में भी प्रवृत्त आत्मा सबसे प्रथम आकाश को ही उत्पन्न करता है, फिर क्रम से अधिक स्पष्ट गुण वाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। इन सब गुणों की उत्पत्ति अणुकाल में (पल मारने के समय से भी कम समय में) हो जाती है।[2]

प्रलय के समय (विकारों के प्रकृति में लय होने के समय) क्रम बदल जाता है। इसमें सबसे प्रथम पृथ्वी के गुणों का विघटन होता है, फिर क्रम से जल, अग्नि, वायु और अन्तरिक्ष के गुण विघटित होते हैं, ये फिर आत्मा में लय होते हैं।

योग दर्शन में सृष्टि का निर्माण केवल ईश्वर की लीला बताई है, परन्तु चरक के अनुसार सृष्टि-निर्माण (उदय) और विनाश (प्रलय) में आत्मा कारण है, जो कि सुख और दुःख (धर्म-अधर्म) और कर्मफल का प्रबन्ध करता है। ईश्वर सृष्टि का निर्माण सबके कल्याण (मोक्ष के लिये) के लिये करता है। दुःख का अनुभव मनुष्य को प्रवृत्ति से हटाकर निवृत्ति की ओर ले जाने के लिये हैं।[3]

पुनर्जन्म विचार और आत्मवाद—पुनर्जन्म का आधार आत्मा की सत्ता स्वीकार करना है। आत्मा के विषय में बहुत समय से सन्देह चल रहा

---

१. चरक० शा० अ० ५।४, ६,८, शा० अ० २।३१।

२. चरक० शा० ४।८।

३. वही, शा० अ० ५।१२।

है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने भी इस आत्मा को जानना चाहा था। यम ने उसे कहा कि देवता भी इसके विषय में सन्देह करते हैं। यह विषय बहुत गूढ़ है, इसे मत पूछो। परन्तु नचिकेता ने इसी आत्मा की जानकारी करनी चाही; इसके सिवाय दूसरा वर नहीं माना।[1]

मोक्ष (अपुनर्भव—जन्ममरण के बन्धन से छूटना) की प्रतिष्ठा आत्मवाद पर ही है। कपिल, पार्श्वनाथ, बुद्ध, महावीर, याज्ञवल्वय जैसे मोक्षवादी साधकों की साधना भूमि आत्मवाद पर प्रतिष्ठित है। इनकी विचारणा का गहरा प्रभाव पड़ा, जिससे भूतसंघातवाद या देहात्मवाद गौण एवं अप्रतिष्ठित होता गया। मोक्षवादी दर्शनों के पुरस्कर्ता प्रत्येक सूत्रकार ने अपनी-अपनी कृति में पूर्व पक्ष के तार पर भूत संघातवाद अथवा देहात्मवाद का निर्देश करके उसका संक्षिप्त या विस्तृत खंडन किया है।[2] चरक संहिता में भी आत्मा की सत्ता स्वीकार कराने के लिये पुनर्जन्म का विचार किया है। उस समय भी भूत संघातवादी धर्मपंथ जीवित थे या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनका मत सब स्थानों पर पूर्व पक्ष के रूप में ही उपस्थित किया गया है। यथा चरक में—

"सन्तिह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिता, सन्तिवागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति, श्रुतिभेदाच्च—

"मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्।
स्वभावं पर निर्माणं यदृच्छां चापरेजनाः॥"—चरक० सूत्र० अ० ११।६

कुछ व्यक्ति जो प्रत्यक्ष को ही मानते हैं, वे पुनर्जन्म के परोक्ष होने से नास्तिक मत के हैं, पुनर्जन्म नहीं मानते। दूसरे व्यक्ति आगम के विश्वास से पुनर्जन्म को मानते हैं, श्रुति भेद भी है—कोई माता-पिता को जन्म का कारण मानते हैं, दूसरे स्वभाव को, तीसरे परनिर्माण को और कुछ यदृच्छा का जन्म का कारण मानते हैं।[3]

---

१. कठोपनिषद् १।१।२०; १।२।६, २।५।९। तथा वृहदराण्यक ४।५।१३।

२. न्यायसूत्र ३।१।१।२७; वैशेषिक दर्शन ३।१।२, ८।१।२, प्रशस्तपाद गत ३।

३. अश्वघोष ने भी इस प्रसंग का उल्लेख किया है—

आत्मवाद के विरुद्ध अनात्मवाद को मानने वाले लोगों के विविध मन्तव्य मिलते हैं। उनमें से कोई पंचभौतिक देह को आत्मा मानता है, कोई इन्द्रिय को आत्मा मानता है, कोई मन को, कोई प्राण को आत्मा समझता है।[1] ये सब अनात्मवाद की भिन्न-भिन्न भूमिकायें हैं। गीता में भी पुनर्जन्म का विचार किया है (४।४०)।

अनात्मवादी भूमिका का आधार एक ही है—चेतना और ज्ञानशक्ति; चार (भूतेश्चतुर्भिः; भूतानिचत्वारि तु कर्मजानि—चरक० शा० अ० २।३५) या पाँच भूतों के विलक्षण संयोग मात्र से सर्वथा नवीन वस्तु ही पैदा होती है और वह जन्म से लेकर मरणपर्यन्त कार्य करती है, परन्तु मृत्यु के पीछे शेष नहीं रहती ("देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते"—कठ० २।५।९; 'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' अर्थात् मृत्यु के पीछे कुछ भी नहीं बचता—बृहदा० उप० ४।५।१३।

आत्मवादी दर्शनों की सामान्य भूमिका यह है कि पंचभौतिक देह के जन्म से पूर्व ही सदा विद्यमान रहने वाला ऐसा कोई तत्व है, जिससे सम्बन्ध होने पर वह देह सचेतन बनती है और देह का अवसान होने पर भी वह तत्व सदा के लिये कायम रहता है; यथा चरक में—

"अस्तीतिकेचिद् परलोकमाहुः मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति।
अग्नेर्यथा ह्यौषणमयां द्रवत्वं तद्वत् प्रवृतौ प्रकृतिं वदन्ति।
पुनर्भवोऽस्तीतिकेचिदाहुः नास्तीतिकेचिन्नियतप्रतिज्ञाः।
एवंविधा संशयितो यमर्थस्तस्मात् क्षमः भोक्तुमुपस्थित श्रीः॥"— बुद्धचरित

स्वभाव को जन्म का कारण मानने वाले कहते हैं—जिस प्रकार से अमदकारक सुरा बीज आदि से मदकारक मद्य बनता है, इसी प्रकार से जन्म स्वभाव से होता है। यदृच्छा वाले कहते हैं कि कारण के अनुसार ही सदा कार्य हो, ऐसा कोई नियम नहीं। हल्दी और चूना मिलाने से इनसे भिन्न रंग उत्पन्न होता है। इसलिये आत्मा की कोई जरूरत नहीं।

१. प्रश्न और तैतिरीय (ब्रह्मानन्द वल्ली) उपनिषद् में ऐसी भूमिकायें मिलती हैं। स्वतंत्र आत्म तत्व का मन्तव्य स्थिर होने से पूर्व लोगों में देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद की भूमिकायें प्रचलित थीं। न्यायसूत्र में (३।१।१-२७) में आत्मवाद की स्थापना करते समय देह, इन्द्रिय, मन आदि को आत्मा मानने वाले पक्षों का खण्डन किया है।

(१) "भूतैश्चतुर्भिः सहितः ससूक्ष्मैर्मनोजवोदेहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शमस्तिरूपम् ॥
ससर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतना धातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक्सानुशयः स एव ॥"

—शा० २।३१,३२ ।

(२) "आत्मजश्चायं गर्भः । गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः, तं जीव इत्याचक्षते, शाश्वतमरुज मजरममरमक्षयम भेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणम-व्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि ॥"—शा० ३।८ ।

आत्मा के लिये हेतु, कारण, निमित, अक्षर, कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुष, प्रभव, अव्यय, नित्य, गुणी, ग्रहण, प्रधान, अव्यक्त, जीव, ज्ञः, पुद्गल, चेतनावान्, विभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, अन्तरात्मा, प्राण आदि शब्द आते हैं। आज जिस प्राण का अर्थ श्वासोच्छ्वास होता है, वह प्राण शब्द कभी आत्मा के लिये भी प्रयुक्त होता था।[1] अनात्मवादी लोग सजीव प्राणिमात्र में विकसित जीवन एवं चैतन्य का इन्कार नहीं करते, परन्तु उनकी जीवन या चैतन्यविषयक उपपति भिन्न है। उनके अनुसार पृथ्वी आदि चार भौतिक एवं सूक्ष्मतम अणुओं का संधान जब देहरूप में परिणत होता है—तभी उनके विलक्षण संयोग के कारण जीवन-तत्व देह में दिखाई देता है और कार्यकर बनता है और जब वैसा विलक्षण संयोग नष्ट होता है, तब उस जीवन का या चैतन्य का भी प्रलय हो जाता है। यह विचार चरक संहिता में स्पष्ट है—भरद्वाज ने गर्भ का कारण—जन्म का कारण स्वभाव को नाना है।[2] उसने आत्रेय के इस सिद्धान्त को, कि माता, पिता, सात्म्य, रस, आत्मा, सत्व से गर्भ उत्पन्न होता है, स्वीकार नहीं किया था।[3]

अनात्मवादी विचारसरणी के विरोध में आत्मवादी के जो पक्ष थे, उनमें दो अधिक प्राचीन हैं। पहला पक्ष प्रकृतिजन्य जीववादी और दूसरा स्वतः जीववादी है। इनकी मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

---

१. प्रश्न उपनिषद्–२।२, 'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्'–२।६, ३।१ ।

२. चरक० सू० अ० २५।२०-२१ ।

३. चरक० शा० अ० ३।४, १५ ।

प्रथम पक्ष—रजस् , तमस् और सत्त्व इन तीन अंशों या गुणों वाला एक स्वतः सिद्ध प्रधान तत्त्व है, जिसे प्रकृति कहते हैं। इन तीन गुणों की विविध तारतम्य या वैषम्य की वजह से प्रधान तत्त्व सर्जन व्यापार करता है।[1] इसमें सत्त्व की प्रधानता रहने से इसे सत्व भी कहा जाता है। सुख, दुःख आदि का अनुभव करने की जीवन-शक्ति धारण करने के कारण यह जीव भी कहा जाता है ('तं जीवमित्याचक्षते'—चरक)। यह धर्म, अधर्म के अनुसार उच्चावच जन्म धारण करता है, अर्थात् एक स्थूल देह छोड़कर दूसरी स्थूल देह धारण करता है।

'देहात् कथंदेहमुपैति चान्यमात्मा सदाकैरनु बध्यते च'--(शा० २।२८) के प्रश्न का उत्तर चरक में इसी रूप में दिया है--

आत्म वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन अति सूक्ष्म भूतों के साथ मन के वेग से (सत्व-करण-मन जिसका साधन है) एक शरीर से दूसरे शरीर में आता है। यह आत्मा अतीन्द्रिय और अति सूक्ष्म रूपों से कभी भी अलग नहीं होता, इसी प्रकार कर्म, मन, मति, अहंकार विकार के दोषों से (रज और तम से) कभी अलग नहीं होता। मन, रज और तम से सदा संयुक्त रहता है, ज्ञान के बिना सब दोष इस में हैं।[2] स्थूल देह के विनाश से सत्त्व का विनाश नहीं होता, इसलिए आत्मा को पुनर्जन्मवान् कहा जाता है। जब सत्त्व की मात्रा कम और अभिभूत होती है, तथा रजस् और तमस् गुणों की मात्रा मुख्य रूप से कार्य करती है, तब उस प्रधान नामक मूल तत्त्व में से जो सर्जन होते हैं—वे ज्ञान और सुख जैसे भावों से रहित होते हैं;—

"रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुविद्धं, ज्ञान विना तत्र हि सर्वं दोषाः।
गतिःप्रवृच्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥" शा०अ० २।३८।

द्वितीय पक्ष—इस पक्ष में जीव और अजीव, ये दोनों तत्त्व मूल से ही भिन्न हैं। इन दोनों का किसी एक मूल कारण में से उत्पत्ति या आविर्भाव

१. यह पक्ष सांख्य और चरक का है—"चतुर्विंशतिकोह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः। बुद्धीन्द्रिय-मनोर्थानां विद्यायोगधरं परम् ॥"—चरक० शा० अ० १।३५। तथा "पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेष कर्मजः।"—चरक० शा० अ० १।५३।

२. चरक० शा० अ० २।२८, ३१, ३७-३८।

नहीं होता। जिस प्रकार से परमाणु आदि अजीव तत्त्व स्वतः सिद्ध एवं अनादि हैं, उसी प्रकार से जीव तत्त्व भी स्वतः सिद्ध और अनादि हैं। यह पक्ष भी पूर्व की भाँति जीव में धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख आदि भावों की उत्पत्ति मानता है, और यह मानता है कि यह जीव पुण्य-पाप के अनुसार पुनर्जन्म के चक्र का अनुभव करता है, यह जीव आत्मा कहलाता है।

यह मत सुश्रुत में मिलता है—वहाँ पर पचीस तत्व माने हैं। यथा—

'तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः पुरुषः पंचविंशतितमः कार्यकारण संयुक्त श्चेतयिता भवति। सत्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषवैकल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशान्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति।"—शा० अ० १।८।

परन्तु इसमें अन्तर इतना है कि वे जीव को स्वतः सिद्ध मानता है, सुश्रुत में प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर—कार्य-कारण संयोग होने पर चेतना आ जाती है। दूसरा पक्ष जैन परम्परामूलक है। दोनों पक्ष अनात्मवाद के विरुद्ध पुनर्जन्म की प्रक्रिया, पुण्य-पाप की शृंखला-धर्म-अधर्म स्वीकार करते हैं।

चरक संहिता में अग्निवेश के प्रश्नों के उत्तर में पुनर्वसु ने आत्मतत्त्व का जो निरूपण किया है, वह आत्मज्ञ लोगों के मन्तव्य के तौर पर किया गया है। यह तत्वाद्वैत सरणी पहिले से चलती आ रही थी। इसमें चौबीस तत्त्वों की मान्यता स्वीकार की है। अनात्मवाद के विरोध में आत्मवाद जब अस्तितत्व में आया, तब इस के साथ में पुनर्जन्म भी आया। पुनर्जन्म के बन्धन से छूटने को ही मोक्ष कहा गया। यह मोक्ष रज और तम के न रहने से, बलवान् कर्मों को क्षय होने से, सब प्रकार के संयोगों से वियोग हो जाने पर होता है।[1] पुनर्जन्म का आधार आत्मवाद ही है। पुण्य अथवा सुकृत करने से दिव्य या उच्च लोक (योनि) में जन्म मिलता है तथा पाप अथवा दुष्कृत करने से नरक या तुच्छ लोक में जन्म लेना पड़ता है।[2] कर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ है, कर्मफल ही पुनर्जन्म का कारण है। पूर्वजन्म की मान्यता से ही सज्जनों से अनिन्दित, स्वर्ग

---

१. चरक० शा० अ० १।१४२।

२. वही, शा० अ० ३।३,९।

के योग्य, वृत्ति, पुष्टिकर जो कार्य हैं, उनको करने का उपदेश किया है, इस प्रकार के कार्य करने से इस जीवन में यश प्राप्त होता है और मरने पर स्वर्ग मिलता है।[1]

पुनर्जन्म विवेचन

तीन इच्छाएँ—उपनिषद् में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—इन तीन इच्छाओं का उल्लेख किया है; मनुष्य को चाहिये कि वह इन तीनों एषणाओं को छोड़ दे।[2] चरक में इनको प्राणैषणा, वित्तैषणा और परलोकैषणा का नाम दिया है। भेल संहिता में परलोकैषणा के स्थान पर धर्मैषणा गिनी है (पृ० २५)।

प्रत्येक व्यक्ति देर तक जीने की इच्छा करता है, दीर्घ-जीवन की इच्छा से ही भरद्वाज मुनि इन्द्र के पास गये थे। इन्द्र से उन्होंने दीर्घ जीवन का उपाय पूछा और उसको सीखकर अमित आयु प्राप्त की थी। चरक का प्रारम्भ ही 'दीर्घञ्जीवतीय' नामक अध्याय से हुआ है। मनुष्य में मरने की इच्छा नहीं होती, यह इच्छा सबसे मुख्य है।

प्राणैषणा के पीछे वित्तैषणा है। जीवन के उपयोगी साधनों के बिना दीर्घायु प्राप्त करना सबसे बड़ा पाप अत्रिपुत्र ने कहा है। इसलिए जीवन के उपयोगी साधनों को एकत्रित करने का यत्न करना चाहिये। ये साधन कृषि, गो-सेवा, राज-सेवा आदि हैं। तीसरी इच्छा परलोकैषणा है, इसीको उपनिषद् में पुत्रैषणा कहा है। मृत्यु के पीछे भी अगले जन्म की चिन्ता का भाव इसमें है। मृत्यु के पीछे भी भावी जीवन सुखकर बने, यह इच्छा तीसरी है। पहली दो इच्छाओं के विषय में कोई विवाद नहीं, विवाद या संशय तीसरी परलोकैषणा के विषय में है। कुछ लोक-परलोक को नहीं मानते और कुछ परलोक की सत्ता स्वीकार करते हैं। जो परलोक को स्वीकार नहीं करते—उनके अनुसार—

१. जन्म का कारण माता-पिता हैं।

२. स्वाभाव ही जन्म का कारण है।

---

१. पं० सुखलालजी लिखित 'अध्यात्म विचारणा' पृ० २ से २४ तक के आधार पर।

२. बृहदारण्यक-३।५।१।

३. परनिर्माण जन्म का कारण है,

४. यदृच्छा जन्म का कारण है,

ये चारों विचारक आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, इनका मुख्य आधार प्रत्यक्ष ही है।

इसमें बुद्धिमान् को चाहिये कि वह नास्तिक विचार (परलोक नहीं है) छोड़ दे, नास्तिक होना सबसे बड़ा पाप है। प्रत्यक्ष ही सब वस्तुओं के लिए प्रमाण नहीं होता। जिस आँख से हम रूप आदि देखते हैं, वही इन्द्रिय स्वतः प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष वस्तु बहुत कम है, अप्रत्यक्षवस्तु बहुत है; जिनको हम आगम, अनुमान और युक्ति से जानते हैं।

कुछ कारणों से प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं होता, जैसे—आँख के समीप पुस्तक लाने से पढ़ा नहीं जा सकता (अतिसन्निकर्षात्), आँख से बहुत दूर पुस्तक रखकर नहीं पढ़ सकते (अतिदूरात्), वस्तु और इन्द्रिय के बीच में कोई आवरण आ जाने से, इन्द्रिय के दुर्बल होने से, मन के स्थिर न होने पर, एक समान वस्तुओं में मिला होने से (मूँग के ढेर में मूँग के दाने होने पर), सूक्ष्म होने से, किसी वस्तु से तिरस्कृत होने से (मध्याह्न से उल्कापात होने पर) प्रत्यक्ष का ज्ञान नहीं होता।

युक्ति से भी परलोक सिद्ध होता है—

(१) माता-पिता का जन्म का कारण माना जाय, तो इसमें आत्मा का संचरण दो प्रकार से हो सकता है—एक सर्वायवय रूप में और दूसरे में अवयव-भाग रूप में। सम्पूर्ण रूप में आत्मा का संचरण होने पर माता-पिता में से एक की मृत्यु होनी चाहिये। अवयव रूप में संचरण हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा निरवयवी है, उसका रूप नहीं है।

(२) आत्मा के स्थान पर यदि बुद्धि या मन का संचरण माना जाय, तो इसमें वही दोष सर्वाययव रूप और निरवयव रूप का आता है। मन और बुद्धि भी आत्मा के समान निरवयवी हैं।

इसके सिवाय माता-पिता को ही जन्म का कारण मानने पर उनके मत में स्वेदज और उद्भिज योनि नहीं हो सकती।

(३) स्वभाव का जो कारण मानते हैं, उनके मत में पृथ्वी, अप्, तेज,

वायु-आकाश और चेतना (आत्मा) इनके संयोग और वियोग में कर्म ही कारण है। आत्मा के बिना किसी में चैतन्य नहीं, चैतन्य केवल आत्मा में ही है, उसके संयुक्त होने पर इनमें चेतनत्व आता है।

(४) जो लोग दूसरे के द्वारा निर्माण मानते हैं, उनके अनुसार आत्मा का निर्माण दूसरे से होना असम्भव है, आत्मा स्वयं अनादि है। यदि पर से आत्मा अभिप्रेत है, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, यह तो मान्य ही है। धर्म-अधर्म सहित आत्मा शरीर का निर्माण करता है।[1]

(५) यदृच्छा को जो कारण मानते हैं, वे एक भी प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार न कोई परीक्षा है, न परीक्ष्य है, न कर्त्ता और न कारण है, न देव, न ऋषि, न सिद्ध, न कर्म और न कर्मफल, कुछ भी नहीं। ऐसे नास्तिकों के लिए आत्मा नाम की कोई चीज नहीं। नास्तिक होना सबसे बड़ा पातक है।

इसलिए अमार्ग में फैली नास्तिक बुद्धि को छोड़कर सज्जनों के बुद्धि प्रदीप से सब वस्तुओं को ठीक-ठीक देखना चाहिये। प्रमाणों से जो कुछ भी ज्ञेय है, वह दो प्रकार का है—एक सत् और दूसरा असत्।[2] इसकी परीक्षा चार प्रकार से होती है—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति से परीक्षा होती है।

आप्तोपदेश—इसका अर्थ आप्त-वचन है। आप्त का लक्षण चरक में दो स्थानों पर आया है—एक स्थान पर उन लोगों को आप्त कहा है, जिनका ज्ञान-निश्चित हो (बिना संशय का हो), स्मृति-विभाग को जानने वाले (स्मृति—स्मरण ज्ञान, विभाग-एक देश, निश्चय और अनुभव से, सम्पूर्ण रूप में भावों को समझने वाले), तथा यथार्थदर्शी और निर्दोषदर्शी होते हैं (निष्प्रीति और निरूपताप रूप में देखने वाले) व्यक्ति आप्त हैं। इनके वचन भी इसी प्रकार के निर्दोष एवं यथार्थ होने से प्रमाण हैं।[3]

---

१. "आत्मा सदा कैरनुबध्यते च" (च० शा० २।२८)। इस प्रश्न के उत्तर में दिया गया— ३७।३८ का वचन देखा जा सकता है।

२. उपनिषदों में सत् और असत् इन दोनों से उत्पत्ति बताई है। यथा—"सदेव सौम्येदमग्र-आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैकआहुरसदेवेदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्।"—छान्दोग्य ६।२।१।

३. चरक० वि० अ० ४।४।

दूसरे स्थान पर आप्त का लक्षण—जो मनुष्य तप और ज्ञान के बल से रज और तम से मुक्त हो जाते हैं, उनका भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों कालों का ज्ञान सदा ही निर्मल और अव्याहत होता है। ऐसे व्यक्ति आप्त, शिष्ट, ज्ञानी होते हैं, उनका वचन निश्चित रूप से सत्य होता है। क्योंकि रज और तम से रहित व्यक्ति असत्य किस लिए कहेगा।[1]

प्रत्यक्ष—आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ का संयोग होने से तत्क्षण जो यथार्थ बुद्धि उत्पन्न होती है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।

अनुमान—प्रत्यक्षपूर्वक (चक्रपाणि के मत से व्याप्ति ग्रहणपूर्वक) तीन प्रकार का, तीनों कालों का (भूत, भविष्य और वर्त्तमान) अनुमान होता है। धूम को देखकर छिपी अग्नि का अनुमान (सामान्य अनुमान), गर्भ दर्शन से मैथुन का अनुमान (कार्य से कारण का अनुमान), बीज से न आये हुए फल का अनुमान)।[2]

युक्ति—जल, भूमिकर्षण, बीज और ऋतु के संयोग से अन्न की उत्पत्ति होती है।[3] पृथ्वी, अप् , तेज, वायु, आकाश और चेतना इन छः धातुओं के संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है। मथ्य-मन्थन, मन्थान के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती है। युक्ति में दृष्टान्त नहीं होता।

इन चार परीक्षाओं के सिवाय अन्य कोई कसौटी नहीं है, सत् और असत् की परीक्षा इसी से होती है, इससे पुनर्जन्म का अस्तित्व स्वीकार होता है।

आप्तों का शास्त्र वेद है। वेद के सिवाय अन्य भी जो कोई शास्त्र वेद से अविपरीत, परीक्षकों से बनाया, शिष्टजनों से अनुमत, लोक के अनुग्रह के लिए

---

१. चरक० सू० अ० ११। तुलना कीजिये—

"पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥" रघुवंश—८।७८।

२. 'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्'—सां० का० ५।

३. "प्रमाणान्तर मेवेदमित्याह चरको मुनिः। नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते॥
यस्मिन्सति भवत्येव न भवत्यसतीति च। तस्मादतो भवत्येतद् युक्तिरेषा भिधीरते॥"
दूसरा पक्ष—युक्ति का खण्डन—"कार्यकारणभावस्य प्रतिपत्तिर्नसंगता।
तस्मादस्यां न भेदोऽस्ति साध्य साधनयोर्यत॥"

प्रवृत्त है, वह भी आप्त ही है। आप्त शास्त्र से ज्ञात होता है कि तप, ज्ञान, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य ये स्वर्ग और मोक्ष को देने वाले हैं, जिन मनुष्यों के मानसिक दोष रज और तम दूर नहीं हुए, उनके लिए धर्मशास्त्र में पुनर्जन्म है।

प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि माता-पिता से न मिलने वाली संतान होती है। एक समान उत्पत्ति होने पर भी वर्ण, स्वर, आकृति, सत्व, बुद्धि और भाग्य में भेद रहता है। इस लोक में न किये कर्मफल की प्राप्ति, बिना सिखाये रोना, हँसना, स्तनपान, भय आदि की प्रवृत्ति, सामुद्रिक लक्षण, समान कर्म में फलभेद जातिस्मरण, मृत्यु के पीछे जन्म, समान आकृति वालों में प्रिय-अप्रिय विचार होता है।

इससे अनुमान होता है कि अपना किया कर्म अपरिहार्य होता है, अविनाशी है, पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का नाम दैव है, उसी का फल है, इस जन्म में किये हुए कर्म से भावी जन्मान्तर में फल होगा। फल से बीज का और बीज से फल का अनुमान होता है।

इसमें युक्ति भी है—छः धातुओं के समुदाय से गर्भ होता है। कर्ता, करण के संयोग से क्रिया होती है। किये हुए कर्म का फल होता है, न किये कर्म का फल नहीं होता। बिना बीज के अंकुर नहीं होता। कर्म के अनुसार फल होता है। एक बीज से दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

इस प्रकार चारों प्रमाणों से, धर्मशास्त्र से, सज्जनों से अनुमोदित, स्वर्ग के लिए जो उपयोगी कर्म है, उनको करना चाहिये। इन कर्मों के करने से यश मिलता है, मरने पर स्वर्ग होता है। यह परलोकैषणा है।

परलोकैषणा का अर्थ पुनर्जन्म है। पुनर्जन्म का आधार—धर्म-अधर्म है, जिनका सम्बन्ध आत्मा से है। सांख्यकारिका में भी धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य का सम्बन्ध पुरुष से बताया है (४४, ४५)। इनमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से मोक्ष होता है और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इनसे बन्धन होता है। चरक में इसे इस प्रकार कहा है :—

"रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्वबुद्ध्या निवर्त्तते ॥"—शा०अ० १।३६

अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म, भावों से आत्मा कभी भी अलग नहीं होता, कर्मों से, मन, बुद्धि तथा अहंकार के विकार दोषों से (रज और तम से) भी आत्मा कभी अलग नहीं होता। मन के साथ रज और तम जुड़े हुए हैं, जब तक ज्ञान नहीं होता तभी तक सब दोष हैं, देहान्तरगति, धर्म-अधर्म में, प्रवृत्ति में दोष (रज और तम) से युक्त मन और बलवान् कर्म ही कारण है।[१] इसी से मोक्ष में—

"मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयात् ।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥"—शा०अ० १।४२

रज और तम का नाश होने से, तथा बलवान कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष होता है। इसमें सब संयोगों से वियोग हो जाता है, यह अपुनर्भव है। जब तक मनुष्य का मोक्ष नहीं होता, वह जन्म-मरण के चक्कर में घूमता है; यही पुनर्जन्म है।[२]

चरक संहिता में अन्यवाद—चरक संहिता में पुनर्जन्म को न मानने वालों को नास्तिक कहा है। ये आत्मा को भी नहीं मानते। न कर्म, न कर्मफल; किसी को स्वीकार नहीं करते। धर्म-अधर्म इनके लिए कोई वस्तु नहीं। इस प्रकार के बहुत-से विचारक बुद्ध के समय में भी थे—जो कि आत्मा की सत्ता नहीं मानते थे। यथा—

(१) पूरण कश्यप के मत का नाम **अक्रियावाद** है; इनके मत में किसी भी क्रिया का फल कर्ता को नहीं भोगना पड़ता।

(२) अजित कम्बली के मत का नाम **उच्छेदवाद** है या जड़वाद। मृत्यु के पीछे चारों भूत (पृथ्वी, जल, वायु और तेज) अपने मूल रूपों में लीन हो जाते हैं (चरक संहिता में भी इस प्रकरण में चार ही भूतों का उल्लेख है—'भूतैश्चतुर्भिः' शा० अ० २।३१,३५)।

---

१. चरक० शा० अ० २।३७-३८।

२. गीता में—पुनर्जन्म की सत्ता कई स्थानों पर सिद्ध की है—अ० १६।२०, ४।५, "अनेकजन्मसंसिद्धि ततो याति परां गतिम् ॥"

(३) प्रकुध कात्यायन के मत का नाम **शाश्वतवाद** है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, सुख, दुःख और आत्मा ये सात पदार्थ अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ, अचल हैं। इनमें न उत्पत्ति होती है और न विनाश।

(४) संजयवेलट्ठिपुत्त—इनके मत को **अनिश्चिततावाद** कहते हैं। यह किसी भी विषय में न, हाँ कहते हैं और न, ना कहते हैं। स्याद्वाद की कल्पना का यही आधार है।

(५) मेखली गोशाल—इनके मत का नाम **नियतिवाद** है। प्राणियों के क्लेश का उदय बिना किसी हेतु या प्रत्यय के होता है और बिना किसी हेतु के ही वह शान्त हो जाता है, न कर्म है, न क्रिया है, न वीर्य है; भाग्य ही सब है।[1]

आत्मा को न मानने से ये इसी लोक को मानते हैं (अयं लोकोस्ति न नास्ति पर **इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते**—कठ० उप० २।६)। इसी से ये लोकायतिक कहलाये। इन लोकायतिकों का विचार भी चरक में आता है—

"पुरुष और रोग इन दोनों की उत्पत्ति जानने के लिए ऋषियों की परस्पर चर्चा चली। आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय इनकी राशि (मेलक) पुरुष कहाँ से उत्पन्न हुआ और रोग कहाँ से उत्पन्न हुए।"[2]

काशिपति वामक ने पूछा कि जिससे पुरुष उत्पन्न होता है, क्या उसी से रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर ऋषियों ने भिन्न-भिन्न रूप में देने का यत्न किया। यथा—

(१) पारीक्षिक मौद्गल्य ने कहा कि पुरुष आत्मा से उत्पन्न होता है, रोग भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं। वही कर्मों का संग्रह करता है और कर्मफल भोगता है, चेतना धातु के बिना सुख और दुःख की प्रवृत्ति नहीं होती।

(२) शरलोमा ने कहा कि यह नहीं, आत्मा स्वयं अपने-आपको रोगों से क्यों युक्त करेगा, वह तो दुःख से द्वेष करने वाला है। इसका कारण रज और तम से युक्त मन ही है, मन ही शरीर और रोगों की उत्पत्ति में कारण है।

---

१. भारतीय दर्शन : श्री बलदेव उपाध्याय, पंचम संस्करण।

२. यह प्रश्न प्रश्नोपनिषद् में भी है—"अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन्कुतो ह वै इमाः प्रजा प्रजायन्ते।"—प्रश्नो० १।

(३) वार्योविद् ने कहा—अकेला मन ही कारण नहीं, शरीर के बिना शारीरिक रोग नहीं हो सकते, मन भी शरीर के बिना नहीं रह सकता। भूत रसजन्य हैं, रोग भी रसजन्य हैं, जल ही रसवान् है, वही रसों को पैदा करने में कारण है।

(४) हिरण्याक्ष ने कहा—आत्मा रसजन्य नहीं है, अतीन्द्रिय मन; शब्दादिजन्य रोग भी रसजन्य नहीं। पुरुष छः धातुओं के संयोग से उत्पन्न होता है, रोग भी छः धातुजन्य हैं, आदि सांख्यों ने इन छह धातुओं के संयोग को (मेलको) राशि कहा है (छः धातु—पृथ्वी, जल, अग्नि-वायु, आकाश और चेतना—शा० अ० १।१६)। यहाँ पर चक्रपाणि ने चेतना शब्द से चेतना का आधार मन सहित आत्मा किया है।

(५) कौशिक ने कहा—माता-पिता के बिना किस प्रकार से छः धातु हो सकते हैं। पुरुष पुरुष से उत्पन्न होता है, गौ-गौ से, घोड़ा-घोड़े से उत्पन्न होता है। पिता से प्रमेह आदि रोग होते हैं, इसलिए माता-पिता कारण हैं।[१]

(६) भद्रकाप्य ने कहा—ऐसी बात नहीं, अन्धे माता-पिता से अन्धा बच्चा उत्पन्न नहीं होता। तुम्हारे विचार से माता-पिता की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य कर्मजन्य है, रोग भी कर्मजन्य हैं।[२]

(७) भरद्वाज ने कहा—कर्मों से पूर्व कर्त्ता है, ऐसा कोई भी अकृत कर्म नहीं देखा, जिसका फल पुरुष हो। इसलिए स्वभाव ही इनके होने में कारण है। पृथ्वी में खरत्व, वायु का चलत्व, अग्नि का उष्णत्व स्वभाव से ही है (खर द्रव जलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्—शा० अ० १)।

(८) कांकायन ने कहा कि यदि स्वभाव ही रोग और शरीर की उत्पत्ति में कारण है तो याग, कृषि, अध्ययन आदि सब कार्य निष्प्रयोजन हो जाते हैं। इसलिए संसार का कर्त्ता प्रजापति है।[३]

---

१. चरक० शा० अ० ३।१६, १७।

२. चरक० शा० अ० १।११७।

३. कबन्धी कात्यायन के प्रश्न का यही उत्तर उपनिषद् में मिलता है—
"तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत सतपस्तप्त्वास मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति"—प्रश्नोपनिषद्—४।

(९) भिक्षु आत्रेय ने कहा—ऐसा नहीं। प्रजा हितैषी प्रजापति असाधु व्यक्ति के समान दुःखों से अपनी सन्तान को क्यों पीड़ित करेगा। काल ही सबका कारण है—पुरुष भी कालजन्य है, रोग भी कालजन्य हैं।

(१०) पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—जिन भावों की सम्पत् (प्रशस्तगुणता) पुरुष को उत्पन्न करती है, उन्हीं भावों की असम्पत् (अप्रशस्तगुणता) रोगों को उत्पन्न करती है (यही सिद्धान्त पक्ष है)।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इन सब विचारों का एक साथ उल्लेख किया है—
"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख दुःख हेतोः॥"—श्वेता० १।२

× × ×

"स्वभावमेके कवयोवदन्ति कालं तथान्ये परि मुह्यमानः"—श्वेता० ६।१

अश्वघोष ने भी इन विचारों को लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक इनका विचार था—
"प्रवृत्ति दुःखस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तम्।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्नकालो नापिस्वभावो न विधिर्यदृच्छा॥"—सौन्दर० १६।१७

सुश्रुत में भी इन विचारों को लिखा है—

"स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परीणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥"— शा०अ० १।११

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जी ने अपने ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवद्गीता रहस्य' अथवा 'कर्मयोग शास्त्र' में ईश्वर कृष्ण की ७० वीं आर्या जो दी है, वह बहुत अंशों में श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा सुश्रुत के वचन से मिलती है—

"कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभाव वा।
प्रजा कथं निर्गुण तो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥"

लोकमान्य का कहना है कि 'ईश्वर कृष्ण ने उपर्युक्त आर्या को वर्त्तमान ६१ वीं आर्या के बाद सिर्फ यह बतलाने के लिए रखा है कि ये तीनों मूल कारण (अर्थात् स्वभाव, काल और ईश्वर) सांख्यवादियों को मान्य नहीं है—पृ० १६३ की टिप्पणी (सातवाँ प्रकरण)।

पुरुष की उत्पत्ति में जिन भावों की प्रशस्ता का उल्लेख किया है, उन भावों का स्पष्टीकरण शारीरस्थान में किया है। यथा—

"समुदयादेषांभावानाम्- मातृजाश्चयं गर्भः, पितृजश्चात्मजश्च, सात्म्यजश्च रसजश्च, अस्ति च खलुसत्वमौपपादुकमितिहोवाच भगवानात्रेयः।"

भरद्वाज ने इस पर विप्रतिपत्ति की और कहा कि ये सब गर्भ के बनने में कारण नहीं, उसने इनको पृथक्-पृथक् कारण मानकर आपत्ति की है। इस पर पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—इन सब भावों के समूह से—समुदाय से गर्भ बनता है, अलग-अलग नहीं। जिस प्रकार कि नाना अंगों के जुड़ने से रथ बनता है, किसी एक अंग को रथ नहीं कहते, समुदाय को रथ कहते हैं (यही उदाहरण नागसेन ने मिलिन्द के लिए दिया था—देखिये टिप्पणी—पृ० १७६ पर)।

इस विषय में फिर भरद्वाज ने प्रश्न किया कि समुदाय से गर्भ बनता है, तो यह कैसे मनुष्य विग्रह को धारण कर लेता है, और अन्धे माता-पिता से आँखों वाली सन्तान या आँखो वाले माता-पिता से अन्धी सन्तान क्यों हो जाती है। इन सब बातों का पुनर्वसु ने विस्तार से उत्तर दिया, जो उत्तर दिया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

"यस्य यस्य ह्यगांवयवस्य बीजे बीजभागः उपतप्तो भवति, तस्य तस्यांगवयवस्य विकृतिरूपजायते, नोपजायते चानुपतापाल्, तस्मादुभयोपपत्तिरप्यत्र"— शा० अ० ३।१७।

अंग के जिस-जिस अवयव के बीज में बीज भाग दूषित होता है, उस-उस अंग के अवयव में विकृति हो जाती है, दूषित न होने से विकृति नहीं होती, इसलिए दोनों बातें मिलती हैं। जिस प्रकार से स्वर्ण, चाँदी आदि पिघलाकर जिस साँचे में ढाले जाते हैं, उसी-उसी विग्रह के हो जाते हैं, उसी प्रकार जरायुज, अण्डज, योनियों के गर्भ निर्माण करने वाले भाव जिस-जिस साँचे में—योनि में आते हैं, वे उसी-उसी रूप के हो जाते हैं।

इस प्रकार से पुरुष की उत्पत्ति में और रोग की उत्पत्ति में भावों की प्रशस्ता एवं अप्रशस्ता ही कारण है।

इसमें कर्म, कर्मफल, धर्म, अधर्म, माता-पिता—सब भावों का समावेश हो जाता है।

कालमृत्यु-अकालमृत्यु विचार—चरक संहिता में दोनों प्रकार की मृत्यु पर विचार किया गया है। जिस प्रकार कि काल-ऋतु में पुष्प होता है और असमय में—बिना ऋतु में भी पुष्प होता है, उसी प्रकार मृत्यु भी काल और अकाल दोनों समय में होती है। जो मनुष्य जब मर जाता है, वह काल में ही मरता है; जब मरता है, वही उसका काल है।

परन्तु जिस प्रकार एक गाड़ी उचित भार रखकर ठीक रास्ते से चलाई जाय तो वह समय पर टूटती है, इसी प्रकार जो मृत्यु अपने ठीक समय पर—नियमपूर्वक जीवन-यापन करने से होती है, वह कालमृत्यु है। जब वही गाड़ी अधिक भार भरकर ऊँचे-नीचे रास्ते से ले जाने के कारण टूट जाती है, तब वह असमय में भंग होता है। इसी प्रकार जब जीवन अहितकारी आहार-विहार से समय से पूर्व नष्ट होती है, तब वह अकालमृत्यु है। और वास्तव में जो भी मनुष्य मरता है, वह काल में ही मरता है। काल निरवयव है, उसमें कोई भी अवकाश या व्यवधान-छेद नहीं है। इसलिए अकाल मृत्यु नहीं है।

आपत्ति—यदि कालमृत्यु निश्चित है, तब हित-अहित का उपदेश, अयुष्य अनायुष्य कर्म, यज्ञ, दान आदि कर्म सबका उपदेश व्यर्थ हो जाय, उद्भ्रान्त-चण्ड, चपल, गाय, गज, ऊँट आदि से कोई न बचे, पहाड़ की चोटी, जल-प्रपात में गिरने का भय न रहें, राजा के कोप का भय भी न रहे। मृत्यु के निश्चित होने पर अकालमृत्यु का भय, मृत्यु-निवारण के उपाय सब व्यर्थ हो जाँय। महर्षियों के रसायनाधिकार में कहे आयुवर्धक उपाय-रसायन व्यर्थ हो जाय। इन्द्र भी नियत आयु वाले को वज्र से नहीं मार सके, तप द्वारा इच्छित आयु प्राप्त न की जा सके। युद्ध में हम देखते हैं गिरकर कुछ व्यक्ति जीवित होने पर फिर युद्ध में लग जाते हैं, और जो मर जाते हैं, वे युद्ध में प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार रोग उत्पन्न होते ही उनका प्रतिकार करने से स्वस्थ होना और रोगों का प्रतिकार न करने से मृत्यु देखते हैं। पानी में काम आने वाले घड़ों की और चित्रित घड़ों की (जिनको कि केवल शोभा के लिए ही रखा जाता है) आयु में भेद रहता है। चित्रित घड़े सम्भालकर रखने से देर तक

सुरक्षित रहते हैं और पानी के काम में आने वाले घट घिसने से टूटते हैं। इस प्रकार से दोनों प्रकार की मृत्यु देखने में आती है।

जिस प्रकार से भारयुक्त गाड़ी ठीक प्रकार रखने से समय पर नष्ट होती है, उसी प्रकार शरीर के बलानुसार कार्य करने पर जो मृत्यु होती है, वह कालमृत्यु है। जिस प्रकार अधिक भार ले जाने से गाड़ी असमय में टूटती है, उसी प्रकार से अधिक कार्य करने से—अनियमित आहार-विहार से जो मृत्यु होती है, वह अकालमृत्यु है[1]। 'काल' शब्द का अर्थ आयु का प्रमाण है। जो जिस समय मरता है, वह उसका मृत्युकाल है। इससे सब भाव नियतकाल पर होने वाले हैं, यह ठीक नहीं। क्योंकि हम देखते हैं कि जो अकाल में आहार करते हैं, असमय में वचन बोलते हैं, अकरणीय काम करते हैं, उनका बुरा फल होता है। ऐसा न करने पर अच्छा फल होता है, इसलिए कालमृत्यु और अकालमृत्यु दोनों ही हैं। वह केवल अवस्था एवं अर्थभेद से ही हैं। इस रोग का यह समय हैं, इसमें औषधि से प्रतिकार करना चाहिये, अथवा यह रोग का समय नहीं। लोक में भी देखते हैं, बादल समय पर बरसते हैं, असमय में भी बरसते हैं, समय में ठण्ड पड़ती है और असमय में भी ठण्ड होती है[2]। इसलिए दोनों ही हैं—कालमृत्यु भी है और अकालमृत्यु भी है। यदि अकालमृत्यु न हो तो आयु का प्रमाण निश्चित हो तो हित-अहित का ज्ञान व्यर्थ हो जाय, प्रत्यक्ष अनुमान-उपदेश सब व्यर्थ हो जाँय, जिनको कि सब शास्त्रों ने माना है। इसलिए अकाल में मृत्यु नहीं, यह केवल बकवाद ही है (**वाग्वस्तुमात्रमेतद्वाद-मृषयोमन्यन्ते नाकालेमृत्युरस्तीति—शा० अ० ६।२८**)।

उपसंहार—चरक संहिता में आये दार्शनिक विचार उपनिषदों की कड़ी से मेल खाते हैं। आत्मा, पुनर्जन्म का विचार उसी रूप में मिलता है। पुनर्जन्म, आत्मा के विषय में संशय जिस प्रकार उपनिषदों में मिलता है, उसी भाँति

---

१. (क). रामायण में भी पढ़ते हैं—"सत्यंवतेदं प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीतिसन्तः।"
—वा० रा० ५।१८।३।

(ख) ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते—वा० रा० २।२०।५१

२. आज से १५-२० वर्ष पूर्व मूली शीतकाल में ही होती थी, अब मूली गर्मियों में भी मिलती है।

चरक में भी है। ईश्वर का नाम दोनों में नहीं, ईश्वर की सत्ता की जरूरत उस समय नहीं थी, उस समय धर्म-अधर्म का विचार ही मुख्य था, अच्छे कर्म करने से स्वर्ग मिलता है, बुरे कर्मों के करने से नरक होता है। स्वर्ग, नरक का विचार चरक के समय में भी था।[1] परन्तु स्वर्ग और नरक को देने वाला ईश्वर न मानकर—कर्मों को कारण माना गया था। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से था—आत्मा स्वतन्त्र माना है।

(२) सांख्यों के प्रति चरक संहिता में सर्वत्र मान दिखाया गया है। चरक का यह वचन ध्यान देने योग्य है—

"यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यज्ञानं प्रकाशकम्"—वि० अ० ८।३४

जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, उसी प्रकार से सांख्य ज्ञान प्रकाशक है। आत्रेय को बहुत स्थानों पर सांख्य का नाम लेते हुए देखते हैं। यथा—

"संख्यातधर्मैश्च सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्"—शा० अ० १।१५१।

× × ×

"सांख्यैराद्यैः प्रकीर्त्तितः"—सू० अ० २५।१५।

× × ×

"सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्"—सूत्र० अ० १३।३।

(३) चरक के समय आदि सांख्यों का सिद्धान्त (चौबीस तत्त्वों का) स्वीकार किया जाता था, इनमें पुरुष और प्रधान दोनों अव्यक्त होने से एक थे।

(४) चरक संहिता में 'तन्मात्र' शब्द नहीं है, तन्मात्र शब्द का उद्भव पीछे से हुआ है। चरक में तन्मात्र के लिए सूक्ष्म शब्द ही आया है।

(५) सांख्यकारिका में इन्द्रियों को सात्विक अहंकार से उत्पन्न माना है, परन्तु चरक संहिता में इन्द्रियों को भौतिक कहा है।[2]

(६) बौद्धों के क्षणिकवाद तथा संघातवाद (संभूतकरणैः कृतम्), अनात्मवाद का खण्डन इसमें मिलता है, यद्यपि इनका नाम निर्देश नहीं। अहेतुक विनाश को 'केचित्' शब्द से कहा है, जो कि बौद्धों का दिग्दर्शन कराता है।

(७) न्याय दर्शन सम्मत पदार्थों का मूल चरक संहिता ही है, इसमें वाद

---

१. 'प्रेत्य च स्वर्गं'—सू० अ० ११।३३ तथा 'नरोनरकपातीस्यात्'—सू० अ० १।१३०।

२. चरक० शा० अ० १।२४, चक्रपाणि की व्याख्या।

नियम (मर्यादा) बताते हुए इन पदार्थों का विचार किया है। इनमें कुछ का तो नाम परिवर्त्तन है और कुछ नये हैं, और कुछ के लक्षणों में भेद है।

(८) वैशेषिक दर्शन सम्मत द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छः पदार्थों का उल्लेख किया है, अभाव को स्वीकार नहीं किया। वैशेषिक का आत्मा का लक्षण चरक संहिता के पुरुष के लक्षण की भाँति ही है।

(९) योगदर्शन—यह सांख्य के साथ जुड़ा है, इसमें ईश्वर की नई कल्पना है। योग के लिए प्रयुक्त 'सांख्य प्रवचन' शब्द इस बात का साक्षी है कि सांख्य और योग एक ही वस्तु को प्रतिपादित करते हैं। योग सांख्य का पूरक है, सांख्य मोक्ष ज्ञान को बताता है, योग मोक्ष में प्रवृत्त करता है ('योगो मोक्ष प्रवर्त्तकः')। योग—कर्मयोग है, और सांख्य—ज्ञानयोग है। इन दोनों की योग्यता गीता में प्रतिपादित है ("एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सपश्यति"–गीता)।

(१०) आस्तिक-नास्तिक शब्दों का विचार पुनर्जन्म मानने या न मानने वालों से था। पुनर्जन्म न मानने वाले नास्तिक थे। नास्तिक होना सबसे बड़ा पातक है। त्याज्य वस्तुओं में नास्तिक होना कहा है ('नास्तिकं वर्ज्यानाम्'–सू० अ० २५।४०)।

(११) चरक संहिता के समय भी पुरुष की उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न विचार थे (जिस प्रकार से उपनिषदों में पुरुष, सृष्टि का विचार हुआ है)। इनमें जो विचार उस समय प्रधान थे, उनका दिग्दर्शन ऋषियों की विचार-चर्चा में मिल जाता है।

(१२) जिस प्रकार उपनिषदों के समय में परस्पर मिलकर ऋषि लोग विचार करते थे, उसी प्रकार चरक के समय में भी ऋषि लोग किसी विषय पर विचार करते थे। प्रश्न उपनिषद् में इसी प्रकार ऋषियों का परस्पर विचार-विमर्श मिलता है। चरक संहिता में भी रोग और पुरुष की उत्पत्ति, रस-विचार—इसी प्रकार परस्पर विचार विनिमय से किया गया है।

सातवाँ अध्याय

धार्मिक जीवन

[धार्मिक विश्वास, आचरण, मिथ्याविश्वास, ज्यौतिष, एवं स्वप्न-सम्बन्धी विचार ।]

चरक संहिता में आत्मा, परलोक, कर्म, कर्मफल को स्वीकार किया है। इसलिए दैव को भी स्वीकार करना पड़ा है। दैव का अर्थ पूर्वजन्म में किये कर्मों से है ('दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत्'—शा० अ० २।४४)। इस जन्म में किये हुए कर्म को पौरुष कहा है। कर्मों से भी रोग होते हैं तथा अन्य कारणों से जो कि प्रज्ञापराध के कारण होते हैं, उनसे भी रोग होते हैं। यथा—

"वचांस्य तथ्यानि कृतघ्न भावो
निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म-
हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् ॥"—चि० अ० ७।१७८

झूठ बोलना, कृतघ्नता, देवताओं की निन्दा, गुरुओं की निन्दा, पापकर्म, पूर्वजन्म का किया अधर्म, विरोधी खान-पान ये किलास रोग के कारण हैं। इसी प्रकार से धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ कर्मों का कारण प्रज्ञा ही है, प्रज्ञा के दोष से मनुष्य अशुभ कार्यों को करता है। अशुभ कार्य करने से देवता, पितर, ऋषि, आचार्य आदि मनुष्य को शाप देकर रोग उत्पन्न कर देते हैं (जिस प्रकार कि ब्रह्मा प्रजापति के शाप से चन्द्रमा को राजयक्ष्मा हुआ था (चि० अ० ८।३-१०)।

चरक संहिता में यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति, अतिसार की उत्पत्ति और ज्वर की उत्पत्ति में एक-एक कथा दी है। इन कथाओं से स्पष्ट है कि शाप से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ये प्रज्ञापराध के ही कारण होते हैं। ये कथायें अलंकारिक रूप में हैं। यथा—

राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति में कहा है कि प्रजापति की अट्ठाईस कन्यायें थीं। प्रजापति ने इनका विवाह चन्द्रमा से कर दिया था। चन्द्रमा ने सब कन्याओं के साथ में समान बर्ताव नहीं किया। उसने रोहिणी पर अधिक आसक्ति दिखाई।[१] दूसरी कन्याओं ने यह शिकायत प्रजापति से की। प्रजापति ने शाप देकर उसमें राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न कर दिया। इससे चन्द्रमा क्षीण हो गया, उसका तेज और बल नष्ट हो गया; वह दीन बन गया। वह प्रजापति के पास गया। प्रजापति ने उस की शुद्ध बुद्धि जानकर—अश्विनी से उसकी चिकित्सा करवाई, इससे वह पुनः पूर्व की भाँति तेजस्वी हो गया।

यह एक अलंकारिक कथा है। प्रजापति की अट्ठाईस कन्यायें अट्ठाईस नक्षत्र हैं, चन्द्रमा का प्रत्येक नक्षत्र के साथ योग होता है ('नक्षत्रेण योगमुपगते भगवतिशशिनि'—वि० अ० ८।९)। इनमें रोहिणी के साथ दूसरे नक्षत्रों से कुछ अधिक समय योग रहता है, यही इसकी अधिक आसक्ति है। स्त्री के साथ अधिक आसक्ति करने से राजयक्ष्मा होता है, यह इस कथा का मूल अर्थ है। ठीक उपचार करने पर रोग नष्ट भी हो जाता है और रोगी को पुनः बल और ओज प्राप्त हो जाता है।[२]

अतिसार की कथा में गायों के वध की कथा का उल्लेख है। पृषध्र के यज्ञ में जब पशुओं का मिलना असम्भव हो गया, तब गायों का वध प्रारम्भ हुआ। इससे सब भूतगण भयभीत हो गये और वे बहुत दुःखी हुए। गायों के मांस से उस समय अतिसार उत्पन्न हुआ, क्योंकि गाय का मांस असात्म्य, उष्ण, भारी और अप्रशस्त है[३]।

ज्वर की उत्पत्ति दक्ष के यज्ञ के समय महादेव के क्रोध से उत्पन्न हुई थी। क्रोध के अग्नि रूप होनेसे ज्वर में भी उष्णिमा रहती है ('ज्वरोनास्ति उष्मणा विना')। दोनों में यही समानता है।

---

१. (क) "एष रोहिणी संयोगेनाधिकं शोभते भगवान् शशलाञ्छनः॥"—मालविका, अंक ३।
(ख) "उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्"—अभि० ७।२२।

२. चरक० चि० अ० ८।३-११ तथा अथर्व १९।७-८ में भी यही कथा है।

३. चरक० चि० अ० १९।४।

इसी प्रकार हविप्राशनसे प्रमेह और कुष्ठ, भय-शोक-त्रास से उन्माद, नाना प्रकारकी अपवित्रता के स्पर्श से अपस्मार, दक्ष के यज्ञ के विध्वंस के समय प्राणियों में नाना दिशाओं में भागने से, तैरने से, कूदने, लाँघने आदि क्रियाओं से शरीर का विक्षोभ होने पर गुल्म रोग की उत्पत्ति हुई थी। ज्वर के संताप से रक्तपित उत्पन्न हुआ, अधिक स्त्री सेवन से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति हुई थी।[१] विष की उत्पत्ति में समुद्र-मन्थन की कथा दी हुई है—जो कि पुराणों में प्रसिद्ध है (चि० अ० २३)। इस प्रकार से चरक संहिता में तीन प्रकार की कथायें मिलती हैं—

(१) शुद्ध वैदिक कथायें—धर्म, अधर्म, का विचार।
(२) पौराणिक विचार—शिव, विष्णु, मातृगण, गंगा की पूजा।
(३) मिथ्या विश्वास—राक्षस, भूत, पिशाच आदि का विचार।

जिस प्रकार से महाभारत में पीछे से बहुत-से उपाख्यान जोड़े गये, जिससे कि वास्तविक बात बुद्धिगम्य और सरल हो गई, उसी प्रकार से रोग के कारणों को स्पष्ट करने के लिए ये कथायें हैं। कथायें केवल चरक संहिता में ही मिलती हैं, सुश्रुत आदि दूसरे ग्रन्थों में नहीं है। क्रोध से ज्वर, संताप से रक्तपित, हवि-प्राशन से प्रमेह, अधिक स्त्री सेवन से राजयक्ष्मा, कूदने-लाँघने से गुल्म, भय-त्राश-शोक से उन्माद रोग की उत्पत्ति बताई है।

ये कथायें आत्रेय ने अग्निवेश को कहीं, अथवा प्रतिसंस्कर्ता चरक की देन है, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं और न इस विषय में निश्चय से कहा जा सकता है। उपलब्ध भेल संहिता में ये कथायें नहीं हैं। इसलिए अनुमान होता है कि प्रतिसंस्कर्ता की देन है।

शिव के कोप से ज्वर की उत्पत्ति बताई है, ज्वर की शान्ति के लिए शिव की उमा के साथ उपासना कही है। भेल संहिता में भी रुद्र और वृषभध्वज नाम आते हैं, ज्वर की शान्ति के लिए वृषभध्वज की पूजा लिखी है, राजयक्ष्मा रोग

१. चरक० नि० अ० ८।११।

में भी वृषभध्वज की पूजा बताई है।[1] चरक में रुद्र के प्रथम गण को नमस्कार करने के लिए कहा है—

दैनिक विचार भी रोग शान्ति के लिए थे। यथा, होमविधि—

(१) सूतिकागार में अथर्ववेदवित् ब्राह्मण निरन्तर दोनों समय (प्रातः-सायं) कुमार और सूतिका की मंगल कामना में शान्तिवाचन से होम करें (शा० अ० १०।८)।

(२) ब्रह्मचर्य से, तप से, सत्य से, नियम से, जप, होम करने से और वेदों के सुनने से, साधुओं के दर्शन से रोगी ज्वर से शीघ्र मुक्त हो जाता है (चि० अ० ३।३१४)।

(३) राजयक्ष्मा रोग की शान्ति के लिए वेदविहित यज्ञ को आरोग्य की चाह से करे (चि० अ० ८।१८९)।

पौराणिक विचार—रोग शान्ति के लिये पौराणिक विचार—शिव, विष्णु की उपासना, गंगा, हिमालय अग्नि की पूजा भी बताई है—

(१) भूतों के अधिपति, जगत् के स्वामी, देव, ईश्वर की पूजा करने से उन्माद से शीघ्र मुक्त हो जाता है (चि० अ० ९।९१)। इसी प्रकार उमा, अनुचर, मातृगण के साथ ईश्वर, देव, शिव की पूजा करने से रोगी ज्वर से शीघ्र मुक्त हो जाता है (चि० अ० ३।३१०)।

(२) सहस्त्र शिर वाले विष्णु की (तुलना कीजिये—'सहस्त्रशीर्षाः पुरुषः सहस्त्राक्षः' आदि मंत्र से) सहस्त्र नामों से (विष्णु सहस्त्र नाम से) पूजा करने पर मनुष्य ज्वर से मुक्त हो जाता है (चि० अ० ३।३११)।

(३) हिमालय, गंगा, मरुद्गण की पूजा से ज्वर नष्ट होता है (चि० अ० ३।३१३)।

मिथ्या विश्वास—रोग शान्ति के लिए कुछ विश्वास भी बन गये थे। यथा—

---

१. "इष्टयो वेद विहिता नाशना राजयक्ष्मणः।
तांश्च नित्यं निषेवेत पूज्येद् वृषभध्वजम्॥"—भेल० पृ० १३४।
(क) "तस्माज्ज्वर विमोक्षार्थं पूज्येद् वृषभध्वजम्"—भेल पृ० १२०।
(ख) "रुद्रभक्तेन शुचिना वैद्येनाथ तपस्विना"—भेल० १२०।

(१) राक्षस, भूत, पिशाच आदि जन्य उन्मादों की शान्ति के लिए—मंत्र, औषधि, मणि, मंगलकर्म, बलिकर्म, उपहार, होम, नियम, व्रत, प्रायश्चित्, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात आदि करना उपाय हैं (नि० अ० ७।१६)।

(२) सूतिकागार में रक्षाविधि—घर के चारों ओर सरसों का बिखेरना, अलसी, तण्डुल कण को डालना, दरवाजों पर तथा किवाड़ों पर—वच, कूठ, लशुन, हींग, सरसों की पोटली लटकाना (शा० अ० ८। ४७)।[1]

(३) बच्चे के गले में नाना प्रकार की मणियाँ (किमती पत्थरों से बनी गुरियाँ) पहनाना, रुरु, गवय, गेंडे के सींग का अग्रभाग बाँधना आदि विश्वास थे (शा० अ० ८।६२)।

(४) रुद्र के प्रथम नाम गण जो लोक में चरते हैं, उनकी पूजा करने पर उन्माद से मुक्त हो जाता है (चि० अ० ९।९१)।

राक्षस, भूत, पूतना आदि नाम प्रचलित हो गये थे। इनके प्रति कुछ विश्वास भी बन गया था। कई बार गर्भस्थिति के बिना अन्य कारणों से जब ऋतु दर्शन नहीं होता था, तब स्त्री अपने को गर्भवती मान लेती थी। परन्तु पीछे गरम आहार से तथा अन्य कारणों से जब ऋतु दर्शन होता था, तब यह समझ लिया जाता था कि गर्भ को राक्षस लोग चुरा ले गये, यद्यपि यह विचार अनपढ़ों में था। जिन राक्षसों का भोजन मांस ही है, वे आहार के लिए यदि बच्चे के शरीर को ले जा सकते हैं, तब समय पड़ने पर माता को क्यों नहीं ले जाते; इसलिए यह ठीक नहीं।[2]

राक्षस, गन्धर्व, असुर, यक्ष आदि योनियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इनके कारण से उन्माद रोग उत्पन्न माना है। इनको प्रसन्न करने के लिए हिंसा, रति, पूजा उपचार बताये हैं। भूतों के उन्माद उत्पन्न करने के ये ही तीन प्रयोजन हैं। साथ ही यह भी मान्यता थी कि देवता, गन्धर्व, पिशाच या राक्षस स्वयं कभी भी मनुष्य को पीड़ित नहीं करते, मनुष्य अपने

---

१. कादम्बरी में बाण ने भी सरसों बिखेरने का उल्लेख किया है—'इतस्ततो विप्रकीर्ण गौर सर्षपम्'—कादम्बरी। विक्रमांकदेवचरितम् में भी सरसों बिखेरना लिखा है—२।

२. चरक० शा० अ० २।८-१०।

ही कर्मों से दुःखी होता है। जो स्वयं अपने ही कर्मों से पीड़ित है, उसे अधिक दुःखित करने से क्या लाभ। इसलिए इनको दोष नहीं देना चाहिये।[१]

औषध सिद्ध होने पर भी वृषभध्वज की पूजा का विधान है। वृष्यतम स्नेहों के सिद्ध होने पर ब्रह्म घोष, शंख, पटह, भेरी को बजाकर, सिद्ध स्नेह पर श्वेत छत्र से छाया करके हाथी के ऊपर रखकर भगवान् वृषभध्वज की पूजा करे।[२]

अन्य देवता—इसके सिवाय और भी देवताओं के नाम हैं। यथा—जया, विजय, विष्णु, कृष्ण, वासुदेव, यम, ब्रह्मा, इन्द्र, वृषाकपि नाम चरक में आते हैं। इसी प्रसंग में हिलिमिल शब्द भी आता है, जो अवैदिक मन्त्र है।[३]

पाषण्डायतन (चि० अ० २३।१६०) शब्द चरक में एक स्थान पर आता है। चक्रपाणि ने इसका अर्थ कापालिक आदि किया है। कापालिक आदि के स्थानों पर साँप से कटा व्यक्ति असाध्य होता है। इस अध्याय के समय पाषण्डी (पाखण्डी) लोग थे, उस समय यह शब्द प्रचलित हो गया था।

तन्त्र प्रयोग—मन्त्र की भाँति तन्त्र प्रयोग भी उस समय प्रचलित था। मन्त्र का सम्बन्ध पवित्रता, सत्य, ब्रह्मचर्य से है; तन्त्र का प्रयोग इसके विपरीत अशुचि, स्त्री सम्पर्क आदि से है। तन्त्र प्रयोग के ठीक न होने से भी उन्माद रोग उत्पन्न हो जाता है (चक्रपाणि ने तन्त्र का अर्थ यहाँ पर शरीर किया है, और इसी के अनुसार सद्वृत्त का ठीक पालन न करने से उन्माद होता है, यह अर्थ किया है—नि० अ० ७।४)।

परन्तु अभिचारजन्य ज्वर माना है, इसलिए तन्त्र का अर्थ सामान्यतः प्रचलित तन्त्र ही लेना उचित है। हिंसा या अन्य उद्देश्य से प्रयुक्त तन्त्र प्रयोग के ठीक प्रकार न करने से भी उन्माद रोग होता है। इस प्रकार से चरक-संहिता में वैदिक, पौराणिक और अन्ध विश्वास मिलते हैं। वैदिक विचार सम्भवतः आत्रेय की देन हों, पौराणिक विचार और अन्ध-विश्वास चरक और प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल दोनों के विचार हों।

---

१. चरक० नि० अ० ७, १६, २२-२४।

२. चरक० सि० अ० १३।१९ (१)

३. चरक० चि० अ० २३।९१-९४।

मणियों आदि का धारण—बच्चे के गले में नाना प्रकार की मणियाँ (पत्थर, गुरियाँ), गेंडा, बैल आदि के कान का अग्र भाग, औषधियाँ आदि पहनाई जाती थीं (शा० अ० ८)। यही पीछे तावीज (रक्षाकरण्ड) के नाम से चलने लगे।

ज्योतिष सम्बन्धी विचार—चरक के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय कोई भी मंगल कार्य प्रारम्भ करने में ज्योतिष-सम्बन्धी विचार, तिथि, नक्षत्र आदि का विचार किया जाता था। औषध प्रारम्भ करने में भी प्रशस्त मुहूर्त्त देखा जाता था। यथा—

(१) अच्छे नक्षत्र, तिथि, करण, मुहूर्त्त में ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके, उनसे आशीर्वाद लेकर अभिमन्त्रित औषध पिये (सू० अ० १५।९)। इसपर चक्रपाणि ने लिखा है कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार भैषज्य प्रारम्भ करने के लिए पुष्य, हस्त, ज्येष्ठा, रोहिणी, श्रवणा, अश्विनी और स्वाति—ये नक्षत्र सौम्य हैं। इनमें औषध करे, शेष में छोड़ दे।

(२) अध्ययनार्थि शिष्य को दीक्षा देने के लिए उत्तरायण के शुक्ल पक्ष में अच्छे दिन में, तिष्य, हस्त, श्रवणा, अश्विनी—इनमें से किसी नक्षत्र के साथ भगवान् चन्द्रमा का योग होने पर कल्याणकारी करण में, अनुकूल मुहुर्त्त में—शिष्य का शिर का मुँडवा कर दीक्षा दे (वि० अ० ८।९)।

(३) इसी प्रकार सूतिकागार में प्रवेश करने के समय में भी प्रशस्त नक्षत्र, मुहूर्त्त, करण का विचार किया गया है (शा० अ० ९।३५)।

(४) पक्ष सन्धि, आधी रात, अष्टमी में साँप का काटा रोगी स्वस्थ नहीं होता (चि० अ० २३।१५९)।

इन सब स्थानों में तथा अन्य स्थानों में भी तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र और योग इन पाँच का ही उल्लेख है, वारों का विचार नहीं; न उनका नाम है। पंचांग से उस समय इन पाँच की ही गणना थी।[१] इनमें—

तिथि—चन्द्रमा की तिथियाँ ली जाती थीं।

---

१. कालिदास के ग्रन्थों में भी इन्हीं का उल्लेख है, वार—दिनों का नहीं—

"मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गता सूत्तरफाल्गुनीषु।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो या पतिपुत्रवत्यः॥"—कुमार० ७।६।

करण—इससे अभिप्राय आधी तिथि बीतने के समय से है। करण ग्यारह होते हैं, यथा–बव, बालक, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टी (इसको भद्रा भी कहते हैं), शकुनि, चतुष्पाद, नाग, किंस्तुघ्न। इनमें प्रथम सात करण चर कहलाते हैं, और अन्त के चार करण स्थिर हैं।

मुहूर्त्त—क्षण।

नक्षत्र—अट्ठाईस हैं–कृत्तिका, अश्विनी, भरणी, रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषज, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अभिजित्।

योग—अश्विनी आदि नक्षत्र से चन्द्रमा और सूर्य जितनी दूरी पर हो, उन दूरियों को लिखकर जोड़े और फिर १३$\frac{१}{३}$ से भाग दे। जितनी लब्धि आयेगी, उतने योग उस समय व्यतीत हो चुके होंगे। आगे आने वाला योग वर्त्तमान है।[१]

इन पाँच का ही उस समय प्रचलन था, वारों का विचार नहीं था। भारतवर्ष में वार गणना शक संवत् से एक हजार वर्ष प्रारम्भ हुई, ऐसा श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित का विचार है।[२] पिछले ग्रन्थों में दिन का विचार है, 'न वैद्यो बुध सोमयोः'—बुध और सोम के दिन वैद्य के पास न जाये। इस विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि मुसलमान शुक्रवार से दिनों का प्रारम्भ मानते हैं (उनमें प्रचलित भी है—जुम्मा-जुम्मा आठ दिन हुए), यहूदी लोग शनिवार से और ग्रीक लोग रविवार से दिन गणना मानते हैं। ग्रीकों की देखा-देखी अपने यहाँ भी रविवार से वारों का प्रारम्भ माना गया है। ज्योतिष शास्त्र के होरा शब्द का सम्बन्ध ग्रीक शब्द 'अवर' शब्द से है, जिस का अर्थ घंटा है, इससे यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि वार विचार पश्चिम से इस देश में आया है।

दैव व्यपाश्रय चिकित्सा (जादू-टोना)

पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों को दैव शब्द से कहते हैं (शा० अ०

---

१. ज्ञानमण्डल, काशी के 'शिव पंचांग' के अनुसार।

२. 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास'—पृ० १३९ तथा चरक संहिता का उपोद्घात पृ० (७)।

२।४४)। यदि काल और दैव विपरीत न हों तो जितेन्द्रिय मनुष्य को रोग नहीं होते। दैव के कारण भी, प्राक्तन कर्मों के कारण भी रोग होते हैं, इसलिए दैव के अधीन भी चिकित्सा है।

इस चिकित्सा में मंत्र, औषध, मणि, मंगल पाठ, बलिकर्म, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात, गमन आदि कर्म करने होते हैं।[1] इस चिकित्सा को अथर्वा ऋषि ने कहा है, इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह अथर्ववेद में अपनी अधिक श्रद्धा रखे।[2]

वमन औषध पिलाते समय औषध को निम्न मंत्र से अभिमन्त्रित करने को कहा है—

"ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्र भूचन्द्रार्क निलानलाः।
ऋषयः औषधि ग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षाणां देवनाममृते तथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥"—क० अ० १।

अष्टांग संग्रह में सौगतों के लिए और मंत्र दिये हैं (संग्रह सू० अ० २७।१४)। इसी प्रकार गर्भाधान के समय भी 'अहिरसि आयुरसि' आदि मंत्र (शा० अ० ८।८) पढ़ने का विधान है। यह मंत्र चिकित्सा चरक में ही मिलता है, सुश्रुत में नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि मंत्र-सम्बन्धी दैव व्यपाश्रय चिकित्सा का स्थान चरक में था; इसी का एकरूप जादू-टोना है। महागन्ध हस्ती आदि में भी इसी प्रकार की चिकित्सा मिलती है (चि० अ० २३, ९०-९३)। मणि, औषधियों, मंगलकारी वस्तुएँ और विष के धारण करने से ज्वर नष्ट होता है (चि० अ० ३।३०९)। शापजन्य एवं अभिचारजन्य ज्वरों में दैव व्यपाश्रय चिकित्सा जादू-टोना करने से ज्वर नष्ट होता है (चि० अ० ३।३१७)। मणियों के धारण से विष का नष्ट होना कहा है (चि० अ० २३।२५३)।

---

१. चरक० सू० अ० ११।५४।
२. चरक० सू० अ० ३०।२१।

शकुन विचार

असाध्य रोगी की चिकित्सा करने में वैद्य को यश नहीं मिलता। असाध्यता का निर्णय रोग के लक्षणों से तथा दूत के आने से एवं रास्ते में तथा घर में मिलने वाले अच्छे-बुरे शकुनों से किया जाता था। इसके लिए 'इन्द्रिय स्थान' नामक बारह अध्यायों का पृथक् स्थान है। यहाँ पर इन्द्रिय का अर्थ आत्मा है, इसलिए इस प्रकरण में आत्मा के लक्षणों का विचार है।[1] आत्मा सम्बन्धी विचार से ही मृत्यु के लक्षण भी कहे गये हैं।

शकुन विचार कई रूप में था। यथा—दूत सम्बन्धी, मार्ग सम्बन्धी, रोगी के गृह सम्बन्धी, स्वप्न सम्बन्धी, नक्षत्र-तिथि आदि सम्बन्धी। इनमें—

दूत सम्बन्धी शकुन विचार—मरने वाले रोगियों के लक्षण दूताधिकार में इस प्रकार हैं—दूत यदि शिर के बाल खोले हुए (कंघा बिना किये), नंगा, रोता हुआ वैद्य के पास आये, तो रोगी की मृत्यु समझनी चाहिये। वैद्य के सोते हुए, कुछ काटते या तोड़ते हुए दूत आये तो रोगी का अमंगल समझकर वैद्य न जाये। इसी प्रकार अग्नि में हवन करते हुए, पितरों को पिण्ड देते हुए आये दूत प्रशस्त नहीं है। इसी तरह अभद्र वाणी बोलते हुए, चिन्ता करते हुए, मरे, जले, नष्ट हुए की बात करते समय आये दूत अप्रशस्त हैं। विकार के समान गुण वाले देश और काल में आये दूत अच्छे नहीं, यथा—रक्तपित्त या मुख से खून आने पर, ग्रीष्मकाल में अथवा वैद्य के अग्नि के पास बैठे होने पर, दूत का आना अच्छा नहीं।

दीन, डरे, भागते हुए, मलिन, असती स्त्री, संख्या में तीन आये दूत, विकृत आकृति के, नपुंसक दूत अमंगलकारी हैं। गधे या ऊँट की सवारी पर चढ़कर आये दूत अप्रशस्त हैं। वैद्य को यदि प्रथम दृष्टि में तिल कल्क, भूसा, मांस, अस्थि, केश, लोम, नख, दाँत, झाड़ू, मूसल, छाज, जूते से अलग हुए चमड़े को छूता दिखाई देवे तो वैद्य को रोगी के घर नहीं जाना चाहिये।

मार्ग सम्बन्धी शकुन विचार—छींक आना, भय के साथ रोना, फिसलना, गिरना, चिल्लाना, चोट करना, प्रतिषेध (रुकावट), कपड़ों का फटना,

---

१. चरक० इन्द्रिय, १२।९-२२।

छत्र, जूते का टूटना या फटना, विकृत अंग के व्यक्तियों का दर्शन, मृत व्यक्ति का मिलना, चैत्य ध्वजा या पताका का गिरना, पानी या अन्य वस्तु से भरे कुम्भों का गिरना, मृत-बुरे वचन सुनाई देना, राख या धूल, बिल्ली का, कुत्ते का या साँप का रास्ता काटना, हिंसक पशु-पक्षियों की आवाज, आग लगी होना, उलटे किये हुए शयन, आसन, यान रास्ते में मिले तो वैद्य को रोगी के घर में नहीं जाना चाहिये।[1]

रोगी के घर के शकुन—रोगी के घर में प्रवेश करने पर यदि घर से भरे हुए पात्र, अग्नि, मिट्टी, बीज, फल, घृत, बैल, ब्राह्मण, रत्न, देवता या अन्न निकल रहा हो—बाहर जा रहा हो तो अमंगल समझना चाहिये। अग्नि से भरे पात्र, टूटे घर, छिन्न-भिन्न, जले, टूटे, गिरे हुए घर में रोगी का होना, बिस्तर, वस्त्र, यान, जाना, भोजन सम्बन्धी चिल्लाना, बिस्तर, वस्त्र, यान अथवा अन्य सामान, जब मृत व्यक्ति के समान हो रहा हो, जिसके लिए बनाया अन्न बिगड़ जाय, आग बुझ जाय, वायु रहित स्थान पर लकड़ियाँ होने पर अग्नि न जले, रोगी के घर में पात्र टूटे, गिरे—तो अप्रशस्त समझना चाहिये।[2]

प्रशस्त दूत—अपने आचार का पालन करता हुआ, प्रसन्न, अविकृत अंग, श्वेत—साफ वस्त्र पहने, शिर न घुटाये, रोगी की जाति का, जाति के समान वेश, क्रिया करने वाला, प्रशस्त सवारी से आया, सन्ध्या काल या क्रूर ग्रहों में नहीं आया, सौम्य नक्षत्रों में चौथ, नवमी, चौदस इन निष्फल तिथियों के बिना, इसी प्रकार मध्याह्न, आधी रात, भूकम्प, राहू दर्शन, अशस्त्र, आकस्मिक लक्षणों के बिना—अन्य समय में आया दूत प्रशस्त है।[3]

शुभ लक्षण—रास्ते में या रोगी के घर के प्रवेश के समय, दधि, अक्षत, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, बैल, राजा, रत्न, भरे पात्र, श्वेत घोड़ा, देव मन्दिर की ध्वजा, पताका, फल, यावक (जौ का बना अन्न–भक्ष्य), कन्या-प्रवर्धमाना, श्रेष्ठ पशु का बँधा होना, खोदी भूमि, जलती अग्नि, लड्डू, श्वेत चन्दन, फूल, मन के अनुकूल खान-पान, मनुष्यों से भरी गाड़ी, बछड़े के साथ गाय, बछेरी

---

१. चरक० इन्द्रिय १२।२५-३०।

२. चरक० इन्द्रिय १२।३२-३९।

३. चरक० इन्द्रिय १२।६७-७०।

या बछेरे के साथ घोड़ी, जीवञ्जीवक, हंस, सारस आदि प्रिय बोलने वाले पक्षी, मछली, बकरी, शंख, प्रियगु घृतका दर्शन, रुचक (आभूषण), दर्पण, सरसों, गोरोचन का दर्शन, सुगन्ध, मृग पक्षि-मनुष्यों की प्रशस्त वाणियाँ, छत्र-ध्वजा, पताका का ऊपर खड़ा करना, वेदाध्ययन का शब्द, दक्षिण की वायु का मिलना रोगी के आरोग्य का लक्षण है।

कन्याप्रवर्धमानाम्—इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। चक्रपाणि ने गोद लिया कुमार या गोद में उठाई कन्या अर्थ किया है। कन्या और वर्धमान इन दोनों को स्वतः शुभ लक्षण माना है।

कन्या का दर्शन मांगलिक है—मंगल अवसरों पर उसकी उपस्थिति आवश्यक बताई है। जयद्रथ वध वाले दिन महाराज युधिष्ठिर राजसिंहासन पर बैठने से पहले अलंकृत कन्यायों का दर्शन करते हैं (महा० ७।८२।२१-२२)। उस दिन जब सात्यकि अर्जुन के साथ में युद्ध के लिए जाता है, तब कन्यायें खीलों तथा सुगन्धित मालाओं से उसका अभिनन्दन करती हैं (७।११२।६५)। रामचन्द्र के राज्याभिषेक के समय मांगलिक द्रव्यों में बार-बार कन्याओं का वर्णन है। [(वा० रा० २।१४।३६) तथा 'अष्टौ च कन्याः रुचिराः' ६।१२८ (३८, ६२)[1]]। शौनककारिका में आठ शुभ वस्तुओं में इनकी गणना की है।[2]

वर्धमान—इसका अर्थ शराव है। इन शरावों को आलेपन आदि से मंडित करके द्वार पर लटकाया जाता है। गावों में आज भी इस प्रकार के शराव रस्सी में बाँधकर लटकाये जाते हैं। कादम्बरी में बाण ने इनका उल्लेख किया है।[3] पेशावर-गान्धार में लहसुन को शराव में बाँधकर लटकाते हैं।

---

१. रघुवंश में भी कन्याओं का मंगल कार्य में उल्लेख है—

'आचारलाजैरिव पौरकन्याः'। रघु० २।१०।

२. "दर्पणः पूर्णकलशः कन्या सुमनसोऽक्षताः।
दीपमाला ध्वजाः लाजाः संप्रोक्तं चाष्टमंगलम्॥"—हिन्दू परिवार मीमांसा–पृ० २५५

३. "पंचराग विचित्र चेलचीरकलापचिह्नमापीतपिष्टपंकाङ्कितां वर्धमानपरम्पराम्"—विलासवती के सूतिकागार का वर्णन। बंधे हुए एक पशु का भी उल्लेख है—'उपद्वार-संयतविविधगन्धकुसुममालाऽलंकृतजरच्छागम्'—वही।

रुचक—इसका अर्थ दाँत और आभूषण है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका अर्थ अशर्फी की है। अशर्फी का दर्शन मांगलिक माना है।[1]

स्वप्न विचार

चरक संहिता में स्वप्नों का विचार रोगी के रोग से मुक्त होने या मुक्त न होने के लिए किया गया है। कई रोगों के पूर्वरूपों में स्वप्न के लक्षण कहे हैं (राजयक्ष्मा रोग में—स्वप्न के अन्दर कौए, गीध, नीलकण्ठ आदि से खींचा जाना, नदी का सूखा देखना, सूखे वृक्ष, धुआँ या वन में अग्नि लगी देखना)।

स्वप्न किन कारणों से आते हैं और किस प्रकार के स्वप्न फलदायी हैं, और कौन नहीं, इस सबकी विवेचना की है।

स्वप्न आने का कारण—अति बलवान्, वात, पित्त, कफ दोषों से मनोवह स्रोतों के भर जाने से मनुष्य दारुण समय आने पर दारुण स्वप्नों को देखता है। इस समय गम्भीर निद्रा में मनुष्य नहीं होता।

स्वप्न दो प्रकार के हैं, फल देने वाले और फल न देने वाले। इन दोनों प्रकार के स्वप्नों को मनुष्य इन्द्रियों से प्रेरित मन के द्वारा देखता है।

स्वप्न सात प्रकार के होते हैं--(१) दृष्ट—देखा हुआ, (२) श्रुत—सुना हुआ, (३) अनुभव किया (४) प्रार्थित—माँगा हुआ (५) कल्पना किया, (६) भाविक—भावना से उद्भव, (७) दोषजन्य—वातादि दोषों से उत्पन्न।

इनमें पहले पाँच प्रकार के स्वप्न निष्फल होते हैं। दिन में सोने पर आया स्वप्न बहुत छोटा, बहुत बड़ा, रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा स्वप्न थोड़ा फल देता है। स्वप्न देखकर फिर सोना नहीं चाहिये, ऐसा स्वप्न बड़ा फल देता है।[2] अकल्याणकारी स्वप्न दीखने पर यदि उसी समय शुभ स्वप्न दिखाई देवे तो उसका फल शुभ होता है।[3]

स्वप्न और रोग

रोगों के पूर्वरूप (लक्षणों के सम्बन्ध में)—उन्माद रोग के पूर्वरूप में रोगी को बार-बार चंचल, भ्रान्त, अस्थिर, अप्रशस्त रूप दीखते हैं। वह अपने

---

१. देखिये 'कादम्बरी—एक अध्ययन'—पृ० ८० की टिप्पणी।
२. चरक० इन्द्रिय अ० ५।४१-४६।
३. मिलिन्द पन्ह में भी स्वप्न विचार इसी प्रकार से मिलते हैं।

को कोल्हू पर बैठा अनुभव करता है, वायु के आवर्तों में फँसा देखता है, गदले पानी में डूबता हुआ अनुभव करता है।[१] क्षय का रोगी जल वाले स्थानों को सूखा, ग्राम-नगर-निगम-जनपदों को उजड़ा देखता है, सूखे और जलते हुए जंगलों को देखता है। गिरगिट, मोर, बन्दर, तोता, साँप, उल्लू, कौआ से ले जाता हुआ—उन पर चढ़ा, केश, तुष, अस्थि, राख के ढेर पर खड़ा अपने को देखता है।

मृत्यु सम्बन्धी स्वप्न—यक्ष्मा रोगी स्वप्न में कुत्ते, ऊँट, गदहों द्वारा खींचा जाकर दक्षिण दिशा में ले जाया जाय तो वह स्वप्न अच्छा नहीं होता। जो स्वस्थ व्यक्ति प्रेतों के साथ मद्य पीता हो और कुत्ते से खींचा जाय, तो वह घोर ज्वर से पीड़ित होकर मृत्यु पाता है। लाल माला, लाल अंगों का, लाल वस्तु वाला स्वप्न में स्त्री से खींचा जाता है, वह रक्तपित से मरता है। जिस रोगी के हृदय में काँटे वाली लता उत्पन्न होती दीखती है, वह गुल्म से मरता है। स्वप्न में स्नान करने पर भी, अंगराग लगाने पर भी जिसके शरीर पर मक्खियाँ बैठती हों, वह प्रमेह से मरता है। स्वप्न में चाण्डालों के साथ बहुत प्रकार का मद्य पीने वाला व्यक्ति प्रमेह से मरता है।

स्वप्न में जिस रोगी के शिर पर वंश, गुल्म, लता आदि उत्पन्न हो जाँय, शिर पर पक्षी बैठ जाये, स्वप्न में गीध, उल्लू, कौआ, राक्षस, पिशाच, प्रेत, चाण्डाल, द्रविड़, अन्ध्रक जिसको घेर लें, चलते हुए गिर पड़े, बाँस, लता के झुरमुट में फँस जाय, मैले जल में, कीचड़ में, कूएँ में गिर पड़े, नदी के प्रवाह में बह जाय, वह स्वस्थ नहीं होता।[२]

शुभ स्वप्न—स्वप्न में धन-ऐश्वर्य-सुख की प्राप्ति, इच्छित लाभ होना, कार्य करने में सफलता, घर-प्रासाद-पर्वत-हाथ-बैल-घोड़े पर चढ़े पुरुषों का दर्शन, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, द्विज, गाय, राजा, दूधारी गाय, समुद्र का पार करना, बढ़ती देखना, कष्ट के पार निकल जाना, प्रसन्न हुए देवता-पितरों के साथ बातचीत करना, श्वेत वस्त्रों का, निर्मल जल के सरोवर का दर्शन, मांस-

---

१. चरक० नि० अ० ७।६।

२. चरक० चि० अ० ६।१५, इन्द्रिय ५।१४-३३।

मछली-विष-अमेध्य-छत्र-शीशे का दर्शन, श्वेत पुष्पों का स्वप्न में दर्शन, घोड़े या बैल के रथ से सवारी, गिरे हुओं का खड़ा होना, शत्रुओं का नाश दिखाई देना शुभ लक्षण हैं।[1]

चरक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय वैदिक विचारों से भिन्न दूसरे मिथ्या विश्वास भी लोगों में प्रचलित हो गये थे। तन्त्र प्रयोग, मातृगण की पूजा का प्रारम्भ हो गया था।[2] गंगा, हिमालय का पूजन चल पड़ा था। विष्णुसहस्रनाम का प्रचार हो गया था (चरक० चि० अ० ३।३११)। विष्णुसहस्रनाम का उल्लेख बाण ने भी किया है (अविच्छिन्नपठ्यमाननारायण नाम सहस्रम्— कादम्बरी सूतिकागृह वर्णन)। विष्णुसहस्र नाम को गुप्तकालीन मानते हैं।[3] परन्तु चरक संहिता में इसका उल्लेख पहले से है। चरक का सूतिकागार का वर्णन कादम्बरी के सूतिकागृह वर्णन से बहुत-सी बातों में मिलता है। उस समय के मंगल वही हैं, जो कि ईसा की सातवीं शताब्दी में मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ये विचार बहुत समय पूर्व लोक में प्रचलित हो गये थे।[4] इन विचारों को देखकर अनुमान होता है कि चरक का प्रतिसंस्कार पहली शती का ही नहीं—इसमें गुप्तकाल तक प्रतिसंस्कार हुए हैं।

---

१. चरक, इन्द्रिय १२।८०-८५।

२. कादम्बरी एक अध्ययन—पृ० ७७, ७० की टिप्पणी।

३. वही, पृ० ८१ की टिप्पणी।

४. संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद : अत्रिदेव विद्यालंकार, पृ० ९७।

आठवाँ अध्याय

चिकित्सा

[चिकित्सा का स्वरूप, विभिन्न प्रकार के रोगों में शुश्रुषा, चिकित्सालय का रूप-प्रबन्ध ।]

चिकित्सा—जिस क्रिया से शरीर के विषम बने धातु समान होते हैं, उसका नाम चिकित्सा है । धातुओं का समान रखना ही इस तन्त्र का प्रयोजन है । चिकित्सा के दो कार्य हैं—

(१) रोग से पीड़ित मनुष्यों को रोग मुक्त करना ।

(२) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना ।[१]

यह कार्य मुख्यतः भूतदया—परोपकार के लिए ही था । जीवन दान को सबसे बड़ा दान कहा है । परन्तु साथ ही वृत्ति-जीविका के लिए भी, व्यवसाय के लिए इसका उपयोग होता था । इसमें भी शिष्य के लिए आचार्य का अनुशासन था कि जीविका के लिए कभी भी रोगियों से झगड़ा नहीं करना चाहिये । साथ ही जो व्यक्ति चिकित्सक से काम लेकर उसका बदला नहीं चुकाता, उसका निस्तार नहीं होता । रोगी को चाहिये कि वह कभी भी चिकित्सक की निन्दा न करे, न उससे झगड़ा करे, कभी उसका अहित न करे, क्योंकि आयु स्थिर नहीं (पता नहीं कब वैद्य की फिर जरूरत पड़ जाय) ।[२]

वैद्य का भी कर्त्तव्य है कि वह रोगी को अपने पुत्र की भाँति समझे, सब प्रकार की बाधाओं से उसकी रक्षा करे । महर्षियों ने आयुर्वेद का प्रकाशन धर्म, अर्थ, काम की इच्छा से किया है (इसीसे कहा है कि "सामान्यतोवाधर्मार्थ-कामपरिग्रहार्थं सर्वैः"—अध्येतव्यः, सू० अ० ३०।२९) । इसमें भी जो व्यक्ति अर्थ और काम की चिन्ता छोड़कर केवल भूतदया के उद्देश्य से प्राणियों की

---

१. चरक० सू० अ० ३०।२६ ।

२. चरक० चि० अ० १।४।५४ ।

मंगल कामना से ही चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, वह सबका अतिक्रमण कर जाता है—सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

जो लोग चिकित्सा को दुकानदारी बनाकर बेचते हैं, वे स्वर्ण की राशि को छोड़कर धूल का ढेर बटोरते हैं (अपयश प्राप्त करते हैं)। भयानक रोगों से खींचे जाकर जो यमगृह में जा रहे, उनके पाशों को काटकर जो मनुष्य उनको छुड़ाता है—मुक्त करता है, उसके समान धर्म-अर्थ को देने वाला दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि जीवनदान से बढ़कर दूसरा दान नहीं है। भूतदया ही सबसे बड़ा धर्म है, यह समझकर जो मनुष्य चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, उसके ही अर्थ सिद्ध हैं, वह आत्यन्तिक (जो कभी नष्ट नहीं होने वाला) सुख को भोगता है।[1]

देवताओं ने भी अपने वैद्य अश्विनी की पूजा की थी, क्योंकि इन्होंने देवताओं के दुःख दूर किये थे। यथा—इन्द्रका का भुजस्तम्भ अश्विनी ने अच्छा किया, पूषण देवता के नये दाँत बनाये थे, भग देवता को आँखें दी थी, चन्द्रमा का क्षय रोग इन्होंने अच्छा किया था, च्यवन ऋषि को फिर से युवा किया। इसी प्रकार के दूसरे भी बहुत-से कार्य किये थे, इसी से देवता भी इनकी पूजा करते हैं। फिर मनुष्यों की तो क्या बात; उनको तो इनकी पूजा करनी ही चाहिये।

मृत्यु-रोग-वृद्धावस्था के दुःख से दुःखी होने वाले, सुख की चाह रखने वाले मनुष्यों को तो अवश्य ही अपनी शक्ति के अनुसार इनका सम्मान करना चाहिये (क्योंकि वैद्य की जरूरत प्रत्येक को किसी-न-किसी समय पड़ सकती है, इसी से कहते हैं कि जिस गाँव में या शहर में वैद्य न हों, वहाँ न बसे)। शीलवान्, बुद्धिवान्, द्विजाती (माता-पिता के जन्म तथा आचार्य से विद्या प्राप्त—जन्म लिया); शास्त्र-ज्ञाता वैद्य की गुरु के समान पूजा करनी चाहिये।[2]

दो प्रकार के चिकित्सक—आज की भाँति चरक संहिता के उपदेशकाल में भी कुवैद्य होते थे, ये लोग चिकित्सा के नाम से ठगी करते थे, चिकित्सा

---

१. चरक० चि० अ० १।४।५५-६२।

२. चरक० चि० अ० १।४।४२-५१।

व्यवसाय इनकी दुकानदारी के रूप में होता था। ऐसे लोगों का चरक संहिता में जोर से प्रतिवाद किया गया है, इनके लिए कठिन-से-कठिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनको मृत्यु रूप कहा है, इनके साथ बात करने से भी मनुष्य नरक में जाता है, मनुष्य को पाप लगता है। इनसे चिकित्सा करवाने की अपेक्षा तीक्ष्ण विष का खाना, उबालकर ताम्र पी जाना, लोहे के गोलों को अग्नि में लाल करके खा लेना कहीं अच्छा है (मर जाना अधिक श्रेयस्कर है)। शरण में आये—दुःखी, असहाय—व्यक्तिको भद्रवेश धारण करके; पण्डित बनकर ठगना सबसे बड़ा दुष्कर्म है।[1] मनुष्य को चाहिये कि वह वैद्य के गुणों को प्राप्त करने में सदा कोशिश करे, जिससे कि वह मनुष्यों के लिए प्राण देने वाला (प्राणाभिसर) बन सके।

प्राणाभिसर वैद्य—इसका अर्थ प्राणों का प्रविष्ट करने वाले और रोगों को बाहर निकालने वाला है। इनका शास्त्र ज्ञान सम्पूर्ण होता है, गुरु के पास रहकर इन्होंने अध्ययन किया होता है, चिकित्सा कर्म भली प्रकार से देखा होता है, इनको मात्रा, देश, काल आदि का ज्ञान भली प्रकार होता है। शास्त्र के ग्रहण करने में, धारण, विज्ञान, प्रयोग कर्म में ये कुशल होते हैं, सब प्राणियों में मैत्री भाव रखते हैं, इस प्रकार के वैद्य प्राणों को देने वाले और रोगों को निकालने वाले हैं।

ये अपने कार्य में चतुर, पवित्र, जितहस्त, जितात्मा, सब साधन सामग्री से युक्त, सब इन्द्रियों से युक्त, प्रकृति को समझने वाले, प्रतिपत्ति (सूझ) वाले होते हैं। इनका शरीर ज्ञान तथा शरीर रचना सम्बन्धी ज्ञान, प्रकृति-विकृत ज्ञान, बिना संशय का होता है। सुखसाध्य, कृच्छ साध्य, याप्य और असाध्य चारों प्रकार के रोगों को पहचानते हैं। रोगों के निदान, पूर्वरूप, रूप, वेदना, उपशय, सम्प्राप्ति के ज्ञान में बिना सन्देह के होते हैं। हेतु, लिंग और औषध-ज्ञान—इन तीन सूत्रों से आयुर्वेद को भली प्रकार जानते हैं, संक्षेप में एवं विस्तार रूप में आयुर्वेद को समझते हैं, दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय रूप में औषध समूह को कह सकते हैं। पैंतीस मूल-फल, चार प्रकार के स्नेह, पाँच

---

१. चरक० सू० अ० ११२०-१३२।

प्रकार के लवण, आठ प्रकार के मूत्र, आठ प्रकार के दूध, शिरो विरेचन, पंच कर्म की औषधियों को, अट्ठाईस प्रकार की यवागू, बत्तीस प्रकार चूर्ण प्रदेह, छः सौ विरेचन, पाँच सौ कषायों को कह सकते हैं।

शास्त्र के ग्रहण, धारण, विज्ञान, प्रयोग कर्म, कार्यकाल, करण (साधन) में बरतने में कुशल होते हैं। इनकी स्मृति, मति, शास्त्रज्ञान, युक्तिज्ञान ठीक होता है। शील और गुण प्राणाभिसर वैद्य के अनुरूप होते हैं, सब प्राणियों में मैत्री भाव रखते हैं। रोगियों को माता-पिता-भाई सम्बन्धी (बन्धु) भाव से देखते हैं।[1]

शास्त्र को जानने वाले दक्ष, पवित्र, कर्म को जानने वाले, जितहस्त, जितात्मा वैद्यों को सदा नमस्कार है।[2]

रोगाभिसर वैद्य—दूसरे प्रकार के वैद्य रोगाभिसर हैं, ये शरीर में रोग को बढ़ाते हैं और प्राणों को बाहर निकालते हैं। इनकी पहिचान यह है—

वैद्य की भाँति बढ़िया वेश धारण करके, कुछ काम मिल जाये--कोई रोगी फँस जाये इस लोभ से गलियों में चक्कर काटते फिरते हैं। किसी की बिमारी सुनकर उसके ऊपर चारों ओर से झपट पड़ते हैं, बातचीत में, अपने वैद्य गुणों को जोर-जोर से कहने लगते हैं, जो वैद्य चिकित्सा कर्म कर रहा होता है, उसके दोषों को बार-बार दिखाते हैं, रोगी के मित्रों को हँसाकर, रिश्वत देकर, सेवा करके अपना बनाना चाहते हैं, अपने को त्यागी-निर्लोभी दिखाते हैं। जब काम आ पड़ता है, तब इधर-उधर देखने लगते हैं, चतुराई से अपना अज्ञान छिपाना चाहते हैं, रोग अच्छा करने में असमर्थ होने में रोगी में ही दोष निकालने लगते हैं, उसे साधनहीन, सेवकहीन, लोभी, कहा न मानने वाला बताते हैं। मृत्यु समीप में आई जानकर दूसरे स्थान पर भाग जाते हैं, अपना रूप-नाम बदल कर दूसरे स्थान पर धंधा प्रारम्भ कर देते हैं। सामान्य पढ़ा-लिखा मिलने पर अपनी कुशलता को एक मूर्ख की भाँति छिपाने लगते हैं। अधीर की भाँति गम्भीर पुरुषों के धैर्य की निन्दा करने लगते हैं। कोई पढ़ा लिखा मिलने पर ऐसे

---

१. चरक० सू० अ० २९।७।

२. वही, सू० अ० २९।१३।

बच जाना चाहते हैं[१], जैसे कि यात्री बड़े भारी जंगल से बच कर निकलना चाहता है। इनको जो सूत्र का भाग याद होता है, उसी को सब समय—प्रकरण के बिना—जब-तब बोलते रहते हैं। ये नहीं चाहते कि कोई इनसे पूछे या ये किसी से प्रश्न करें। प्रश्न से तो मृत्यु की भाँति डरते हैं। इनका न तो कोई आचार्य होता है न शिष्य, न सहपाठी और न इन्होंने कभी किसी से शास्त्रार्थ किया होता है (आजकल के शब्दों में एक भी अक्षर लिखा नहीं होता[२])।

छद्मवेशी वैद्य गली-कूचे में प्रविष्ट हो कर रोगियों को ढूँढ़ने लगते हैं, जिस प्रकार कि चिड़ीमार जंगल में पहुँच कर जाल बिछाकर पक्षियों को पकड़ने लगता है। इन्होंने न तो शास्त्र पढ़ा होता है, न चिकित्सा कर्म देखा होता है, इनको मात्रा, काल का कोई भी ज्ञान नहीं होता। ऐसे वैद्यों को मृत्यु के दूत समझ कर दूर से ही छोड़ देना चाहिये। जीविका के लिए ही जिन्होंने वैद्य का वेश धारण किया, ऐसे मूर्ख पण्डितों से समझदार व्यक्ति को दूर से ही बच जाना चाहिये, ये तो वायु पिये हुए ही साँप हैं।

रोगाभिसर वैद्य भी दो प्रकार के हैं—

(१) वैद्य का वेश धारण करके घूमने वाले।

(२) सिद्ध साधित।

वैद्य का वेश धारण करके घूमने वाले लोग—वैद्य के समान ही साधन (वस्ति यंत्र, छाती देखने का उपकरण, ताप मापने का यंत्र), उपकरण, औषधियाँ, पुस्त (मिट्टी के बने माडल-अंग—प्रत्यंग के चार्ट) रखते हैं। वनस्पतियों के जड़ी-बूटियों के कुछ पत्ते जान लेते हैं, उनको लाकर दुकान में सजा देते हैं।

सिद्ध साधित वैद्य प्रसिद्ध वैद्यों के नाम से दूसरों को ठगते हैं। लक्ष्मी, ऐश्वर्य, यश, ज्ञान से जो वैद्य प्रसिद्धि पा चुके हैं, उनके नाम से लोगों को ठगते हैं। इसके लिए ये अपने को उनका शिष्य, सम्बन्धी बताते हैं, उनके पास रहकर विद्याध्ययन की है, ऐसा कहते हैं। यद्यपि स्वयं ज्ञान में हीन होते हैं, परन्तु लोगों को उनसे सम्बन्ध बता कर चिकित्सा कर्म प्राप्त करना चाहते हैं।

---

१. ऐसों के लिए ही कालिदास ने 'विवाद भीरु' शब्द दिया है (मालविका० १।१७)। जोड़ तोड़ करके—चापलुसी से प्रधान पद—अध्यक्षता प्राप्त कर लेते हैं

२. चरक० सू० अ० २९।९।

प्राणिभिसर वैद्य—वैद्य के सच्चे गुणों से युक्त होते हैं, ये प्रयोग के ज्ञान-विज्ञान में, सिद्धि में सिद्ध रहते हैं—सफल रहते हैं, मनुष्यों को सुख पहुँचाने के लिए चिकित्सा कर्म करते हैं, ये प्राणों के देने वाले होते हैं, सच्चे अर्थों में वैद्य शब्द इन्हीं में प्रतिष्ठित है।[1]

किनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये—यद्यपि वैद्य के लिए सब प्राणियों में मैत्री भाव रखने को कहा है, तथापि कुछ मनुष्यों की चिकित्सा करने से उसे रोका है, यथा—

(१) जिनसे राजा या महाजन (श्रेष्ठ पुरुष) द्वेष करते हैं, या जो व्यक्ति राजा या महाजनों से द्वेष करता है, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

(२) जिनका रहन-सहन अतिशय दूषित हो, कष्टमय हो।

(३) जो लोग वैद्य की निन्दा करते हों या दूसरों से की हुई वैद्य की निन्दा का प्रतीकार नहीं करते।

(४) मरणासन्न रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।[2]

(५) असाध्य रोग में चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। असाध्य रोगी की चिकित्सा करने से अर्थ की हानि, विद्या की हानि, यश की हानि होती है, सज्जनों से स्नेह नहीं मिलता, निन्दा अलग से हाथ लगती है।[3]

(६) क्रूर साहसिक (साहस का काम करने वाला), भीरु, कृतघ्न, दूसरे कार्यों में फँसा, राजा और वैद्य से द्वेष रखने वाला अथवा राजा और वैद्य जिससे द्वेष रखते हैं, शोक से पीड़ित, अपनी इच्छा के अनुसार बरतने वाला, मरणासन्न, साधनों से हीन, शत्रु, अपने को वैद्य समझने वाला, श्रद्धा न रखने वाला, शंकाशील (सन्देह प्रवृत्ति), वैद्य की आज्ञा में न रहने वाला, इनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।[4]

---

१. चरक० सू० अ० ११।५०-५३।

२. चरक० वि० अ० ८।९।

३. चरक० सू० अ० १०।

४. चरक० सि० अ० २।४-६।

चिकित्सालय[१]—क्लिनिक के रूप में चिकित्सा का प्रबन्ध उस समय था। रोगी को चिकित्सक की देख-रेख में रखकर चिकित्सा की जाती थी। इसके लिए उत्तम गृह का प्रबन्ध तथा आवश्यक सामग्री—साजसज्जा सब एकत्रित की जाती थीं। ये गृह कई प्रकार के होते थे; यथा सूतिकागार, कुमारागार, चिकित्सागृह, उन्माद रोगी के अवरोध गृह आदि !

इस प्रकार की चिकित्सा का लाभ यह था कि दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, वय, अवस्था के भेद इतने सूक्ष्म हैं कि जिनका विचार करते समय विमल विपुल बुद्धि वाले व्यक्ति की बुद्धि चकरा जाती है, फिर अल्पबुद्धि वाले मनुष्य की बात ही क्या ? इसलिए रोगी की चिकित्सा करने से पूर्व सब साधन सामग्री एकत्रित करनी चाहिये। चिकित्सा करते समय यदि कोई व्यापद् आ जाये तो उसका प्रतिकार उसी समय किया जा सके, इसलिए सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री एकत्रित रखनी चाहिये।

चिकित्सा गृह—चिकित्सा गृह दृढ़-मजबूत बना होना चाहिये, सामने की सीधी तेज वायु का प्रवेश इसमें नहीं होना चाहिये। वायु पार्श्व से आये। इसमें सुखपूर्वक चला-फिरा जा सके—घूमने योग्य होना चाहिये, छोटा कमरा नहीं होना चाहिये। किसी बड़े मकान से ढँपा या रुका नहीं होना चाहिये, उससे बचा हो। इसमें धुआँ, धूप, वर्षा, पानी, धूल का प्रवेश न हो सके। पास में (सिनेमा, स्कूल आदि न हों, जिससे) किसी भी प्रकार के अवांछनीय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध न आ सके, बीभत्स दृश्य पास में न हों। इसमें पानी रखने का स्थान, रसोई का, कूटने-पीसने का, मल-मूत्र त्याग का, स्नान का, सबका अलग-अलग प्रबन्ध करना चाहिये। रोगी की सुविधा के सब साधन इसमें बने हों।

सामग्री—(१) भृत्य—इस गृह में उत्तम स्वभाव वाले, उत्तम आचरण वाले, स्नेहशील, साफ-सुथरा रहने वाले, चतुर, उत्तम सूझ के, सेवा कार्य में

---

१. पुराणों में इस अर्थ में आरोग्यशाला या कल्याण गृह [कल्यंनीरुजमानयतीति कल्याणं, तस्यगृहं कल्याणगृहम्] शब्द आये हैं; इनको अपनाना चाहिये। विष्णु धर्मोत्तर-पुराण—२०६।२५।

निपुण, सब प्रकार के कार्यों को जानने वाले—उनमें दक्ष (किसी भी कार्य के करने में घृणा न करने वाले) नौकर रखें।

ये नौकर भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न होते थे; यथा—

पाचक—रसोई—दाल, भात बनाने वाले,

संवाहक—शरीर को दबाने वाले, मालिश करने वाले,

संवेशक—रोगी को बिठाने-लिटाने वाले,

उत्थापक—उठाने वाले या पकड़कर चलाने वाले,

औषधिपेषक—रोगी के लिए औषधि तैयार करने वाले,

स्नापक—रोगी को स्नान कराने वाले।

(२) मित्रगण—विषाद और चिन्ता रोग को बढ़ाती है, इसलिए रोगी के मन को प्रसन्न रखने के लिए मित्रगण भी रखें। ये मित्र—

गाने-बजाने में कुशल, किस्सा कहानी में होशियार, इतिहास-पुराण सुनाने में निपुण; अभिप्राय को समझने वाले, देश-काल को पहचानने वाले होने चाहिएँ, किस समय कैसी बात, कैसा बर्ताव करना चाहिये, यह इनको ज्ञान हो; जिनसे किसी प्रकार का संकोच या शर्म न हो (अनुमत) साथी रखें।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रोगी के पास स्त्री परिचारक रखने का आयुर्वेद में निषेध है[१]।

(३) पशु-पक्षी—रोगी के मन बहलाव के लिए तथा उपयोग की दृष्टि से बटेर, कपिंजल, खरगोश, हरिण, कालपुच्छक, उरभ्र (मेढ़ा) आदि पशु-पक्षी, दूध देने वाली—सीधी—न मारने वाली, निरोगी, बच्चे वाली गाय रखनी

---

१. (क) तस्मात् सुहृद्भिरनुकूलैः प्रियंवदैरुपास्यमानो यथेष्टमासीत्।

सुहृदोविक्षपन्त्याशुकथाभिर्व्रणवेदनाः।
आश्वासयन्ता बहुशः स्वानुकूलाः प्रियंवदाः॥

(ख) गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शन संभाषण संस्पर्शनानिदूरतः एव परिहरेत्—सु० सू० अ० १९।१४।

(ग) भेल संहिता में स्त्रियों की कथा आदि रोगी को सुनाना, उनकी उपस्थित का उल्लेख है—

चन्द्रानना पीनकुचा सुरम्भाः शुक्लवाससः।
रुजाक्लम विनाशार्थं उपासीनाश्च योषितः॥ भेल० ज्वर० पृ० ११९।

चाहिये। उसके लिए खाने-पीने का, सोने-बैठने आदि का प्रबन्ध करना चाहिये।

(४) **अन्य सामग्री**—रसोई के काम आने वाले नाना प्रकार के पात्र, पानी रखने के पात्र, पानी निकालने का पात्र, मथानी, गंगासागर, पीकदान, शिला, पीसने का बट्टा, मटका, तवा एकत्रित करे।

चमड़े, कपास, ऊन के वस्त्र, सोने-बिछाने के, ओढ़ने के वस्त्र, शय्या, ढासना लगी बैठने की चौकी, स्नेहन, स्वेदन, अभ्यंग, प्रदेह, परिषेक, वमन, विरेचन में सुखकारी वस्तुएँ, उठाने-बिठाने में उपकारी वस्तुएँ, धूमनेत्र, वस्ति-नेत्र, उत्तरवस्तिनेत्र, झाड़ू, तराजू-बट्टे, घी, तेल, वसा, नमक, राष, ईंधन, सीधु-सुरा आदि नाना प्रकार के मद्य, शालि, साँठी, उड़द, मूँग, राष, जौ, तिल, कुलत्थी, बेर, द्राक्षा, फालसा, आँवला आदि वस्तुएँ, नाना प्रकार के स्नेहन-स्वेदन के उपकरण, वमन, विरेचन की वस्तुएँ, संग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय, वातहर आदि औषधियाँ तथा और भी जो उपयोगी समझें, व्यापत्तियों के प्रतिकार के लिए उपयोगी और आवश्यक हों, उन सबको एकत्रित करना चाहिये।

चिकित्सा करते समय बीच में यदि कोई शारीरिक या मानसिक दोष उत्पन्न हो जाये तो पहले उसकी चिकित्सा करे।

मंगलाचार—चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व मंगल अनुष्ठान करना होता था, इसके लिए देवता, अग्नि, द्विज, ग्रह, गुरु,वृद्धों की पूजा की जाती थी। फिर प्रशस्त तिथि, नक्षत्र, करण, और मुहूर्त्त में ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन शान्ति पाठ कराके, रोगी को औषध दी जाती थी। चक्रपाणि ने औषध सेवन में प्रशस्त नक्षत्र पुष्य, हस्त, ज्येष्ठा, रोहिणी, अश्विनी और स्वाति बताये हैं।

चिकित्सा गृह से मुक्ति—आतुरालय से रोगी को मुक्त करने के समय उसकी विशेष तैयारी की जाती थी। इसके लिए रोगी जब स्वस्थ हो जाये, उसमें बल और वर्ण आ जाये, मन भली प्रकार स्वस्थ हो जाये, खाया हुआ भोजन भली प्रकार से जीर्ण होने लगे, तब उसे स्वस्थ समझे।

अब इसको शिर सहित स्नान कराके, शरीर पर चन्दन आदि का अनुलेप कराये, गले में माला पहनाये। श्वेत-धुले वस्त्र पहनाकर, आभूषणों से सजाकर

(बाल आदि प्रसाधन करके) पहले मित्र बान्धवों को दिखाये, फिर जाति-बन्धुओं के पास भेजे। इसके पीछे उसे दैनिक काम में लगाये।

इस विधि से राजा या राजा के समान ऐश्वर्यशाली अथवा जिसके पास पर्याप्त धन-सामग्री हो, उसका संशोधन—उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। दरिद्र व्यक्ति को यदि रोग हो जाये तो जो भी साधन प्राप्त हो सके, सुलभ हों, उनके अनुसार संशोधन-चिकित्सा कराये। सब मनुष्यों के पास सब प्रकार की साधन सामग्री नहीं होती, इसलिए जैसे साधन हों, उनसे ही काम चलाये। आपत्काल में मनुष्य जो औषध, खान-पान, वस्त्र आदि जुटा सके, उसीसे काम चलाना चाहिये। दरिद्र पुरुषों को भयानक रोग होते भी नहीं।[1]

सामान्य आतुरालय के सिवाय प्रसव के लिए सूतिकागार, बच्चों के पालन-पोषण के लिए (कुमारागार— नर्सरी) का भी उल्लेख चरक में मिलता है; यथा—

सूतिकागार—गर्भवती स्त्री के लिए नवें मास से पूर्व ही सूतिकागार—प्रसव स्थान बनाना चाहिये। यह ऐसे स्थान पर बनाना चाहिये—जहाँ पर अस्थि, मिट्टी के ठीकरे, मिट्टी के टूटे टुकड़े न हों, जहाँ की भूमि के रूप-रस-गन्ध प्रशस्त हों, उस स्थान को पसन्द करे। वहाँ पर पूर्व दिशा में या उत्तर की ओर मुख रखकर बिल्व, तिन्दुक, ईंगुदी, भिलावा, वरना की लकड़ी से या अथर्ववेद जानने वाले ब्राह्मण दूसरी जो भी अच्छी लकड़ियाँ बतायें, उससे घर बनाये। इस घर में वस्त्र, आलेप, ओढ़ना-बिछौना तैयार करे।

वास्तुविद्या—गृहनिर्माण को समझने वाला मनुष्य, अग्नि, जल, कूटने-पीसने, मल-मूत्र त्याग का, स्नान, रसोई आदि का स्थान अलग-अलग बनाये। घर ऐसा हो कि सब ऋतुओं में सुखदायक हो, सब ऋतुओं में इसका उपयोग हो सके।

वहाँ पर घृत, तेल, मधु, सैन्धव, सौवर्चल, काललवण, विडंग, कूठ, सोंठ, पिप्पली, पिप्पली मूल, लाँगली, मण्डूकपर्णी, लशुन, सरसों आदि औषधियाँ, दो पत्थर, दो मूसल, दो ऊखलें, खर, वृषभ, तीक्ष्ण सूई, बिल्व की लकड़ी

---

१. चरक० सू० अ० १५।७,९, १७-२१।

के बने दो पलंग, तिन्दुक और ईंगुदी की लकड़ियाँ अग्नि में जलाने के लिए, बहुत-सी स्त्रियाँ रखें।

स्त्रियाँ ऐसी हों, जिन्होंने बहुत बार प्रसव कराया हो (या किया हो), स्नेह-भाव रखने वाली, ममता वाली, सेवा करने में रुचि रखती हो, उत्तम सूझ की, स्नेह रखने वाली, आलस्य न करने वाली, क्लेश सहन करने के स्वभाव वाली होनी चाहिये।

इसके सिवाय और भी जो कुछ अथर्ववेद जानने वाले ब्राह्मण कहें, उन सबको, एवं वृद्धा स्त्रियाँ जो सामग्री बतायें उन सबको भी एकत्रित करें।[१]

मानस रोग चिकित्सालय—आयुर्वेद में मानस रोगों की (उन्माद, संन्यास में) चिकित्सा उद्वेगकरी (शाक ट्रीटमेण्ट) वर्णित है। इसके लिए रोगी पृथक् घर में रखकर डराया जाता था। उस घर में किसी प्रकार की हानि पहुँचाने वाली—मिट्टी-लोहा-लकड़ी-पत्थर आदि नहीं रहता था (अपेत लोष्ट्र-काष्ठाद्यैः संरोध्यश्च तमोगृहैः—चि० अ० ९।३६)।

विकृत मन को स्वस्थ करने के लिए रोगी को डराना, धमकाना (तर्जन), सान्त्वना, हर्षण, भय, विस्मय, विस्मृति-भुलाना आदि क्रियाएँ करनी चाहिये। शरीर पर अनेक प्रकार के प्रदेह, उत्सादन, अभ्यंग बरतने चाहिये, घी पीने को देना चाहिये। इसके साथ में त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम का अन्वेक्षण-चिन्तन (त्रिवर्गस्यान्वेक्षणम्); मन को शान्त करने वाले—आचार्यों के पास रहना (तद् विद्य सेवा); शम, दम एवं सद्वृत्त का पालन करना—चिकित्सा है।[२]

मित्रगण धर्म-अर्थ वाले वचनों से रोगी को सान्त्वना दें, इच्छित वस्तु का नाश बतायें, अद्भुत-चमत्कारिक वस्तुएँ दिखायें। शरीर पर सरसों का तेल मलकर उसे धूप में बाँध दें। फिर कौंच या गरम लोहे, गरम तेल, गरम जल से छुएँ। चाबुक-कोड़ों से मारे, अकेली कोठरी में बन्द कर दें। जिन साँपों के दाँत निकाल लिये हों, ऐसे साँपों से उसे डराये, वश में किये शिक्षित सिंह और

---

१. चरक० शा० अ० ८।३३-३४।
ये घर अस्थायी दीखते हैं; जो कि कार्य होने के पीछे नष्ट कर दिये जाते थे।

२. चरक० सू० अ० ११।

हाथियों से या सशस्त्र डाकुओं से या शत्रुओं से रोगी में भय उत्पन्न करें। राजपुरुष रोगी को अच्छी तरह बाँधकर बाहर ले जायें और उसे इस प्रकार की धमकियाँ दें कि राजा ने तुम्हारा वध करने की आज्ञा दी है—इस प्रकार से उसे भयभीत करें।

इसका लाभ—जितने भी दुःख हैं, उन सबमें बड़ा दुःख दैहिक दुःख ही है। प्राणों का भय सबसे बड़ा दुःख है। प्राण-भय उपस्थित होने पर रोगी का मन पूर्णतया शान्त हो जाता है। विलुप्त-अव्यवस्थित मन इससे अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है। उन्माद नष्ट हो जाता है। रोगी का मन, बुद्धि और शरीर तीनों में संवेदन-कम्पन उत्पन्न करना हितावह है, इसके लिए ताड़न, नावन, आँजन, भय, विस्मय उत्पन्न करना चाहिये।[1]

संन्यास रोग में विस्मय उत्पन्न करने से, इष्ट वस्तुओं का स्मरण कराने से, प्रिय कथाओं से, चतुर पुरुषों के गायन-वादन से, विचित्र दृश्यों के या वस्तुओं के प्रदर्शन से, धूम-अंजन-कवलग्रह रक्तमोक्षण-व्यायाम आदि से होश में आये रोगी के अनुबन्ध की निरन्तर रक्षा करे। रोगी को काली सूरत बनाये डरावने लोगों से डराये। बाँध कर रोगी को गड्ढे में फेंक कर धमकाना चाहिये। जल-रहित कूप में या बन्द कूप में रोगी को उछाल कर आतंकित करना चाहिये। काटने वाले जन्तुओं से (बिच्छू आदि से) डराना चाहिये।[2]

रक्त-पित्त रोग में मानसिक उपचार—इस रोग में शीतल उपचार किया जाता है, रोगी को धारागृह—फुहार पड़ने वाले घर में, या शीतगृह लता वेष्ठित गृह में रखा जाता है। साथ ही मानसिक चिकित्सा के लिए—

सरिद्ह्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथा सरक्तं शमयन्ति पित्तम्॥

—चि० अ० ४।१०९

बड़ी-बड़ी सरिताओं का, बड़े-बड़े तालाबों का वर्णन, उनका विचार, हिमालय की गुफाओं की कथायें, चन्द्रमा का उदय, कमल से भरे सरोवर, मन के

१. चरक० चि० अ० ९।३५-३९, ८६-८९।
२. चरक० सू० अ० २४।४९-५३।

अनुकूल, ठण्डा करने वाली, शान्ति देने वाली कथायें रक्तपित्त का शमन करती हैं। बड़ी-बड़ी सरिताओं-तड़ागों का देखना-सुनना रक्तपित्त को शान्त करता है। इसी प्रकार दाह-ज्वर में शीतोपचार के लिए रोगी को धारागृहों में, कमल, केला आदि के शीतल पत्तों पर, शीतल जल से सिंचित घर में, क्षौम पर लेटाना चाहिये। इससे रोगी का दाह मिटता है।[1]

क्षय रोग में मानसिक चिकित्सा—चिकित्सा तीन प्रकार की है—**दैव-व्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय** (चरक० सू० अ० ११)। इनमें क्षय रोग में युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के साथ में शेष दोनों चिकित्सायें भी करनी पड़ती हैं। इनमें सत्वावजय चिकित्सा में रोगी के मन को प्रसन्न रखना होता है—

सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः। गीतवादित्र शब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणांसमुपासनैः। ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥
सत्येनाचारयोगेन मंगलैरप्यहिंसया। वैद्य विप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते ॥
—चि० अ० ७।१८६-१८८

रमणीय मित्र और स्त्रियों के दर्शन से, गाने-बजाने के सुनने से, कर्णप्रिय बातों से, प्रसन्नता एवं सान्त्वना से, गुरुओं की उपासना से, ब्रह्मचर्य से, दान-तप एवं देवपूजा से, सत्य का पालन करने से, सत्य का व्यवहार रखने से—मन और कर्म से सत्य बरतने पर, मंगलाचार से, अहिंसा से, वैद्य और ब्राह्मणों की पूजा से क्षयरोग निवृत्त होता है।

इस प्रकार से तीनों प्रकार की चिकित्सा का यथास्थान उपयोग है। शरीर और मन, ये दोनों रोगी होते हैं। रोग दो ही प्रकार के हैं—शारीरिक और मानसिक। इनमें मानसिक रोगों की चिकित्सा भी उपर्युक्त उपायों से की जाती थी। उसके लिए पृथक् या सामान्य रूप में प्रबन्ध था।

---

१. चरक० चि० अ० ४।१०७, ३।२६०-२६२।

नवाँ अध्याय

चरक संहिता कालीन भूगोल

"धातु ताम्राधरः प्रांशुर्देवदारु बृहद् भुजः ।
प्रकृत्यैवशिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥"—कुमार० सर्ग० ६।५१

चरक संहिता में हिमालय के लिये हिमवन्त या हिमवत् शब्द ही आये हैं। पालि साहित्य में भी यही दो नाम मिलते हैं। पाणिनि व्याकरण में भी हिमवत् शब्द ही आता है (४।४।११२)। हिमालय शब्द पीछे का है। ऋग्वेद में हिमवन्त शब्द ही है।[1] सूत्र स्थान के प्रारम्भ में ही जब ऋषि लोग रोगों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय जानने के लिये हिमालय के पार्श्व में एकत्रित हुए।[2] फिर चिकित्सा-स्थान के रसायन अध्याय के चौथे पाद में ऋषि लोग एकत्रित होकर इन्द्र के पास पहुँचते हैं। इस स्थान पर हिमालय की विशेषता का उल्लेख है, जिससे हिमालय का महत्व स्पष्ट हो जाता है, यहाँ पर दिये विशेषण हिमालय के महत्व को बताते हैं, यथा—

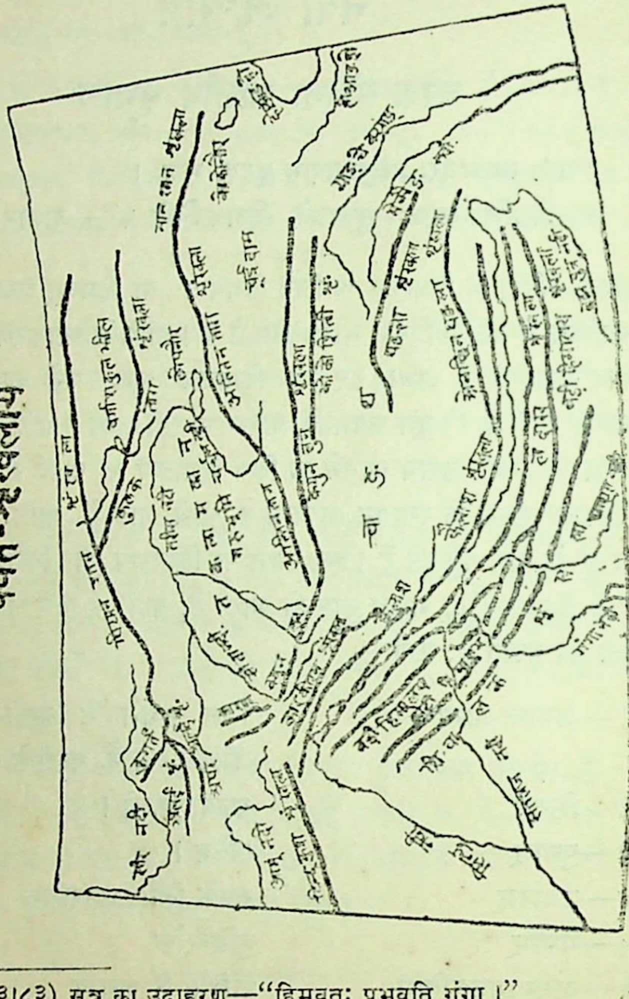
१—अपगत ग्राम्यदोषम्	जिस स्थान से बस्ती-शहर के दोष निकल गये हैं, बस्ती के दोषों से रहित।
२—शिवम्	कल्याणकारी।
३—पुण्यम्	पवित्र।
४—उदारम्	सबके लिये उदारचित
५—मेध्यम्	बुद्धिवर्धक
६—अगम्यमसुकृतिभिः	पापियों से अगम्य

१. यस्ये मे हिमवन्तो महन्तः—ऋग्वेद।

२. चरक० सू० अ० १।७।

७—गंगा प्रभवम्	गंगा का उत्पत्ति स्थान[३]
८—अमर-गन्धर्व-किन्नरानुचरितम्	देवता, गन्धर्व, किन्नरों से सेवित

हिमालय और उसके साथ की पर्वत-श्रृंखलायें



३. प्रभवति (४।३।८३) सूत्र का उदाहरण—"हिमवतः प्रभवति गंगा।"

(ख) 'तस्योत्संगे प्रणयिनस्त्रस्तगंगादुकूलां'–मेघदूत, पूर्व ६३।

(ग) "गंगास्त्रोतः परिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलतौषधि।
गृहन्मणि शिला सालं गुप्तावापि मनोहरम्॥"—कुमार० ६-३८

९—अनेक रत्न निचयम्	असंख्य रत्नों की खान (अनन्तरत्न-प्रभवस्य यस्य—कुमार० सर्ग १)।
१०—अचिन्त्य-अद्‌भुत प्रभावम्	अचिन्त्य और अद्‌भुत प्रभाव वाला
११—ब्रह्मर्षि-सिद्ध-चारणानुचरितम्	ब्रह्मर्षि, सिद्ध और चारणों से सेवित (यस्यां तपयन्ति सिद्धा—कुमार सर्ग १)
१२—दिव्यतीर्थ-औषधि-प्रभवम्	दिव्यतीर्थ, दिव्य औषधियों का उत्पत्ति स्थान[2]।
१३—अतिशरण्यम्	अतिशय शरण में जाने योग्य
१४—अमराधिपति गुप्तम्	अमराधिपति—इन्द्र से रक्षित
१५—हिमवन्तम्	हिमवान् हिमालय

और फिर चिकित्सा अध्याय (१९) के प्रारम्भ में हैं—वहाँ पर आत्रेय ऋषि ऋषियों से घिरे बैठे हैं।

इनके अतिरिक्त धनेशायतनस्य पार्श्वे (सि० अ० ३।३) और कैलास (चि० अ० २१।३) का भी उल्लेख है। ये दोनों स्थान भी हिमालय से सम्बन्धित हैं। पंचगंगा और चैत्ररथ, ये दोनों स्थान भी हिमालय से ही सम्बन्ध रखते हैं।

---

१. क—देवर्षिसिद्धगणकिन्नरनागयक्ष, विद्याधराध्युषितसानुरनन्तरत्नः—
नावनीतकम् के इस सन्दर्भ से तुलना कीजिये—

ग—दो नदियों के संगम के लिये टेहरी गढ़वाल में 'प्रयाग' शब्द प्रचलित है, यथा—
देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग—ये सब तीर्थ हैं। ये सब स्थान हिमालय में हैं।

ख—हिमालय के कालिदास ने देवभूमि और देवतात्मा शब्द प्रयोग किये हैं—
पितुः प्रदेशस्तव देवभूमयः—कुमार ५।४५।
अस्त्युत्तरस्यां दिशिदेवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः—कुमार १।१।

ग—हिमालय में औषधिप्रस्थ नगर है, सप्तर्षिगण कैलास से वहाँ पहुँचते हैं—पार्वती के विवाह के लिये—

"ते चाकाशमसिश्यामसुत्पत्य परमर्षयः।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा सम रंहसः॥"—कुमार० ६-३६।

इस प्रकार से हिमालय का विस्तृत भूगोल चरक संहिता से सम्बन्धित है। चरक संहिता में हिमालय के लिये सर्वत्र हिमवत् शब्द ही आया है, हिमालय नहीं।

हिमालय के लिए कवि कालिदास ने जो लिखा, वह इन सब विशेषणों की सत्यता का द्योतक है—कालिदास ने हिमालय को चलता-फिरता, चेतन वर्णित किया है; उसका शरीर खूब लम्बा-चौड़ा; गौर वर्ण और बलिष्ट है; उसके होठ लाल; भुजायें देवदारु के समान लम्बी; छाती चट्टान जैसी चौड़ी और दृढ़ है। उसके वन दुर्लभ वनस्पतियों तथा खानें बहुमूल्य रत्नराशियों एवं धातुओं से भरपूर हैं, जिनके कारण उसका कोष अतुल सम्पत्ति का भाण्डार है। उसकी पत्नी मैना प्रजापति के उच्च कुल की राजकन्या है। उसका पुत्र मैनाक और पुत्री पार्वती है। वह सद्गृहस्थ और फलते-फूलते बड़े परिवार का स्वामी है। उसके यहाँ नारद और सप्तर्षि जैसे ऋषि अतिथि पधारते हैं, उनकी सेवा करके प्रसन्न होता है—

हिमालय कहता है—'हे मुनिगण ! आपने मेरे गृह में पधार कर मेरा गौरव बढ़ाया है; जिससे मैं अपने आप मूर्ख होते हुए भी बुद्धि मानस, लोहमय होता हुआ भी हिरण्यमय-सा और भूमिस्थ होता हुआ भी स्वर्गारूढ़-सा समझने लगा हूँ। हे मुनियों ! अपने शिर पर धारण किये हुए गंगा के जलप्रपात तथा आपके चरणोंदक से मैं पवित्र हुआ। अब से सब प्राणी आत्मशुद्धि के लिए मेरा आश्रय लिया करेंगे। क्योंकि जिस स्थान को आप जैसे सज्जन अपनी पदधूलि से पवित्र कर देते हैं, वह तीर्थ हो जाता है। आपके चरण-स्पर्श से मेरा यह स्थावररूप तथा आपके आज्ञानुग्रह से मेरा यह चैतन्य रूप—दोनों ही आज कृतकृत्य हुए। मुझसे आपकी क्या सेवा बन सकती है ? मैं आपके लिये क्या नहीं कर सकता ? मालूम होता है कि मुझे केवल कृतार्थ करने के लिए ही आपने यहाँ पधारने का कष्ट किया है। स्वयं मैं, मेरी धर्मपत्नी, कुल की सर्वस्व यह मेरी कन्या सब आपकी सेवा में उपस्थित हैं। बस आज्ञा कीजिये।

इसके उत्तर में ऋषि बोले—तुमने जो कुछ कहा, सब ठीक है। तुम्हारे स्थावर रूप को शास्त्रों में साक्षात् विष्णु कहा है। यह ठीक ही है; क्योंकि तुमने चराचर को धारण किया हुआ है। अपने विमल विस्तार से निरन्तर फैलने वाली, समुद्र तट तक व्याप्त तुम्हारी कीर्त्तियाँ तथा नदियाँ लोक को पवित्र कर

रही है। परमेष्ठी महादेव का तथा तुम्हारा आश्रय प्राप्त कर त्रिलोकपावनी गंगा अपने आपको धन्य मानती है।[१]

हिमालय की भी भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वहाँ पर ग्राम्य-वस्ती के दोष नहीं हो सकते। उसकी ऊँचाई, वहाँ की वायु, देवदारु और सरल वृक्षों की उपस्थिति बस्ती दोषोंको बचाती है।[२] हिमालयके ऊपरकी वायु, गंगाका चट्टानों से टकराता जल प्राकृतिक रूप में शुद्ध होता है। इसी से शिव ने तपस्या के लिये इस स्थान का चुनाव किया था।

हिमालय अनेक रत्नों की खान है, इसी से हिमालय की विजय में राजाओं ने रघु को अनेक उपहार दिये। उन उपाहारों को देखकर रघु ने हिमालय का सार जाना था और रघु के पराक्रम को देखकर हिमालय ने रघु की शक्ति जानी

---

१. मूढ बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्। भूमेर्दिव्यमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात् ॥५५
अद्य प्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मिशुद्धये। यदध्यासितमहर्यद्भिः तद्धि तीर्थप्रचक्षते ॥५६
अवैमिपूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः। मूर्ध्नि गंगाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥५७
जंगमं प्रेष्यभावे वः स्थावरं चरणांकितम्। विभक्तानुग्रहं मन्येद्विरूपमपि मे वपुः ॥५८
कर्त्तव्यं वो न पश्यामिस्याचेतकिंनोपपद्यते। मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह ॥६१
एते वयमभीदाराः कन्येयं कुलजीवितम्। ब्रूत-ये मात्र वः कार्यमनास्थावाह्य वस्तुपु ॥६३
उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि। मनसः शिखराणाञ्च सदृशी ते समुन्नतिः ॥६७
स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हिते। चराचराणांभूतानां कुक्षिराधारतांगतः ॥६६

ऊच्छिन्नामलसन्तानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः।
पुनन्ति लोकान् पुण्यत्वात् कीर्त्तयः सरितश्चते ॥६९

यत्रैव श्लाघ्यते गंगा पादेन परमेष्टिनः। प्रभवेणद्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥७०
कुमार—६।४७–५५-५६–५७,

श्री वागीश्वर विद्यालंकार की पुस्तक 'कालिदास और उसकी काव्यकला' पृष्ठ २३२ से।

२. रघुवंश० ४।७५, ७६, कुमार० १।५४, ५५।

(क) श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य जब बदरीनाथ गये थे, तब उन्होंने बताया था कि उनका पण्डा अपना भोजन जैसा डिब्बे में रखकर पट बन्द होने के समय छोड़ गया था, पट खुलने पर उसको वैसा ही मिला—उसमें कोई विकार नहीं हुआ था।

(ख) देवदारु नमेरु [रुद्राक्ष या भोजपत्र के वृक्ष] एवं सरल आदि वृक्ष वायु को शुद्ध करते हैं। ये वृक्ष हिमालय में होते हैं, इससे वहाँ की वायु शुद्ध रहती है।

थीं[1]। कालिदास ने हिमालय को अनेक रत्नों की खान कहा है (अनन्तरत्न-प्रभवस्य यस्य—कुमार० १।३)।

हिमालय गंगाका प्रभव स्थान है (हिमवतः प्रभवति गंगा)। वास्तव में हिमालय से जितनी भी नदियाँ निकलती हैं (जो धारायें देवप्रयाग—ऋषिकेश की ओर बहती हैं) वे सब गंगा के नाम से कही जाती हैं। यहीं पर भागीरथी और मन्दाकिनी नामक पृथक् धारायें हैं, इसी प्रकार से ऋषिगंगा, धौलीगंगा, पिण्डारी गंगा आदि अनेक गंगायें हैं, जैसा कि पंचगंगा नाम से स्पष्ट होता है।[2]

इस प्रकार से यह शिव, पुण्य, उदार हिमालय—अपनी अनेक शृंखलाओं के साथ उत्तर-पश्चिम-पूर्व में प्रहरी के रूप में इस देश का सबसे ऊँचा पर्वत है। यह पर्वतमाला पश्चिम में सिन्धु नदी से लेकर पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक चली गई है। पश्चिम से पूर्व तक इसकी लम्बाई १५०० मील और उत्तर से दक्षिण तक इसकी चौड़ाई १०० से १५० मील है। इसका मुख्य भाग एकदम सीधा है और इसकी चोटियाँ सदा हिम-बर्फ से ढँपी रहती हैं, इसलिये इसको हिमालय या हिमवन्त कहते हैं।[3] हिमालय की भौगोलिक स्थिति का भारत की जलवायु पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हिमवत् की दक्षिणी सीमा कालसी (चुहड़पुर से ८ मील आगे चकरौता की ओर—जहाँ पर अशोक का शिलालेख है) समझी जाती है। हिमवत् प्रदेश से कोई तिब्बत, फर्ग्युसन तिब्बत और नेपाल और राय डैविड़ मध्यहिमालय लेते हैं। प्राचीन भूगोल के अनुसार हिमवन्त से अभि-प्राय सम्पूर्ण पर्वत शृंखला है, जो कि सुलेमान से प्रारम्भ होकर पंजाब के पश्चिम भाग के साथ-साथ भारतवर्ष की समग्र उत्तरी सीमा बनाती हुई पूर्व में आसाम और अराकान पर्वतमाला तक जाती है।

---

१. रघुवंश० ४।७९।

२. "हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्याः देवर्षि सेविताः।
नद्यः पाषाण विच्छिन्न विक्षुब्धाभिहतोदकाः॥" चरक० सू० अ० २७।२०५।

३. (क) मातृभूमि और उसके निवासी—लेखक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार पृ० १०९, पाँचवाँ प्रकरण।
(ख) कुमार० १।३।

भौगोलिक दृष्टि से हिमालय के तीन भाग महाभारत में बताये हैं[1]—

१—विशाल हिमालय—(बहिर्गिरि)

२—निचला हिमालय—मध्य हिमालय (अन्तर्गिरि)

३—वाह्य हिमालय (उपगिरि)।

विशाल हिमालय की चोटियों की ऊँचाई औसतन समुद्र की सतह से २०,००० फुट है। नन्दा देवी, त्रिशूल, केदारनाथ, बदरीनाथ, गंगोत्री आदि स्थान इसी में है। मध्य हिमालय की ऊँचाई समुद्र सतह से १२,००० से १५,००० फीट है। इस भाग की पर्वत श्रेणियाँ हिमालय की चोटियों के समानान्तर चलती हुई देहरादून के निकट शिवालिक पर्वत श्रेणियों तक चली जाती हैं। वाह्य हिमालय की ऊँचाई बहुत कम है। इस भाग की श्रेणियाँ सिन्धु नदी से ब्रह्मपुत्र तक हिमालय के समानान्तर चली गई हैं। शिवालिक के पीछे उत्तर प्रदेश का देहरादून जिला है।

ट्रांस हिमालय श्रेणियाँ—इसमें हिन्दूकुश, कर्राकोरम और कैलास—ये तीन श्रणियाँ हैं। हिन्दुकुश हिमालय के ठेट पश्चिम से प्रारम्भ होता है, यह उत्तर भारत को अफगानिस्तान से अलग करता है। गान्धार और वाह्लीक प्रदेश इसी में है, वाह्लीक का वैद्य कांकायन का था—जिसका चरक में उल्लेख है; यहीं का रहने वाला था। इसकी ऊँचाई १४,००० से १८,००० फुट तक है।

चैत्ररथ—कर्राकोरम कश्मीरकी उत्तरी सीमा से आरम्भ होकर हिन्दुकुश के पश्चिमी भाग से मिल गया है। इसी भाग में चैत्ररथ वन है, जहाँ पर भगवान् पुनर्वसु ने ऋषियों के साथ बैठकर रस सम्बन्धी कथा की थी। आजकल इस स्थान को चित्राल कहते हैं।

कैलास—कर्राकोरम के (प्राचीन नाम कृष्णगिरी) उभरे हुए भाग के पीछे ही सुप्रसिद्ध कैलास पर्वत है। यहाँ से मानसरोवर के दर्शन होते हैं। हिमालय से ६० मील उत्तर की ओर कैलास शिखर समुद्र तट से २२,०२८ फुट ऊँचा है। कभी-कभी इन श्रेणियों को हिमालय समझ लिया जाता है।

---

१. महाभारत—सभापर्व० अ० २७।३।

आज भी कुछ धार्मिक लोग कैलास को हिमालय का एक ही अंग समझते हैं, यद्यपि वह तिब्बत (त्रिविष्टप) है। चरक में कैलास का उल्लेख पृथक् है।[१]

धनेशायतन—इसका अर्थ कुबेर का स्थान है। मेघदूत से पता चलता है कि कुबेर का निवास अलका है (गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्-पूर्व मेघ० ७)। वर्त्तन्तु के शिष्य कुत्स को दक्षिणा देने के लिये भी रघु ने कुबेर की राजधानी पर आक्रमण करने की तैयारी की थी (कैलासनाथं तरसाजिगीषुः —रघु० ५।२८)। कैलास तिब्बत का क्षेत्र है, आज भी तिब्बत की नदियों में स्वर्ण मिलता है, स्वर्ण की राशि भी वहाँ बहुत है। कालिदास ने मेघदूत में अलका की समृद्धि का जो वर्णन किया है, वह कुबेर का निवास स्थान होने के लिये पर्याप्त है। इसी धनेशायतन के पार्श्व में पुनर्वसु आत्रेय ने भ्रमण किया था।

नावनीतक में भी त्रिविष्टप को देवर्षि सिद्धगण—किन्नर-नाग-यक्ष-विद्याधरों से सेवित, अनन्तरत्नों वाला कहा है। इस स्थान में ही आत्रेय, हारीत, पराशर, भेल, गार्ग्य आदि ऋषि एकत्रित हुए थे।[२]

इस प्रकार से त्रिविष्टप, कैलास, धनेशायतन, चैत्ररथवन, ये सब स्थान हिमालय के भिन्न-भिन्न भाग हैं। वेद और पालि साहित्य की भाँति चरक संहिता में भी हिमालय के लिये सब स्थानों पर हिमवत् या हिमवन्त शब्द ही मिलता है (ऋक्० १०।१२१।४, अथर्व० ६।२४।१, १२।१।११)।

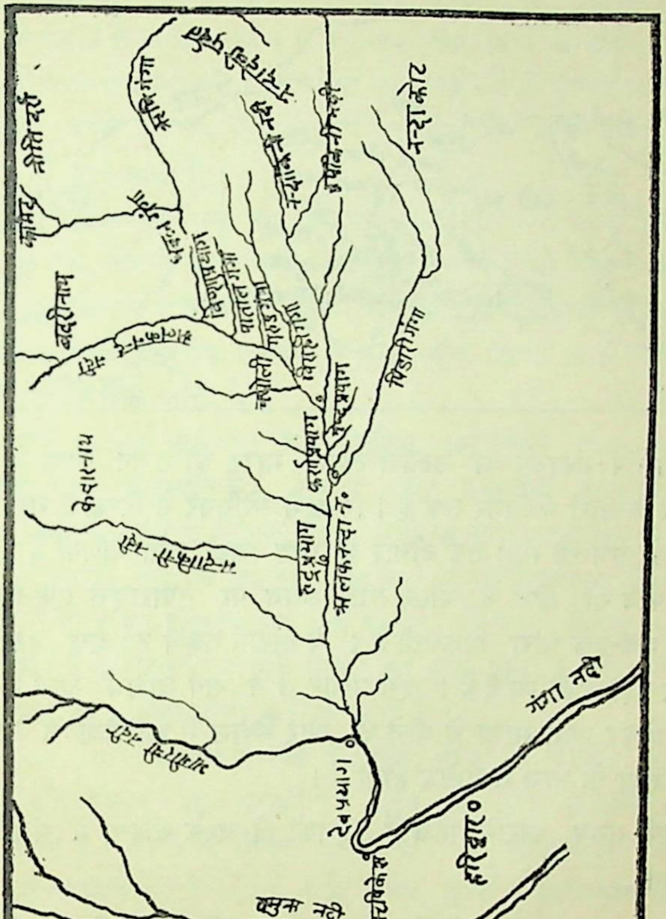
पंचगंगा—हिमालय को गंगा का उत्पत्ति स्थान कहा है (हिमवतः प्रभवति गंगा—काशिका)। हिमालय में जो भी स्थान अधिक ऊँचा, सदा बर्फ से ढँपा,

---

१. कैलास और हिमालय को मिलाने वाला क्रौंचरन्ध्र है। इस मार्ग से हंस मानसरोवर में आते-जाते हैं—जैसा कि कालिदास ने कहा है (हंसद्वारं भृगुपति यशोवर्त्मयत्क्रौंच-रन्ध्रम्—पूर्वमेघ ६१) परशुराम ने इसको बनाया था। यह काली कर्णाली के रास्ते से अल्मोड़ा होकर लीपूलेख दर्रे से कैलास की ओर जाने वाला मार्ग होना चाहिये। भारतसावित्री—पृ० २४५। कादम्बरी में भी क्रौंच द्वार से हंसों के जाने का उल्लेख किया है (क्रौंचादिव हंस निवहो निर्जगाम गुणगणः—कादम्बरी तारापीड़ वर्णन)। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने क्रौञ्चरन्ध्र की पहिचान नीतिपास से की है—कालिदास के सुभाषित—पृष्ठ ७७।

२. नावनीतक—भाग० १, प० १।

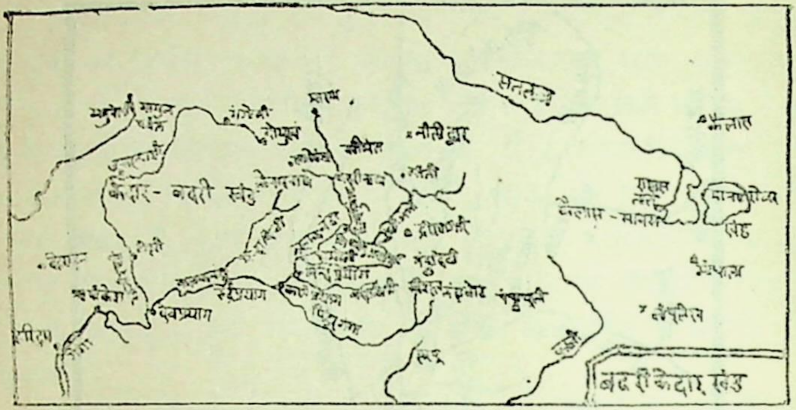
अधिक पवित्र, अधिक गुणकारी, कल्याणकारी है; वहाँ से ही गंगा की धारायें बही हैं। हिमालय से जो भी धारायें उत्तर-दक्षिण-पूर्व में बहती हैं—(जोशीमठ,



विष्णुप्रयाग—ऋषिकेश की ओर) वे सब पवित्र होने से गंगा के नाम से कही जाती हैं।

इनमें जो मुख्य पाँच धारायें हैं, उनको पंचगंगा कहते हैं, और जहाँ पर

दो धारायें मिलती हैं, वहीं पर प्रयाग माना है, इस प्रकार से इस क्षेत्र में पाँच गंगा और पाँच प्रयाग हैं।



इन सब गंगाओं का उत्पत्ति स्थान भारत की उत्तर सीमा में—गंगोत्री से लेकर पिण्डारी ग्लेसियर तक है। पिण्डारी ग्लेसियर से पिण्डारी गंगा निकलती है। प्रायः पाँच सौ मील तक दीवार की तरह खड़ी पर्वत श्रेणियाँ हैं। हिमालय के इस पाँच सौ मील के भीतर स्थान-स्थान पर तुषारावृत्त एक-एक शृंग है, जहाँ से एक-एक धारा निकलती है। ये धारायें बहती हुई एक दूसरी धारा से मिलकर बड़ी होती जाती हैं। इस प्रकार से ये सब धारायें अन्त में देवप्रयाग में एक होकर पर्वत माला से नीचे की ओर मैदान में ऋषिकेश के पार उतरती हैं और गंगा के नाम से प्रसिद्ध होती हैं।

इनमें मुख्य धारायें पाँच हैं, इनको ही चरक संहिता में पंचगंगा नाम दिया है।

१—अलकनन्दा (गंगा)—वर्त्तमान बदरीनाथ से तीन चार मील ऊपर वसुधारा नामक स्थान है। वहाँ से कुछ ऊपर गंगा अकलनन्दा के प्रवाह की सृष्टि हुई है। जैसा सब नदियों में होता है, इसी प्रकार प्रारम्भ में इसकी धारा भी बहुत ही क्षीण है। परन्तु रास्ते में छोटी-छोटी नदियों का जल अपने में समेटती हुई बदरीनाथ के पास इसका प्रवाह बहुत प्रबल और विशाल हो गया

है। बदरीनाथ के नीचे जोशी मठ के नीचे अपनी बहिन धवलगंगा से मिलती है। इन दोनों के संगम को विष्णुप्रयाग कहते हैं।

२—धवलगंगा—धवल गंगा नीतिघाट की ओर के हिमालय के ऊँचे शिखर से निकलती है अपने उद्भव से ३५-४० मील आने के बाद रेनी गाँव के नीचे ऋषिगंगा से मिलती है। ऋषिगंगा का जल लेने से इसका प्रवाह प्रबल हो जाता है। आगे १४-१५ मील बहकर जोशीमठ के नीचे विष्णुप्रयाग में अलकनन्दा से मिल जाती है।

अन्य गंगायें—**ऋषिगंगा** का उत्पत्ति स्थान नन्दा देवी पहाड़ है। नन्दा-देवी पर्वत के एक ओर से **मन्दाकिनी** निकलती है और दूसरी ओर से **ऋषिगंगा** निकलती हैं। ऋषिगंगा हिमालय की तुषार मण्डित चोटियों से निकलकर अन्यान्य जलधाराओं से पुष्ट होकर ढाक तपोवन से कुछ मील ऊपर उक्त रेनी गाँव के नीचे धवलगंगा से मिल जाती है।

नन्दा देवी पर्वत से ऋषिगंगा के अतिरिक्त **नन्दाकिनी गंगा**, **रूपकिनी गंगा**, **बिराही गंगा** निकलती है। विराही गंगा नन्दादेवी पर्वत के देवोगन नामक एक मनोरम स्थान से निकलती है। यहाँ पर सात प्राकृतिक तालाब हैं, ये तालाब ही विराही गंगा के उत्पत्ति स्थान हैं। इनसे निकलकर ऊपर-नीची पर्वतमालामें से होती हुई ईरानी पाना गाँव के पास पहुँचकर विराही ताल या गना ताल बनाती हैं। इस तालाब से निकल कर कुछ मील चलकर चमोली से कुछ मील ऊपर गंगा अलकनन्दा से मिल जाती है।

नन्दाकिनी गंगा— नन्दादेवी पर्वत के ठीक बीच से वर्फ की चट्टानों से निकलती है और १५-२० मील बहकर एक गाँव के ऊपर रूपकिनी गंगा के साथ मिल जाती है। रूपकिनी गंगा नन्दा देवी के दाहिनी ओर को तुषार मण्डित शाखा से निकलती है। बर्फ से नीचे रूप कुण्ड नामक कुण्ड है। इसी कुण्ड को इसका उत्पत्ति स्थान माना जाता है। प्रारम्भ में नन्दाकिनी और रूपकिनी की दूरी परस्पर बहुत नहीं रहती। एक ही पर्वत के एक ओर से एक बहती है और दूसरी ओर से दूसरी बहती है। नन्दाकिनी रूपकिनी से मिलकर पुष्ट होती है और २०-२२ मील बहकर **नन्दप्रयाग** में अलकनन्दा से मिल जाती है। ये सब गंगायें छोटी-छोटी हैं—इसी से सम्भवतः इनकी गणना नहीं हुई।

३—पिण्डारी गंगा—नन्द प्रयाग से १३-१४ मील नीचे कर्णप्रयाग है। पिण्डारी गंगा—पिण्डारी ग्लेसियर से निकलकर अन्य नदियों की भाँति स्थान-स्थान की जलधाराओं का जल अपने में समेटती हुई **कर्णप्रयाग** में अलकनन्दा से मिल जाती है। अलकनन्दा से मिलने वाली दूसरी सब धाराओं में पिण्डारी गंगा सबसे प्रबल और लम्बी है।

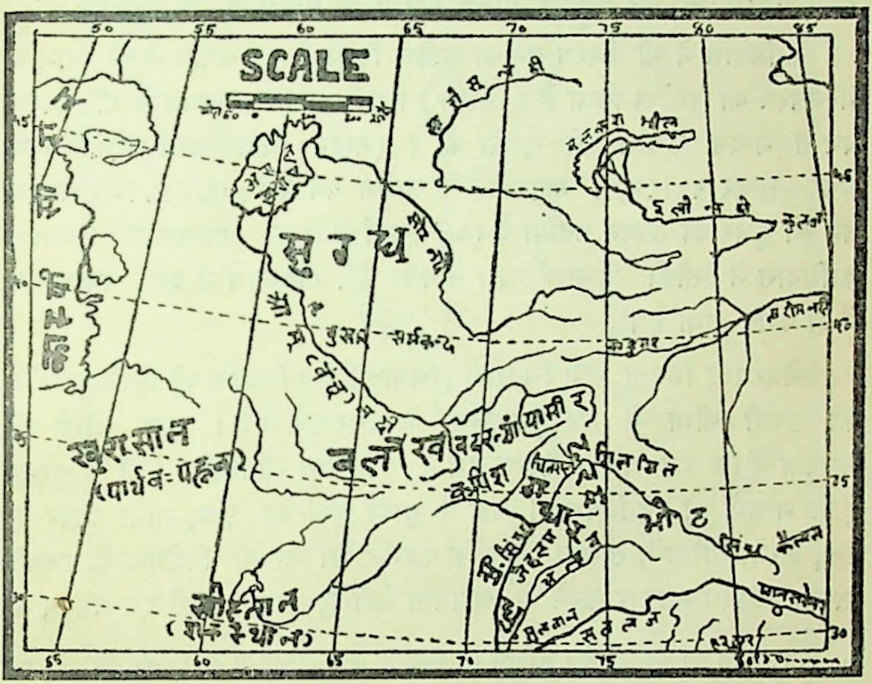
पीपल कोठी और जोशीमठ के बीच पाताल गंगा और गरुड़ गंगा (जो गरुड़ पर्वत से निकलती है) अलकनन्दा से मिलकर इसको पुष्ट बनाती हैं। अलकनंदा से पाताल गंगाका मिलन स्थान बहुत ही खतरनाक है।

४—मन्दाकिनी—कर्णप्रयाग में पिण्डारी गंगा के साथ मिलकर अलकनन्दा २०-२५ आगे चलती है। फिर अपने समान प्रबल प्रवाह वाली मन्दाकिनी से मिलती है। मन्दाकिनी केदारनाथ की ओर से निकल कर अनेक जलधाराओं से उपबृंहित होकर अलकनन्दा से मिलती है। अलकनन्दा और मन्दाकिनी का मिलन स्थान **रुद्रप्रयाग** है। इस प्रकार से अलकनन्दा रुद्रप्रयाग से १९-२० मील प्रवाहित होकर श्रीनगर और कीर्त्तिनगर आदि पहाड़ी कस्बों के समीप आ जाती है।

५—भागीरथी—आगे अलकनन्दा अन्य छोटी-बड़ी उपगंगाओं से मिलकर चालीस मील बहकर वेगवती **भागीरथी** के साथ मिलती है। भागीरथी गंगा गंगोत्री से निकलकर अलकनन्दा की तरह स्थान-स्थान पर छोटी-बड़ी नदियों से पुष्ट होकर १२०-१२५ मील स्वतन्त्र बहकर अलकनन्दा से मिलती है। अलकनन्दा और भागीरथी के मिलने के स्थल का नाम देवप्रयाग है। इसी देवप्रयाग में गंगा की परिपुष्टि हो गई है। हिमालय की प्रायः सब उपगंगाओं का जल देवप्रयाग में गंगा में समा जाता है। इसी से हिमालय को गंगा का उत्पत्ति स्थान कहा है (गंगाप्रभवम्—चरक० चि० १।४।३)। हिमालय से उत्पन्न होने के कारण ही गंगा पवित्र स्वर्ग का द्वार है।

गंगा की उपगंगायें अनन्त हैं, इनके संगम (प्रयाग) भी असंख्य हैं, इनमें मुख्य गंगायें पाँच हैं, और पाँच ही संगम (प्रयाग) मुख्य हैं; यथा—

पांच गंगायें	पांच प्रयाग
१—अलखनन्दा	१—विष्णुप्रयाग
२—धवलगंगा	२—नन्दप्रयाग
३—पिण्डारी गंगा	३—कर्णप्रयाग
४—मन्दाकिनी	४—रुद्रप्रयाग
५—भागीरथी	५—देवप्रयाग



चरक संहिता में इन्हीं पांच गंगाओं के स्थान को—पाँच प्रयागों का—पंचगंगा नाम से कहा है, जो कि आज का बद्री-केदार है, इसका प्रारम्भ देव-प्रयाग से होकर वसुधा धारा—गंगोत्री तक है। यही क्षेत्र चरक का पंचगंगा प्रदेश है। महाभारत के अनुसार पाण्डु ने अपनी दोनों पत्नियों—कुन्ती और माद्री के साथ यहीं वास किया था—यहीं पर उनकी मृत्यु हुई थी। पाचों पाण्डव भी इसी मार्ग से स्वर्ग में गये थे—इसी से इसको स्वर्ग का द्वार कहते हैं।

चैत्ररथ—चरक संहिता में चैत्ररथ वन का उल्लेख केवल एक ही स्थान पर है। रस विनिश्चय के लिए आत्रेय, भद्रकाप्य आदि ऋषि चैत्ररथवन में एकत्रित हुए (सू० अ० २६)।[१] चैत्ररथ वन नाम से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध चित्ररथ से है। कादम्बरी में महाश्वेता ने अपने वंश का परिचय देते हुए—गन्धर्वों के जो सोलह कुल बताये हैं, उनमें सोलहवाँ कुल चित्ररथ गन्धर्व का बताया है। वहीं पर चित्ररथ का निवास भूमि भी बताई है। साथ ही उसके द्वारा चैत्ररथ वन और अच्छोद नामक महासरोवर बनाने का भी उल्लेख है।[२]

कालिदास ने भी चैत्ररथ वन का उल्लेख किया है।[३] अश्वघोष ने सौन्दरानन्द में चैत्ररथ का उल्लेख किया है (१५।५०)। इसी प्रकार रामायण में भी चैत्ररथ वन से नन्दन उद्यान की तुलना की है (नन्दनं विविधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा—सुन्दर १५।११)। महाभारत के उद्योग पर्व में (१०९।८।९१०) चैत्ररथ वन को कुबेर का उपवन बताया है (अस्योद्यानं चैतरथम्—अमरकोश)। मेघदूत कालिदास ने इसीको 'वैभ्राज' नाम से कहा है। मल्लिनाथ ने इसे चैत्ररथ का में ही पर्याय माना है।[२]

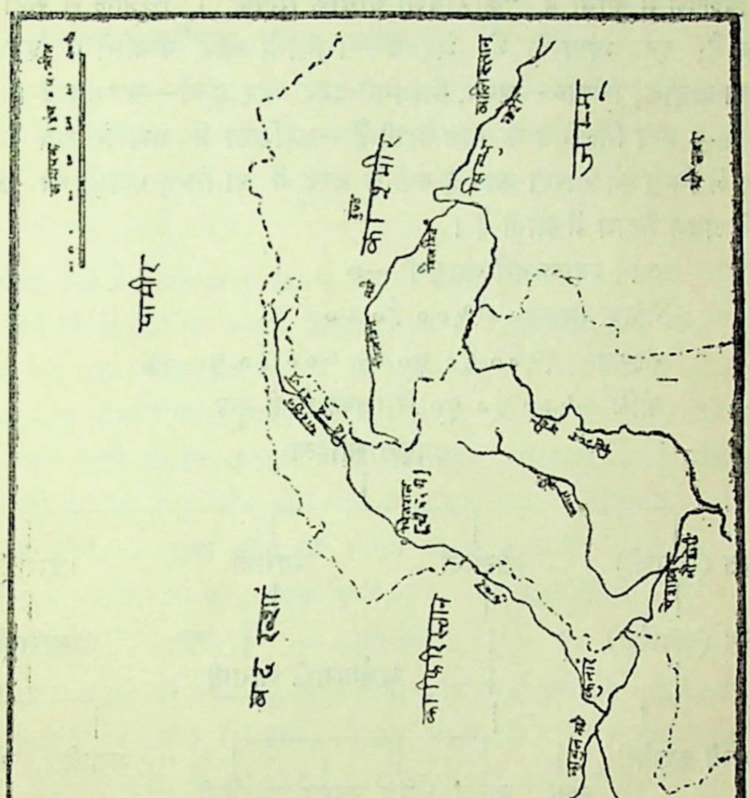
चैत्ररथ से मिलता नाम चितराल (चित्राल) है। चित्राल की स्थिति कश्मीर की उत्तरी सीमा में हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर-पूर्व में है। कुछ लोगों की मान्यता है कि यही प्राचीन चैत्ररथ वन है। चित्राल की स्थिति ऐसी ही सुरम्य है कि गन्धर्वों को वह प्रिय हो। वहाँ के सुन्दर सुगन्धित फूल, नाना प्रकार के फल, झरने, सरितायें, तालाब—जो कि कश्मीर की अपनी विशेषता है, इसको प्राचीन चैत्ररथ स्वीकार करने में सहायता देती है, यद्यपि अभी इस विषय में

१. चैत्ररथ वन का उल्लेख भेल संहिता में मिलता है—रससंख्या कथां चक्रुर्वने चैत्ररथे द्विजा—आत्रेय खण्डिकापीय। सूत्रस्थान पृष्ठ २। चरक संहिता में रस विनिश्चय चैत्ररथ वन में हुआ। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों प्रसंग एक ही स्थान के हैं।

२. तेनैवचेदं चैत्ररथं नामातिमनोहरं काननं निर्मितम्—कादम्बरी, महाश्वेताजन्म।
वैभ्राज्याख्यं विबुधवनितावार मुख्यासहायाः—उत्तरमेघ (चैत्ररथस्य नामान्तरम्—मल्लिनाथ)।

३. वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवन श्रीः। रघु० ६।४०
इससे स्पष्ट है कि चैत्ररथ वन बहुत सुरम्य उपवन एवं प्रेमीजनोंका क्रीड़ास्थल या।

कोई निश्चित नहीं कहा जाता। चित्राल एक पतली घाटी से गिलगिट के साथ जुड़ा है, यह मार्ग सबसे प्राचीन है। पुनर्वसु आत्रेय का विहार देखते हुए इसी प्रदेश में चैत्ररथ का होना ठीक भी है। इस स्थान पर जो भी ऋषि एकत्रित हुए हैं, उनमें वाह्लीक भिषक् कांकायन भी है। इससे अनुमान होता है कि



वाह्लीक (बल्ख) के समीप ही यह स्थान था, जिससे कांकायन को आने में सरलता रही होती। इसलिए उत्तर पश्चिम सीमा में ही कोई स्थान है, जो कि चितराल होना अधिक सम्भव है।

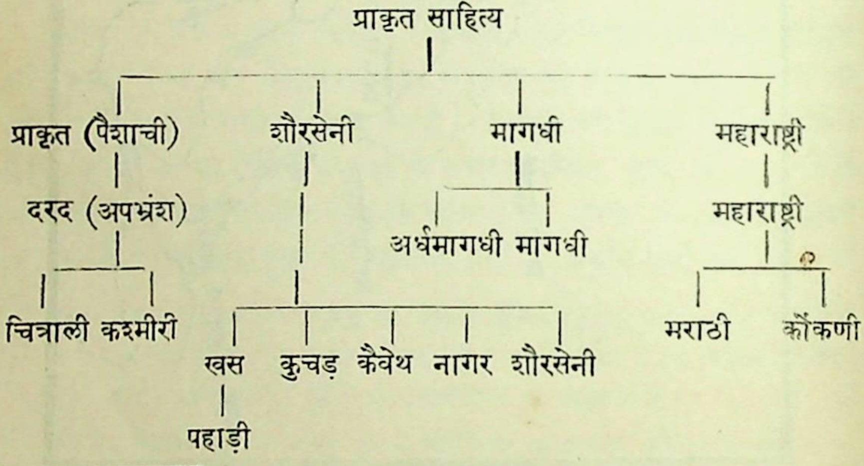
पाणिनि के गणपाठ में **'चित्ररथ वाह्लीकम्'** (२।२।३१) सूत्र है, इससे भी अनुमान होता है कि वाह्लीक के पास ही चैत्ररथ की स्थिति होनी चाहिये। ये दोनों परस्पर सटे जनपद थे, जैसे सिन्धु और सौवीर; कुरु और पंचाल। चरक में न गान्धार का नाम है, न कश्मीर का; वाह्लीक का नाम भी केवल कांकायन के विशेषण में आया है, "कांकायनो वाह्लीक भिषक्"। चित्राल से सटा प्रदेश दरद है; दरद भाषा के दो भेद हैं—चित्राली और कश्मीरी।[1] इस प्रकार बलख-वाह्लीक, चित्राल-चैत्ररथ, गिलगित-दरद और हूंजा—कश्मीर हैं। आज भी सिन्धु नदी गिलगित के पास बहती है—काशिका में प्रभवति सूत्र के उदाहरण में सिन्धु को दारदी कहा है क्योंकि दरद में ही सिन्धु पहाड़ों को छोड़कर सबसे प्रथम मैदान में आती है।

आर्य शाखा वर्ग वंशवृत्त[2]—*

वैदिक संस्कृत—१५०० ई० पू०

संस्कृत—१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक

पालि—५०० ई० पू० से पहली ईस्वी तक



---

१. प्रोफेसर गौतम लिखित—'सरल भाषा विज्ञान' पुस्तक के आधार पर भाषा विज्ञान के अनुसार प्राकृत भाषाओं में पैशाची भाषा की अपभ्रंश भाषा **दरद** है। दरद वर्त्तमान गिलगित प्रदेश का भाग ही दीखता है। सिन्धु नदी दरद में से होकर जाती है।

२. प्रो० गौतम लिखित—'सरल भाषा विज्ञान' पुस्तक के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण।

शासन व्यवस्था—चरक संहिता में शासन की इकाइयों के नाम आते हैं, इनसे उस समय की शासन-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है; यथा—

यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेणप्रजावर्तयन्ति- (वि० अ० ३।२०)

ये ह्येनद्ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुजन्ते- (वि० अ० ३।१८)

जब देश, नगर, निगम, जनपद के मुख्याधिकारी धर्म को छोड़कर अधर्म से प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं (तब जनपदोध्वंस होता है), जिस ग्राम, नगर, निगम, जनपद के लोग इस (लवण) का लगातार उपयोग करते हैं, उनके स्नायु ढीले हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट है, उस समय शासन तन्त्र में सबसे छोटी इकाई ग्राम थी और सबसे बड़ी इकाई देश था। डा० वासुदेवशरण जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'शासन का ठाट दशम प्रणाली पर आयोजित था। उसकी इकाई ग्राम थी, जिसका नेता ग्रामणी चारों दिशाओं में एक कोस तक रक्षा के लिए उत्तरदायी था। उसके ऊपर क्रमशः दशग्रामी, विंशतीश, और शतग्रामी (दूसरा नाम ग्राम शताध्यक्ष) थे, जो दस, बीस, सौ गाँव के शासक थे। उनके ऊपर अधिपति होता था—जो एक सहस्र गाँवों का शासक था। इस क्रमशः बढ़ते हुए मण्डल के भीतर ये अधिकारी कर वसूल करते और अर्थ दण्ड लेते थे और एक से दूसरे उच्चाधिकारी के पास उसे जमा करते थे।[1]

ग्राम—ग्रामों की रचना कुलों से होती थी। कई कुलों के समूह की संज्ञा ग्राम होती थी (ऋग्वेद १।४४।१०)। ग्राम का उल्टा अरण्य या जंगल था (तुलना कीजिये चरक के इस वचन से—'**ग्राम्यो हिवासोमूलमशस्तानां**—चि० अ० १।४।४)। ग्राम की रचना का स्पष्टीकरण डा० अग्रवाल ने किया है।[2]

दरद भाषा के दो भाग हैं—एक चित्राली और दूसरी कश्मीरी। इस विभाग से पता लगता है कि चितराल से सटा प्रदेश कश्मीर है और वाह्लीक, दरद, चितराल और कश्मीर ये सटे प्रदेश हैं।

१. हिन्दू सभ्यता—पृ० १४२।

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० १४६।

कुल—सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई कुल थी। जिसमें एक पिता या ज्येष्ठ भ्राता के, जो कुलप कहलाता था (ऋग्० १०।१७९।२), अनुशासन को मानते हुए कई सदस्य एक ही गृह में एक साथ रहते थे (ऋग्० ३।५३।६, २।४२।३)। गृह में घर के आदमी, इनकी गाय-भेड़-बकरियाँ सब रहती थीं।

ऋग्वेद में ग्राम से बड़ी 'विश्' नामक बस्ती थी, जिसका मुखिया विश्पति होता था (१।३७।८)। विश् से बड़ा समूह जन था (ऋग्० १०।८४।२)। मन्त्र (२।२६।३) में पुत्र, जन्म (कुल) विश् और जन इन चारों का उत्तरोत्तर क्रम से किया गया है।

राष्ट्र—देश या राज्य के लिये राष्ट्र शब्द था (ऋग्० ४।४२।१)।[1]

ग्राम का मुखिया ग्रामणी कहलाता था (स एषांग्रामणी—पाणिनि (५।२।७८)। प्रत्येक दस गाँव के ऊपर एक अध्यक्ष होता था, जिसे प्रत्येक गाँव का मुखिया अपने-अपने गाँव की सूचना पहुँचाता था। एक सौ अध्यक्षों के ऊपर दूसरा अधिकारी होता था, जो एक सौ गाँव की देखरेख करता था। इसके ऊपर एक हजार गाँव का अधिकारी था। इन सबके ऊपर मन्त्री था।[2]

दस ग्राम के अधिकारी को जीवन निर्वाह के लिए एक 'कुल' भूमि दी जाती थी (उतनी भूमि जितनी कि एक कुल के निर्वाह के लिए पर्याप्त होती थी), बीस गाँव के अधिकारी को पाँच कुल भूमि, एक सौ ग्राम के अधिकारी को एक गाँव जागीर के रूप में दिया जाता था ('जागीर' शब्द मुगलकाल का है)। एक हजार ग्राम के अधिकारी को एक नगर का लगान मिलता था।[3]

नगर—शासन की ग्राम से बड़ी इकाई नगर थी, पाणिनि के अनुसार प्राच्य और उदीच्य दोनों भागों में नगर का प्रयोग होता था। सूत्र (६।२।८९) में महानगर और नवनगर इन दो प्राच्य भारतीय नगरों का नाम मिलता है। नगर का रहने वाला नागरिक कहलाता था। नगर राजधानी होता था, इसके चारों ओर परिखा होती थी, द्वारयुक्त प्राकार या चारदीवारी बनाई

१. वही. पृ० ८२।

२. थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एन्सीयन्ट इण्डिया—पृ० ३०।

३. वही, पृ० ७९।

जाती थी। नगर में सभा, प्रपा, भोजनालय, पानगृह, समाज, प्रेक्षण या नाटक, खेल-तमाशों का स्थान, आयुधागार—कोषागार होता था।[1]

निगम—धनी व्यापारियों की आर्थिक सभाएँ निगम कहलाती थीं, बुनकर, तेली, माली आदि शिल्पियों के जातीय और आर्थिक संगठन श्रेणी कहलाते थे।[2] निगम का अध्यक्ष 'नैगमेय' कहलाता था। विनयपिटक में राजगृह के नैगमेय का उल्लेख आता है।

जनपद्—अथर्ववेद में कहा है कि पृथ्वी बहुत से जनों को धारण करती है, जो पृथक् धर्मों को माननेवाले और भिन्न भाषायें बोलने वाले हैं (१२।१।४५)। जन की यह पृथक् स्थिति समाप्त होकर एक जनपद बना, इस जनपद की एक भाषा और एक धर्म था। प्रत्येक जनपद इस बात में स्वतन्त्र था कि वह अपने यहाँ किस प्रकार की शासन प्रणाली को आश्रय दे। छान्दोग्योपनिषद् में जनपद शब्द आता है (५।११।५)। विभिन्न प्रदेश या राज्य जनमद कहलाते थे (६।३।८५)। जनपद का प्रतिनिधि उसका शासक राजा था, इसलिये जनपद की भक्ति और राजा की भक्ति समानार्थक थी (४।३।१००)। जनपद के अर्थ में विषय शब्द भी प्रचलित था (४।२।५२), विषय का अर्थ देश था।

जनपद् से नीचे उतर कर विषय (४।२।५२), नगर और ग्राम शासन के विभाग थे।[3] इससे स्पष्ट है कि देश में जनपद इकाई थी। आजकल की शासन प्रणाली के अनुसार ग्राम, परगना, तहसील, जिला ये चार ईकाईयाँ हैं, जिले के आगे कमिश्नरी और प्रांत हैं।

चरक के समय सबसे छोटी इकाई ग्राम थी और सबसे बड़ी इकाई जनपद थी, जो कि प्रान्त के रूप में थी।

पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है; जैसे प्रचांग्राम-नगराणाम् (७।३।१४) सूत्र में, और कहीं ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण

---

१. हिन्दू सभ्यता—पृ० १६०।

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० १०९।

३. हिन्दू सभ्यता—पृ० १२१-१२३, विषय का अर्थ देश है, विषयोदेशे (पाणिनि ४।२।५२) का उदाहरण काशिका में—शिबीनाविषयो देशः—शैव : दिया है।

किया है; जैसे वाहीक ग्राम (४।२।११७), उदीच्यग्राम (४।२।१०९) सूत्रों में।

पतंजलि ने कहा है कि कितनी जनसंख्या होने से ग्राम और कितनी जनसंख्या होने से नगर कहलाते हैं, इस विषय में लोक को प्रमाण मानना चाहिये। वैयाकरण को इसमें हुज्जत करना ठीक नहीं (ननु च भो य एव ग्रामस्तन्नगरम्। कथं ज्ञायते? लोकतः। तत्रातिर्विर्बन्धो न लाभः—७।३।१४)। वस्तुतः स्थिति यह थी कि पूर्वी भारत में गाँव बहुत छोटे और नगर बड़े जन सन्निवेश थे। उनका जनसंख्या कृत भेद सच्चा था। इसी से पाणिनि में भी पूर्व देश में ग्राम और नगर को पृथक् माना है। किन्तु वाहीक या पंजाब में ग्राम बहुत समूह जन केन्द्र थे। यूनानी भूगोल लेखकों ने लिखा है कि उत्तर पश्चिम प्रदेश में और पंजाब में ५०० ऐसे 'ग्राम' थे, जिनकी आबादी पाँच से दस सहस्र के लगभग थी। अतएव वाहीक देश में ग्राम और नगर का भेद बोलचाल में न रह गया था, वहाँ दस-दस सहस्र के नगर भी ग्राम ही कहलाते थे।[1]

चरक में आये जनपद——वैदिक साहित्य में नौ जनपदों के नाम आते हैं:—(१) गान्धार-सिन्धु के दोनों ओर विस्तृत, जिसकी दो राजधानियाँ—तक्षशिला और पुष्कलावती नामक नगरों में थी। (२) कैकेय—जहाँ के राजा अश्वपति विख्यात थे। (३) मद्र—जहाँ के आचार्य पतंजलि काप्य प्रसिद्ध थे। (४) वेश-उशीनर—मध्यदेश का उत्तरी भाग—जिसके आगे उदीच्य देश था। (५) मत्स्य—जो उपनिषदों के अनुसार विद्या का प्रसिद्ध स्थान था (२।४)। (६) कुरु। (७) पांचाल, (८) काशी। (९) कोशल। इन जनपदों से परे मगध और अंग भी थे, जिनमें ब्राह्मण धर्म का प्रसार पूरी तरह नहीं हुआ था। कुछ अनार्य लोगों के जनपद भी थे; जैसे–आन्ध्र, पुलिन्द, मूतिब, शबर, पुंड्र और नैषध।

पाणिनि के अनुसार (७०० ई० प्र०) भारतीय जनपदों की संख्या २२ है, इसमें कई नाम नये हैं; यथा सिन्धु, कच्छ, अश्मक, स्वात, कम्बोज, अवन्ति, शाल्व, भारत, यौधेय, वृजि, कलिंग एवं प्राच्य जनपद।

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ७७।

बौधायन धर्मसूत्र में (लगभग ६०० ई० पू०) सौवीर, आरट्ट (पंजाब), सुराष्ट्र, अवन्ति, मगध, अंग (पश्चिमी बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल) और (वंग) पूर्वी बंगाल इनका आर्यों के लिये प्रतिषेध किया है ।

बौद्ध युग के सोलह जनपदों के नाम अंगुत्तरनिकाय (१।२४३, ४।२५२, २५६, २६०) में दिये हैं, इनके नाम इस प्रकार हैं—१. अंग, २. मगध, ३. काशी, ४. कोशल, ५. वज्जि, ६. मल्ल, ७. चेटि (चेदि), ८. वंस (वत्स), ९. कुरु, १०. पंचाल, ११. मच्छ (मत्स्य), १२. सूरसेन, १३. अस्सक (अश्मक), १४. अवन्ति, १५. गन्धार, १६. कम्बोज ।[1]

चरक में आये नाम—चरक संहिता में जनपद या नगर के नाम दो स्थानों पर आते हैं, एक तो विमानस्थान में और दुसरे चिकित्सास्थान के तीसवें अध्याय में । इसमें चरक का तीसवाँ अध्याय दृढ़बल से पूरा किया हुआ है, दृढ़बल का समय तीसरी-चौथी ईस्वी पश्चात् है ।

विमान स्थान में आये नाम—**पंचाल क्षेत्रे काम्पिल्य राजधान्यां** (वि० अ० ३।३) पंचाल क्षेत्र की राजधानी काम्पिल्य, वाह्लीक, सौराष्ट्रिक, सैन्धव, सौवीरक (वि० अ० १।१८) हैं ।

चिकित्सा स्थान में आये नाम—वाह्लीक, पह्लव, चीन, शूलिक, यवन, शक, प्राच्य, सैन्धव, अश्मक, अवन्ति, मलयवासी, मध्यदेश (चि० अ० ३०।३१५-३१९) नाम आये हैं । चक्रपाणि ने 'तेषां शब्द से (तेषां तत्सात्म्य युक्तानि भेषजान्यवचारयेत्–३१९) जनपद और पुरुष दोनों का ग्रहण किया है ।

दृढ़बल कश्मीर प्रदेश का रहनेवाला था, अत्रिपुत्र का जीवन मुख्यतः उत्तरपश्चिमीय हिमालय में व्यतीत हुआ है, इसलिए उसी ओर के जनपदों का उल्लेख मिलता है । पंचाल का उल्लेख काम्पिल्य के कारण है, पूर्व और दक्षिण के दूसरे जनपदों का कोई उल्लेख नहीं । पंचाल से सटे कुरु का भी उल्लेख नहीं है । सम्भवतः कुरु और पंचाल एक ही हो गये हों या पंचाल की प्रसिद्धि से कुरु का भी ग्रहण हो जाता होगा । उपनिषद् में श्वेतकेतु का पंचालों की

---

१. हिन्दू सभ्यता—पृ० १७८ ।

परिषद् में जाने का (वृहदारण्यकोपनिषद्—६।२।१) तथा जनक वैदेह के यज्ञ में कुरु पंचाल के ब्राह्मणों के एकत्रित होने का उल्लेख मिलता है (वृहदारण्यक० ३।१।१)। इससे इतना स्पष्ट है कि पंचाल उस समय विद्वानों की भूमि थी। इसी से चरक में काम्पिल्य को 'द्विजातिवराध्युषित (वि० अ० ३।३) कहा है, इसका अर्थ चक्रपाणि ने महाजन सेवित किया है।

काम्पिल्य को छोड़कर शेष सब जनपद उत्तर-पश्चिम सीमान्त के ही हैं। भेल संहिता में गान्धार देश का नाम स्पष्ट है।[1] चरक में गान्धार का नाम नहीं है।

चरक संहिता के भौगोलिक नाम—१. वाह्लीक (बलख)—कम्बोज के पश्चिम, वक्षु नदी के दक्षिण और हिन्दकुश के उत्तर पश्चिम का प्रदेश वाह्लीक जनपद था। हिन्दुकुश के दक्षिण पूर्व में काबुल और सिन्धु नदी के कोने में पश्चिम गान्धार का जनपद था। वाह्लीक और गान्धार के बीच में गान्धार से मिला; उसके पश्चिम में कपिश जनपद था, जहाँ की सुरा और द्राक्षा की प्रशंसा थी।[2] पामीर के ठीक दक्षिण हुंजा और गिलगित प्रदेश का नाम दरद जनपद था, जहाँ से सिन्धु बहती है, इसीसे दारदी सिन्धुः कहते हैं।[3] सिन्धु कैलास के पश्चिम तट से निकल कर कश्मीर को दो भागों में बाँटती हुई गिलगित-चिलास (प्राचीन दरद देश) में घुसकर दक्षिण की ओर बहती हुई दरद के चरणों में पहली बार उतरती है।[4] दरद से उतर कर सिन्धु पूर्वी और पश्चिमी गान्धार की सीमा बनाती थी। पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी। कांकायन यहीं का वैद्य था, उसके लिए सदा कांकायनो वाह्लीक शब्द आया

---

१. गन्धारभूमौ राजर्षि नग्नजित्स्वर्गमागंगः।
संगृह्य पादौपप्रच्छ चान्द्रभागंपुनर्वसुम् ॥—पृ० ३०।

२. पाणिनि सूत्र (४।२।९९) के उदाहरण—कापिशायनी मधु, कापिशायिनी द्राक्षा।

३. प्रभवित (४।३।८३) सूत्र का उदाहरण—दारदी सिन्धुः—प्राचीनकाल में पारद यहीं से आता था। देखिये—रसरल समुच्चय-अ० १। पतितो दरदेदेशे गौरवाद् वह्नि वक्तः॥ दरद—शिंगरफ से पारा निकलता है।

४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ५०।

है। चरक में कांकायन को वाह्लीक के वैद्यों में श्रेष्ठ कहा है।[1] वाह्लीक का नाम बल्ख है।

२. यवन—भारत के उत्तर में अनेक उतार चढ़ाव के बाद ईसा की प्रथम शती से पहले या इसके लगभग अफगानिस्तान और पश्चिम पंजाब में छोटे-छोटे यूनानी राज्य बन गये थे। इनमें एक कपिशा में, दूसरा पुष्करावती में, तीसरा तक्षशिला में और चौथा शाकल (स्यालकोट) में। शाकल में मिनान्डर नाम का यूनानी राजा बड़ा विजेता हुआ, जिसने साकेत और मागधिका को जीत लिया, इसका उल्लेख महाभाष्य में पतंजलि ने (२०० ई० पूर्व) किया है (अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्)।

गौतम धर्मसूत्र में यवनों की उत्पत्ति (४।२१) शूद्रा स्त्री में क्षत्रियों से बताई है, रामायण (१।५४।२१) में हिन्दुओं का शक और यवनों के साथ युद्ध का उल्लेख है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी (४।१।१७५) में यवन का उल्लेख किया है, वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में यवनों को म्लेच्छ कहा है (१४।१८)। मिलिन्द पन्ह में यवन राज्य को निर्वाण योग्य कहा है।[2]

३. पह्लव—पार्थन जाति का पुराना नाम फारसी और संस्कृत नाम पह्लव था। इन पह्लवों ने अपना राज्य शक स्थान से हरउवती (हिरण्यवती नदी) की तरफ बढ़ाया। हरउवती के पह्लवों ने लगभग ईस्वी सन् शुरू तक अफगानिस्तान, पंजाब, सिन्ध पर राज्य किया। पह्लव राजा बौद्ध थे।

ईरान के उत्तरी पूर्वी पहाड़ी हिस्से को जिसे आजकल खुरासान कहते हैं (यहाँ से आनेवाली अजवायन खुरासानी अजवायन कहलाती है) वहाँ पर पार्थव नाम की एक ईरानी जाति थी। जिससे उस प्रदेश का नाम पार्थव पड़ा।

---

१. कांकायन का स्पष्टीकरण—देखिये पृष्ठ ७२।
(ख) इतिहास प्रवेश—पृ० ११४।

२. हिस्टौरिकल जिग्राफी ऑफ एन्सीयन्ड इण्डिया (विमल चरन लौ)—पृ० १३६।
(क) जलौका के सम्बन्ध में सुश्रुत में यवन प्रदेश का नाम आया है; म्लेच्छ शब्द चरक में नहीं, परन्तु भेल संहिता में आता है [म्लेच्छान्नहतबुद्धश्च—सूत्र—अव्याक्षितीय अध्याय, पृष्ठ ५]

पार्थवों की प्रधानता होने से सारे ईरान का नाम पार्थव हो गया।[1] महाभारत में पार्थव कुरुओं की ओर से लड़े थे, ये हैहयों के मित्र थे। जूनागढ़ के उत्कीर्ण शिलालेख में पह्लव के शासक का नाम शिविशक आया है। नासिक के शिलालेख में गौतमी पुत्र शातकर्णी को पह्लव, शक, यवनों का उन्मूलन करनेवाला कहा है।[2]

४. शक—तिब्बत और मंगोलिया के बीच चीन का जो भाग गरदन की तरह निकला हुआ है, वह कानस् प्रदेश है। कानस् से लेकर यूनान की सीमा तक (मध्य एशिया से कैस्पियन और काले सागर के उत्तर होते हुए) जो जातियाँ तब रहती थीं, वे सब शक परिवार की थीं। शक लोग भी आर्य थे—किन्तु तब तक वे खानाबदोश थे। कानस् की ठीक सीमा पर शकों से मिलती-जुलती एक जाति रहती थी, जिसे चीनी लोग यूशि कहते थे। संस्कृत के ग्रन्थों में उसी का नाम ऋषिक है।

हूणों ने जब ऋषिकों पर आक्रमण किया (१६५ ई० पूर्व), तब ये कम्बोज में आकर बसे। इनकी एक शाखा ने सुग्ध दोआब में शकों की बस्ती पर आक्रमण किया। यहाँ से खदेड़े शक हिन्दुकुश पार न करके हरात से घूमकर शकस्थान (सिस्तान) की पुरानी बस्ती में अपने भाई-बन्दों के पास जाने लगे। हरात और शक स्थान तब पार्थव राज्य में थे; इसलिए सबसे पहले पार्थवों का उनसे वास्ता पड़ा। पार्थव राजा मिथ्रदात (रय) ने उनका बुरी तरह दमन किया (१२३-८८ ई० पू०)। उस दमन से घबड़ाकर शकों ने शक स्थान से भारत की ओर मुँह फेरा और हमारे सिन्धु प्रान्त पर अधिकार कर लिया; (लगभग १२०–११५ ई० पू०)। सिन्ध प्रदेश में उन्होंने अपने पैर ऐसे जमाये कि वे हमारे देश को शकद्वीप कहने लगे और पश्चिमी लोग उसे हिन्दी शकस्थान (Indio-Skyihia) कहने लगे। भारत में वह शकों का केन्द्र था और वहीं से वे दूसरे प्रान्तों में बढ़े।[3]

---

१. इतिहस प्रवेश—जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० १२३।

२. हिस्टौरीकल जिग्रोफी ऑफ एन्सियन्ड इण्डिया, ११४।

३. इतिहास प्रवेश—पृ० ११९-१२०।

पार्थवों की प्रधानता होने से सारे ईरान का नाम पार्थव हो गया।[1] महाभारत में पार्थव कुरुओं की ओर से लड़े थे, ये हैहयों के मित्र थे। जूनागढ़ के उत्कीर्ण शिलालेख में पह्लव के शासक का नाम शिविशक आया है। नासिक के शिलालेख में गौतमी पुत्र शातकर्णी को पह्लव, शक, यवनों का उन्मूलन करनेवाला कहा है।[2]

४. शक—तिब्बत और मंगोलिया के बीच चीन का जो भाग गरदन की तरह निकला हुआ है, वह कानस् प्रदेश है। कानस् से लेकर यूनान की सीमा तक (मध्य एशिया से कैस्पियन और काले सागर के उत्तर होते हुए) जो जातियाँ तब रहती थीं, वे सब शक परिवार की थीं। शक लोग भी आर्य थे—किन्तु तब तक वे खानाबदोश थे। कानस् की ठीक सीमा पर शकों से मिलती-जुलती एक जाति रहती थी, जिसे चीनी लोग यूशि कहते थे। संस्कृत के ग्रन्थों में उसी का नाम ऋषिक है।

हूणों ने जब ऋषिकों पर आक्रमण किया (१६५ ई० पूर्व), तब ये कम्बोज में आकर बसे। इनकी एक शाखा ने सुग्ध दोआब में शकों की बस्ती पर आक्रमण किया। यहाँ से खदेड़े शक हिन्दुकुश पार न करके हरात से घूमकर शकस्थान (सिस्तान) की पुरानी बस्ती में अपने भाई-बन्दों के पास जाने लगे। हरात और शक स्थान तब पार्थव राज्य में थे; इसलिए सबसे पहले पार्थवों का उनसे वास्ता पड़ा। पार्थव राजा मिथ्रदात (रय) ने उनका बुरी तरह दमन किया (१२३-८८ ई० पू०)। उस दमन से घबड़ाकर शकों ने शक स्थान से भारत की ओर मुँह फेरा और हमारे सिन्धु प्रान्त पर अधिकार कर लिया; (लगभग १२०–११५ ई० पू०)। सिन्ध प्रदेश में उन्होंने अपने पैर ऐसे जमाये कि वे हमारे देश को शकद्वीप कहने लगे और पश्चिमी लोग उसे हिन्दी शकस्थान (Indic-Skythia) कहने लगे। भारत में वह शकों का केन्द्र था और वहीं से वे दूसरे प्रान्तों में बढ़े।[3]

---

१. इतिहस प्रवेश—जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० १२३।

२. हिस्टौरीकल जिओग्रोफी ऑफ एन्सियन्ड इण्डिया, ११४।

३. इतिहास प्रवेश—पृ० ११९-१२०।

५. चीन—हमारे देश में जिस समय अशोक राज्य कर रहा था, लगभग उसी समय चीन में एक बड़ा राजा हुआ। उसने वहाँ के नौ राज्यों को जीतकर सारे चीन को एक कर दिया। चीन के उत्तर में इर्तिश और आमूर नदियों के बीच हूण लोग रहते थे- इनके आक्रमण को रोकने के लिए इसने अपने देश की समूची उत्तर सीमा पर एक मजबूत दिवार बनवाई थी।

कानसू प्रान्त के पश्चिम लोपनोर और तामीर देश हैं, जिसे अब चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। तुर्क और हूण एक ही जाति के नाम हैं। इसी प्रान्त के उत्तर में थियानशान पर्वत है, जिसे उत्तर कुरु कहते हैं। सुश्रुत में (चि० अ० २९।१७) और किरातार्जुनीयम् में (२रा सर्ग) इसका नाम आया है।[1]

६. शूलीक—काशगर और चीन के बीच का प्रदेश चरक संहित का शूलिक प्रदेश है, इसको आजकल सिंकियांग नाम दिया गया है, इस प्रदेश में माध्वीक और अंगूरी शराब पीने का आम रिवाज था।[2]

७. सिन्धु—सिन्धु नद के पूर्व में सिन्धु सागर दोआब का नाम सिन्धु था। चरक में इस देश के निवासियों को क्षीरसात्म्य वाला कहा है (क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः ३०।३१७)। महाभारत में सिन्धु के राजा जयद्रथ को भी क्षीर भोजी कहा है (द्रोण पर्व ७६।१८)। जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिन्ध का उत्तरी भाग और उसके उपर के जनपद) का राजा था। क्षीर भोजन दक्षिण सिन्धु की विशेषता समझा जाता था। उस समय सिन्धु और सोवीर मिले दीखते हैं।

पानंदेशे सूत्र (पाणिनि ८।४।९) तथा चन्द्रव्याकरण (६।४।१०९) दोनों में

---

१. वही, पृ० ११८—महाभारत में भी ये नाम आये हैं—
पहलवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनान्शकान्
हारहूणान् चीनांश्च तुषारान् सैन्धवांस्तथा।
जागुडान् रमठान् मुण्डान् स्त्रीराज्यानथतद्गुणान्। (वनपर्व अ० ४८।२०-२)

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० १२६।
शूलिक एक जाति भी थी—उशना (४२) ने इसे ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्रा नारी की अवैध सन्तान कहा है; और दण्डित लोगों को शूली देनेवाला लिखा है। वैखानस (१०।१३) में इसे क्षत्रिय पुरुष एवं शूद्र नारी के गुप्त प्रेम का फल कहा है—धर्मशास्त्र का इतिहास [हिन्दी अनुवाद] पृ० १३८।

है। इसका उदाहरण देते हुए चान्द्रवृत्ति में कहा है कि उशीनर के लोगों में दूध पीने का आम रिवाज़ था। चेनाब के पश्चिम में सिन्धु जनपद और पूरब में उशीनर जनपद (झंग मघियाना) था। वर्त्तमान मिन्टगुमरी की सहिवाल गायें आज भी प्रसिद्ध हैं। सिन्ध की गायें पर्याप्त दूध देती हैं।

काशिका में सक्तु सिन्धु और पान सिन्धु, इन दो उदाहरणों से सिन्ध के दो भागों का उल्लेख है। ये दोनों नाम भोजन की स्थानीय आदतों को लेकर चालू हुए थे। जहाँ के लोग सत्तू खाने के अभ्यासी थे वह भाग सक्तुसिन्धु और जहाँ के लोग पान के शौकीन थे वह पान सिन्धु कहलाने लगा। मालूम होता है कि ये नाम उत्तरी सिन्धु और दक्षिणी सिन्धु के लिए प्रयुक्त होते थे (सक्तुप्रधानाः सिंधवः सक्तुसिन्धवः, पानप्रधाना सिंधवः पानसिंधवः)। उत्तरी सिन्धु दुआब में जिला डेरा ईस्माईल खाँ की तरफ आज भी सत्तू वहाँ का जातीय भोजन है, स्त्रियाँ सत्तू की सौगात भेजती हैं और यात्रा में यात्री सत्तू बाँधकर ले जाते हैं[1]। इसी से चरक में पढ़ते हैं **'मन्थश्चोत्तरपश्चिमे'** (चरक चि० अ० ३०); उत्तर पश्चिम में मन्थ (घी से मिला सत्तू जब पानी में घूल जाता है– तब मन्थ कहा जाता है) की प्रथा है। मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र का यवनों से यहाँ युद्ध हुआ– लिखा है—इसमें सिन्धु के दक्षिण किनारे पर युद्ध हुआ था।

अलबेरूनी के अनुसार चेनाब से मिलने से पूर्व सिन्धु नदी का दुआब सिन्धु कहलाता था– यही उत्तरी सिन्धु था। अलोर तक का निचला भाग पंचनद कहलाता है, अलोर से यह समुद्र की ओर मुख करती है। सिन्धु नद जिस भाग में बहता है, उसे सिन्धु कहते हैं, वहाँ के निवासी सैन्धव कहलाते हैं।[2]

८. **सौवीर**—पाणिनि ने इस जनपद को एकाविराज जनपद कहा है। वर्त्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध-नद के निचले काँठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरुव (संकृत रोरुक), वर्त्तमान रोड़ी है। रोड़ी के उस पार सिन्धु के दाहिने का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है, जिसका पुराना नाम शार्कर था, जो पाणिनि के 'शर्करायाः वा' (४।२।८३)

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६३।

२. हिस्टौरीकल जिग्रोफी ऑफ एन्सीयन्ट इण्डिया—पृ० १२७।

सूत्र में आया है। पाणिनि ने सौवीर देश के गोत्रों का सामान्य उल्लेख किया है। वहाँ के फांटाहृति और मिमत गोत्रों का विशेष उल्लेख भी एक सूत्र में आया है (४।१।१५०)। मिमत गोत्र में उत्पन्न मेमत या मैमतायिनि कहलाता था, फान्टाहृति गोत्र में उत्पन्न फांटाहृतायनि कहलाता था। चरक में मैमतायिनि शब्द आता है (सूत्र स्थान १।१३)। सिन्धी नामों के पीछे जो आनी प्रत्यय देखा जाता है, उसका मूल अष्टाध्यायी में आयनि के रूप में है (इसीसे कृपलानी, वस्वानी, हिंगोरानी—ये शब्द मिलते हैं)।[1]

महाभारत के आदिपर्व में यवनाधिप दत्तमित्र (यूनानी नाम दि मीत्रियस) ने तीन वर्ष में गंधर्व देश (वर्त्तमान गांधार) जीत कर फिर सौवीर देश जीत लिया था (आदि पर्व १४१।२१-२३)।

धूमदिगण में सौवीर जनपद के कूल या समुद्री तट का उल्लेख है (कूलात्सौवीरेषु—४।१।१२७)। यह कोटली से लेकर समुद्र तट तक फैले हुए सिन्ध के मुहाने या नदी मुख का पुराना नाम था। श्युआन् चुआंग (सातवीं शती) ने सौवीर के चार भाग कहे हैं—उपरला, निचला, बिचला और कच्छ। उपर के प्रदेश सौवीर की राजधानी रोरुक (वर्त्तमान अलोर = अरबी अल् + रोर अर्थात् रोर नगर) थी। अलोर उजड़कर पास में रोरी बनी। बिचला सौवीर ब्राह्मण जनपद था और निचला सौवीर कूल था, चौथा भाग कच्छ स्वतन्त्र जनपद था।[2]

रुद्रदामन के जूनागढ़ के शिलालेख (१५० ईस्वी पश्चात्) में सौवीर को जीतने का उल्लेख है। सिन्धु सौवीर सटे हुए जनपद थे, जैसे कुरु और पंचाल थे। सौवीर पर क्षत्रपों का राज्य था, फिर गुप्तों का राज्य हुआ।

९. सौराष्ट्र—प्राचीन भारत में सौराष्ट्र के मनुष्य बहुत प्रसिद्ध थे। रामायण में कई स्थानों पर (आदि काण्ड० १२, अयोध्या का० १०, किष्किन्धाकाण्ड—६१) में, पतंजलि के महाभाष्य में (१।१।१) इसका उल्लेख आया है। पद्मपुराण

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ६४।

२. सौवरी कूल ही सम्भवतः कलात है, जहाँ पर समुद्र का किनारा है। रस ग्रन्थों में समुद्र के अन्दर से गन्धक प्राप्ति का जो वर्णन है, वह सम्भवतः इसी समुद्री किनारे से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि आज भी कलात में थोड़ी मात्रा में गन्धक मिलती है।

के अनुसार (१९०।२) यह गुजरात है। भागवत पुराण में (१।१०।३४, १।१५।३९) इसको एक देश कहा है। बृहत्संहिता में (१९।१९) इसका नाम आता है। काव्य मीमांसा में राजशेखर ने इसका उल्लेख किया है, इसके साथ भरुकच्छ, अनार्त्त और काठियावाड़ के दूसरे नगरों का नाम भी दिया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार सौराष्ट्र के हाथी अंग और कलिंग के हाथियों की अपेक्षा निकम्मे होते हैं। शरभंग जातक (जातक ५।१३३) के अनुसार सौराष्ट्र के किनारे पर शतोदिका नदी बहती है और उसके किनारे सन्त रहते थे। इस स्थान की समृद्धि व्यापार के कारण थी (मिलिन्द प्रश्न—३३१।३५९, जातक ३।३४६, ५।१३३)। चीनी यात्री ह्युआन् च्यांग के अनुसार सौराष्ट्र की राजधानी पर्वत के नीचे तराई में थी—सम्भवतः यह राजधानी जूनागढ़ होगी (प्राचीन गिरनार)। महाभारत के समय यादव सौराष्ट्र पर राज्य करते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र से पता चलता है कि यह एक गण राज्य था। मिनान्डर (मिलिन्द) ने इसको जीता था। सौराष्ट्र प्रदेश सिन्धु के मुहाने से लेकर कच्छ की खाड़ी तक का प्रदेश था। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ वाले शिलालेख में सौराष्ट्र का उल्लेख है (४५५-४८० ईस्वी पश्चात्)। उदयगिरी के शिलालेख से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त किस प्रकार से रात दिन सौराष्ट्र की रक्षा के लिए चिन्तित था। समुद्रगुप्त के समय शकों का राज्य सौराष्ट्र पर था। रुद्रदामन के शिलालेख से स्पष्ट है कि सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य का एक अंग बन चुका था।[1]

चरक में सौराष्ट्र का नाम सिन्धु सौवीर के साथ आता है, इससे अनुमान होता है कि यह उससे लगा हुआ प्रदेश है (वाह्लीक सौराष्ट्रिक सैन्धव सौवीरकाः—वि० अ० १।१८)। यहाँ के लोग दूध के साथ भी लवण खाते हैं। आज भी काठियावाड़ में खिचड़ी, दूध, कढ़ी एक साथ खाने की प्रथा है, खिचड़ी और दूध इनका जाति भोजन है। काठियावाड़ की गायें (देसाण-गाय) दूध के लिए प्रसिद्ध हैं। जूनागढ़ की गायें अपने व्यांत तक दूध देती हैं। जूनागढ़ की गायें दूध में बहुत प्रसिद्ध हैं।

---

१. हिस्टौरिकल जियोग्रोफी ऑफ एन्सियण्ट इण्डिया—पृ० २९८-२९९।

१०. अश्मक—पाणिनि ने अश्मक को एकाधिराज जनपद कहा है। पाणिनि सूत्र में (४।१।१७१) में अश्मक का नाम आता है। अश्मक की राजधानी अन्य ग्रन्थों के अनुसार प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी। इससे गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत शृंखला तक अश्मक जनपद का विस्तार ज्ञात होता है।[1] सुत्तनिपात्त के अनुसार यह गोदावरी के किनारे स्थित था। डॉ० भण्डारकर का कहना है कि सुत्तनिपात्त के अनुसार ब्राह्मण गुरु को भावरी कहते थे, जो कोशल को छोड़ कर गोदावरी के किनारे अश्मक राज्य में रहने लगे थे। राय डेविड का कहना है कि अश्मक राज्य अवन्ति के पूर्व-पश्चिम में सटा हुआ है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र का अशक राज्य सामान्यतः अश्मक समझा जाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अश्मक पाण्डवों की ओर से लड़े थे। यूनानियों ने यहाँ के निवासियों को अशपेशियन कहा है, ईरानी भाषा का अशप शब्द संस्कृत के अश्व से मिलता है।[2] हाथी गुंफा के शिलालेख से पता चलता है कि खारवेल राजा ने एक बड़ी सेना लेकर अशक—अशिक नगर पर आक्रमण किया था। अश्मक सम्भवतः ग्रीक लेखकों के अनुसार अशकनस है, जो सरस्वती के पूर्व में—स्वात घाटी से २५ मील दूरी पर स्थित है। मार्कण्डेय-पुराण और बृहत् संहिता के अनुसार अश्मक उत्तर-पश्चिम में है। पालि के प्राचीन ग्रन्थों में अश्मक को अवन्ति से सटा बताया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामी ने अश्मक की पहिचान महाराष्ट्र से की है।[3]

११. अवन्ति—यह मध्य भारत का प्रसिद्ध जनपद था, पाणिनि ने इसको एकाधिराज जनपद कहा है। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी (गणपाठ—४।२।८२, ४।२।२२७)। अवन्ती को आजकल मालवा, निगाड़ और मध्यप्रान्त से सम्बन्धित भाग कह सकते हैं। डॉ० भण्डारकर ने कहा है कि अवन्ति के दो भाग थे—उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिण अवन्ति प्रदेश

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ० ७६।

२. हिस्ट्रौरीकल जिग्रोफी ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया—पृ० १४२।

३. वही पृ० ५१।

की राजधानी माहिष्मती थी ।[१] दीघनिकाय (महागोविन्द सुत्त) के अनुसार अवन्ति की राजधानी माहिस्सती थी । इससे पता चलता है कि अवन्ति दक्षिणापथ तक विस्तृत थी ! महाभारत में अवन्ति और माहिष्मती दो भिन्न देश कहे हैं (सभापर्व ३१।१०) ।

बुद्ध-काल में अवन्ति मुख्य केन्द्र था । बहुत से वृद्ध और वृद्धायें वहाँ रहती थीं और उत्पन्न हुई । महाकाचायन उज्जयिनी में उत्पन्न हुए थे । बिम्बिसार के समय अवन्ति का राजा प्रद्योत था, जिसकी चिकित्सा जीवक ने की थी, यही चण्डप्रद्योत था, जिसकी पुत्री वासवदत्ता को कौसाम्बी के राजा उदयन ने हरा था (मेघदूत–पूर्वमेघ–३३)[२] । अश्मक और अवन्ति के लोगों को तैल और अम्ल सात्म्य है (चरक० चि० अ० ३०।३१७) । इससे भी स्पष्ट है कि ये दोनों जनपद परस्पर सटे थे । अवन्त्यश्मक समास पाणिनि में मिलता है ।

१२. प्राच्य—दक्षिणी-पूर्वी पंजाब में थानेश्वर-कैथल-करनाल-पानीपत का भूभाग भरत जनपद था । इसी का दूसरा नाम प्राच्य भारत भी था । क्योंकि यहीं से देश के उदीच्य और प्राच्य दो खण्डों की सीमाएँ बँट जाती थीं । शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य दोनों देशों के बीच की सीमा थी । अमरकोश से ज्ञात होता है कि शरावती नदी गुप्तकाल में भी प्राच्य और उदीच्य दोनों देशों के बीच विभाजक रेखा मानी जाती थी । शरावती की ठीक पहचान नहीं हुई । सम्भवतः अम्बाला जिले में बहने वाली घग्घर नदी शरावती कही जाती थी, वही प्राच्य और उदीच्य की सीमा को अलग करती थी ।

पाणिनि के समय गान्धार से मगध तक भाषा का अखण्ड क्षेत्र फैला हुआ था । उस समय उसीके प्राच्य और उदीच्य दो स्वाभाविक भाग माने जाते थे ।

वाह्लीक और गान्धार प्राचीनकाल में भारत के भूमि भाग थे । पाणिनिकालीन संस्कृत भाषा का क्षेत्र प्राच्य तक फैला हुआ था । पाणिनि का समय लगभग ५०० ई० पूर्व है । इसके दो शती पीछे यवनों और शकों का आगमन इस देश में हुआ । शक और यवनों के काल में वाह्लीक और गान्धार के प्रदेश

---

१. शंकरदिग्विजय में पढ़ते हैं—**गच्छन् खस्टत्या पुरमालुलोके माहिष्मतीं मण्डन राजधानीम् ॥**

२. हिस्ट्रौरीकल जिग्रोफी ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया—पृ० ५२ ।

भारतवर्ष की राजनीतिक सीमा से कुछ समय के लिए अलग आ पड़े थे। इसलिए पतंजलि ने महाभाष्य में शक और यवनों के प्रदेशों को आर्यावर्त्त की सीमा से बाहर कहा है। प्राच्यों को मत्स्य सात्म्य कहा है (पाठान्तर में क्षार सात्म्य कहा है—चरक० चि० अ० ३०।३१७)। इससे तो आधुनिक बंगाल-बिहार का अनुमान होता है। धर्मशास्त्र के अनुसार प्रयाग के पूर्व में प्राच्य है। काव्यमीमांसा में इसको बनारस के पूर्व में कहा है, वात्स्यायन कामसूत्र में अंग के पूर्व में कहा है[1]।

१३. **मलय**—मलयवासियों के लिए कन्द, मूल, फल सात्म्य कहे हैं और दक्षिण में पेया को सात्म्य बताया है (चि० अ० ३०।३१८)। कावेरी नदी के आसपास का प्रदेश मलय है। इस प्रदेश में मलयगिरि पर्वत है, जिसके कारण इस प्रदेश को मलयगिरि कहते हैं। बृहत्संहिता में इसका नाम है (१४।२)। पाण्ड्य राजा ने मलयाचाल में आश्रय लिया था। पारजीटर ने इसकी पहिचान पश्चिमी घाट की पर्वतमाला नीलगिरि से लेकर कोमोरिन अन्तरीप (केपकोमोरिन) तक की है। अगस्त्य का आश्रम भी यहीं कहा जाता है। पश्चिमी घाट का दक्षिण में विस्तार—जिसको आज त्रिवेन्द्रम कहा जाता है, (कावेरी के दक्षिण में) वह मलय का पश्चिमीय भाग है। जातक (५।१६२) के अनुसार मलयगिरि—मालवार स्टेट है।[2] काव्यमीमांसा में राजशेखर ने मलय पर्वत के चार भेद कहे हैं (अ० १७)।

१४. **दक्षिण**—दक्षिण वालों को पेया सात्म्य (लप्सी) कहा है। माहिष्मती के दक्षिण के भाग को दक्षिणापथ कहते हैं, काव्यमीमांसा में इसकी पहिचान मान्धाता से की है (माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः—काव्यमीमांसा—१७ वाँ अध्याय)। इसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, चोल, सूपरिक, केरल, कावेर, पाण्ड्य, पल्लव आदि जनपद; नर्मदा, ताप्ती, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, वेणा, तुंगभद्रा, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ; श्रीपर्वत, सह्य, मलय, महेन्द्र आदि पर्वत हैं। इस प्रदेश में चन्दन, इलायची, काली मिर्च, कपूर और मोती

---

१. हिस्ट्रौरीकल जिग्राफी ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया—पृ० १४।
तत्रवाराणस्याः परतः पूर्वदेशः—काव्यमीमांशा—अ० १७।

२. वही, पृ० १७३।

आदि उत्पन्न होते हैं। धर्मशास्त्र के अनुसार दक्षिणापथ पारिपत्र के दक्षिण में है, जिसे सामान्यतः विन्ध्यपर्वत माना जाता है। विनयपिटक के महावग्ग के अनुसार दक्षिणापथ--शातकर्णी के नगर के दक्षिण में स्थित है। बुद्धघोष के अनुसार गंगा के दक्षिण में स्थित भाग का नाम दक्षिणा पथ है। सुत्तनिपात के अनुसार गंगा के दक्षिण का और गोदावरी के उत्तर में स्थित सम्पूर्ण प्रदेश दक्षिणापथ कहलाता है। बौद्धों के संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर दक्षिणापथ शरावती के दक्षिण में--पारिपत्र पर्वत के आगे है[1]।

१५. **मध्यदेश**—बौद्धों के संस्कृत ग्रन्थों के अनुसार भारतवर्ष के तीन विभाग है—(१) मध्यदेश, (२) उत्तरापथ और (३) दक्षिणापथ। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में उत्तरापथ का उल्लेख किया है (५।१।७७)। काव्यमीमांसा के अनुसार भारतवर्ष के पाँच भाग थे—(१) मध्यदेश, (२) उदीच्य, (३) प्राच्य, (४) दक्षिणापथ, (५) अपरान्त। मध्यदेश की सीमा बराबर बदलती रही। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार मध्यदेश की सीमा—सरस्वती के अन्तर्धान होने से लेकर—पश्चिम में कालकवन (प्रयाग के आसपास कहीं पर) तथा पारिपत्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में है। मनुस्मृति में भी यही सीमा कही है—उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत का मध्यवर्ती प्रदेश—विनशना के पूर्व में और प्रयाग के पश्चिम का प्रदेश मध्यदेश कहा जाता है[2]। इस से बंगाल और बिहार निकल जाते हैं, प्राचीनकाल में बंगाल-बिहार मगध राज्य में गिने जाते थे। मनु के अनुसार आर्यावर्त्त को मध्यदेश कहते हैं। पाणिनि ने कोशल जनपद (४।१-१७१) और काशी जनपद (४।२।११६) का उल्लेख किया है।

विनयपिटक के अनुसार (५।१३-१२) मध्यदेश का विस्तार पश्चिम में थानेश्वर से लेकर पूर्व भागलपुर के निकट तक था। उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्यपर्वत सीमा थी।

---

१. हिस्ट्रौरिकल जिग्राफी ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया--पृ० १४।

२. मनुस्मृति २। २१। कुछ लोग विनशना का अर्थ—सरस्वती के बालु में अन्तर्धान होने के स्थान से पूर्व में यह अर्थ करते हैं—मनुस्मृति—पं० पुस्तकालय—बनारस से प्रकाशित।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में मध्यदेश के मुख्य जनपद कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य और वत्स गिनाये हैं। वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। फाहियान के अनुसार मध्यदेश मथुरा जनपद से प्रारम्भ होता था, किन्तु उसने मध्यदेश की पूर्वी सीमा का उल्लेख नहीं किया। अलबेरूनी (१०८७ ई० पश्चात्) ने कन्नौज के चारों ओर के देश को मध्यदेश कहा है।[1] काव्यमीमांसा के अनुसार मनुस्मृति का मध्यदेश और सूत्रों का आर्यावर्त्त, 'अन्तर्वेदि' कहलाता था; जो कि पूर्व में बनारस तक फैला हुआ था। मध्यदेश की पूर्वी सीमा का विस्तार धीरे-धीरे होता गया। महावग्ग के अनुसार मज्झिमदेश—कजंगल के पूर्व में था और मध्यदेश के आगे महाशाल था। मध्यदेश के पूर्व दक्षिण में शालवती (शरावती) नदी है, दक्षिण में शातकर्णी का राज्य, पश्चिम में ब्राह्मण राज्य थाना (स्थाणेश्वर), उत्तर में उशीरधज पर्वत (उशीर गिरि—कनखल हरिद्वार के उत्तर का पर्वत) था। दिव्यावदान में मज्झिम देश की सीमा पुण्ड्रवर्धन (सम्भवतः बंगाल) तक बताई है[2]। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने देशों के मध्यदेश को मध्यदेश कहा है, उसने मनुस्मृति से सम्मत मध्यदेश माना है (अध्याय १७)।

चरक में मध्यदेश वालों को यव (जौ), गेहूँ, और दूध सात्म्य बताया है (चि० अ० ३०।३१८)।

पंचाल क्षेत्र और काम्पिल्य—उत्तर भारत में कुरु और पंचाल, ये दो जनपद बहुत समय से चले आ रहे हैं। उपनिषदों में कुरु पंचाल का उल्लेख आता है। जनक ने बहुदक्षिणा वाले यज्ञ में कुरु पंचाल के ब्राह्मणों को बुलाया था। पंचालों की अपनी समिति थी, श्वेतकेतु उसमें गया था।[3] चरक संहिता में भी पंचाल के लिये '**द्विजातिवराध्युषित**' विशेषण आया है, जिसका अर्थ चक्रपाणि ने महाजनों से सेवित किया है[4]। पंचाल का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में भी आता है (३।२।३।१५)।

---

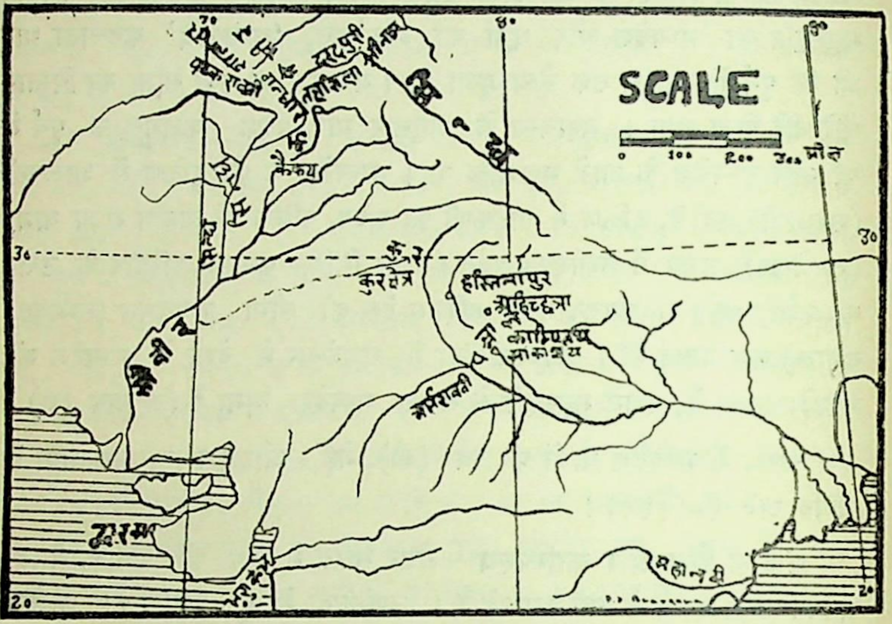
१. मध्यदेश–डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।

२. हिस्टोरिकल जिओग्रेफी ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया–पृ० १३।

३. बृहदारण्यकोपनिषद् ३।१।१; ६।२।१।

४. चरक वि० अ ३।३।

पंचाल में वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, उत्तम संस्कृत (शुद्ध) भाषा के वक्ता, यज्ञों में विधिपूर्वक यजन करने वाले लोग थे। उन्हीं में सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद् भी कुरु-पंचाल में ही थी और भी कितनी बातों में वे अग्रणी थे।[1]



मनुस्मृति में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन को ब्रह्मर्षि देश कहा है (२।१९)। महाभारत के अनुसार पंचाल का राजा द्रुपद था और कुरु का राजा धृतराष्ट्र था। गुरुदक्षिणा में द्रोण ने कुरुवों से पंचाल के राजा द्रुपद को पकड़वा लिया था। उस समय की हुई सन्धि के अनुसार पंचाल के दो भाग हो गये थे। इन भागों की सीमा गंगा मानी गई थी। इससे उत्तरी पंचाल और दक्षिणी पंचाल दो भाग बन गये थे। इसमें दक्षिण पंचाल द्रुपद को और उत्तरी पंचाल द्रोण को मिला। दक्षिण पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी और

---

१. हिन्दू सभ्यता—पृ० ९४

इसकी सीमा चर्मण्वती (चम्बल) नदी थी[1]। उत्तरी पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी। दिव्यावदान के अनुसार उत्तरी पंचाल की राजधानी हस्तिनापुर थी परन्तु कुम्भकार जातक में उत्तरी पंचाल की राजधानी काम्पिल्य बताई है (जातक ३।२३०)। महाभाष्यकार पतंजलि ने पंचाल के दो भाग पूर्व और उत्तर बताये हैं। उन्होंने इन जनपदों को सुरक्षित, सम्पन्नपानीय और बहुमाल्यफल कहा है (पंतजलि कालीन भारत—पृष्ठ १०५)।

पंचाल की स्थिति देहली के पूर्व और पश्चिम में, हिमालय की तराई से प्रारम्भ करके चम्बल तक है। महाभारत के अनुसार दक्षिण पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी। काम्पिल्य का आजकल का नाम कामपिल है, जो फर्रुखाबाद जिला में है। च्युवान शांग (७ वीं शती) ने अहिच्छत्रा की समृद्धि का वर्णन किया है, चीनी यात्री के अनुसार यह नगर धन-धान्य से, लकड़ी से समृद्ध था (आज भी बरेली में—रामनगर में—लकड़ी का सामान अधिक बनता है)। यहाँ के लोग सच्चे और विद्या के प्रेमी बताये हैं। यहाँ पर बौद्धों के दस से अधिक विहार थे। देवता के नौ मन्दिर थे।

द्रुपद को हराकर अर्जुन ने अहिच्छत्रा और काम्पिल्य दोनों ही द्रोण को दे दिये थे। द्रोण ने काम्पिल्य द्रुपद को पीछे सौंप दिया था (हरिवंश० अ० २०।७४–७५)।

काम्पिल्य—चरक के अनुसार काम्पिल्य की स्थिति पंचाल क्षेत्र में गंगा के किनारे बताई है[2]। काम्पिल्य दक्षिण पंचाल की राजधानी थी। रामायण में इसको सुन्दर नगर कहा है (आदिकांड, सर्ग ३३।५।१९)। महाभारत में इसको दक्षिण पंचाल की राजधानी स्पष्ट लिखा है। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है (४।२।१२१)। जैनियों का यह पवित्र तीर्थ है, प्रथम तीर्थांकर श्री ऋषभदेव ने काम्पिल्य में ही प्रथम उपदेश किया था। तेरहवें तीर्थांकर विमलनाथ काम्पिल्य में ही उत्पन्न हुए थे और वृद्धावस्था तक वहीं रहे।

---

१. वात्स्यायन कामसूत्र में लिखा है कि—"वेश्याभिरेव न संसृज्यन्ते चाहिच्छत्रिकाः ; संसृष्टा अपि मुखकर्म तासां परिहरन्ति"—अधि० २। अ. २।२९; अहिच्छत्रा के लोग वेश्याओं से नहीं मिलते; यदि मिलते भी हैं तो चुम्बन आदि नहीं करते।

२. चरक० वि० अ० ३।३।

काम्पिल्य का नाम यजुर्वेद में है।[1] यजुर्वेद के व्याख्याकार उव्वट ने काम्पिल्य वासिनीम् को व्याख्या करते हुए लिखा है काम्पिल्य नगर में सुभग, सुरूप और विदग्ध स्त्रियाँ होती हैं—'काम्पिल्य नगरे हि सुभगाः सुरूपाः विदग्धा स्त्रियो भवन्ति'। रामायण में भी काम्पिल्य का उल्लेख है, उस समय वहाँ पर प्रवहण जाबाली राज्य करता था, जो कि जनक विदेह के समान विद्वान् था।

श्रीमद्भागवत के अनुसार 'भर्यश्व' नाम के एक बड़े प्रतापी राजा हुए। उनके पाँच पुत्र थे—इनमें से एक का नाम काम्पिल्य था, उसी के नाम पर नगर का नाम पड़ा। इस क्षेत्र को पंचाल कहते हैं, क्योंकि पाँच पुत्रों की रक्षा के लिये यह था।[2] इस क्षेत्र में गंगा, कालिन्दी, काली, चर्मण्वती और रामगंगा नामक पाँच नदियाँ भी हैं। पाँच नदियों से पंचाल कहते हैं।

बृहज्जातक के व्याख्याकार महीधर ने काम्पिल्य क्षेत्र को कपित्थक कहा है। चीनी यात्री च्युंआंग शांग ने कपित्थक का उल्लेख किया है। कपित्थक के पास ही बीस मील की दूरी पर सांकाश्यक है, जिसका उल्लेख काशिका में (४।२।१२१) काम्पिल्य के साथ किया है, इसी प्रकार पाणिनि सूत्रों (२।१।४१; ६।२।३२, ६।३।१९) की काशिका वृत्ति में सांकाश्य का नाम मिलता है।

प्राचीन काम्पिल्य की पहिचान वर्त्तमान काम्पिल से होती है, जो कि बदांयु और फर्रुखाबाद के बीच में गंगा के किनारे है। महाभारत (१।१३८।७३) तथा चरक में एवं जैन विविध तीर्थ कल्प में इसको गंगा के किनारे स्थित कहा है। फर्रुखाबाद जिले में फतहगढ़ के २८ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। कायमगंज रेल्वे स्टेशन से केवल पाँच मील है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि वराहमिहिर यहीं पर उत्पन्न हुआ था।[3] इस नगर पर बहुत से राजाओं ने राज्य किया। आधुनिक काम्पिल में दो जैन देवालय हैं, जिनके लिये दूर दूर से जैन आते हैं। प्राचीन काल में इसका विस्तार २८-३० मील था, खुदाई में स्वर्ण के सिक्के तथा अन्य सामग्री मिली है, जो इसकी समृद्धि और उन्नति की सूचक है। सांकाश्य (पाणिनि सूत्र

---

१. ययुर्वेद० २३।१८।

२. श्रीमद्भागवत ९।२९।

३. हिस्ट्रौरीकल जिग्रोफी ऑफ एन्सियन्ड इण्डिया—पृ० ९२।

४।२।८०) इक्षुमती नदी के किनारे (ईरवन) वर्तमान संकिसा है। शंका शादिगण (४।२।८०) में काम्पिल्य भी है।

पर्वत और नदियों का उल्लेख—चरक में गंगा के सिवाय किसी नदी का नाम नहीं है। गंगा का नाम भी हिमालय के वर्णन में है, हिमालय को गंगा का उत्पत्ति स्थान कहा है (चि० अ० १।४।५)। हिमालय से जो भी नदी निकली है, और हरिद्वार की ओर बहकर आई, उन सबको गंगा नाम दिया गया। इसी से इस प्रदेश को पंचगंगा प्रदेश कहा है। गंगाकी पूजा का उल्लेख चरक में है (चि० अ० (३।३१३)। गंगा के सिवाय और किसी नदी का नाम नहीं है। केवल बहने की दिशा का उल्लेख है। यथा—

(१) हिमालय से उत्पन्न नदियों का जल पत्थरों से टकराने के कारण टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, पत्थरों की थपेड़ों से ताड़ित होने से यह जल पथ्य है। ये नदियाँ पुण्यवती हैं, देवता और ऋषि इनके आसपास रहते हैं। हिमालय गंगा का उत्पत्ति क्षथान है। सुश्रुत में हिमालय से उत्पन्न नदियों का जल हृदय रोग, शोथ, शिरोरोग, श्लीपद, गलगण्ड को उत्पन्न करता है (सू० अ० ४५।२१), सुश्रुत का यह वचन उन नदियों के लिये दीखता है, जिनमें बड़े-बड़े पत्थर नहीं रहते और जो पूर्व की ओर बहती हैं; यथा—घाघरा, कौशिकी, गण्डकी; चरक में गंगा, यमुना एवं हिमालय के पश्चिम-दक्षिण की ओर बहने वाली सतलज, व्यास, रावी, चनाब, झेलम, सिन्ध का वर्णन है। अत्रिपुत्र पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहे थे और सुश्रुत काशी प्रदेश में रहते थे, जहाँ आज भी श्लीपद-हाइड्रोशील बहुत मिलता है। इसलिए दोनों ने पृथक्-पृथक् नदियों के जल का उल्लेख किया है। हिमालय से सरस्वती, इषदवती, इरावती, गोमती नदियाँ भी निकलती हैं।

(२) मलयाचल पर्वत से उत्पन्न जिन नदियों में पत्थर और रेती रहती है, उनका पानी निर्मल और अमृत के समान है। सुश्रुत में मलयाचल से उत्पन्न नदियों का जल कृमियों को उत्पन्न करने वाला कहा है [सूत्र अ० ४५]।

(३) पश्चिम की ओर बहनेवाली नदियाँ (नर्मदा और ताप्ती आदि एवं पंजाब की नदियाँ) पथ्य एवं निर्मल जल वाली हैं। सुश्रुत में पश्चिम की ओर बहनेवाली नदियों का जल लघु होने से पथ्य बताया है [सूत्र अ० ४५]।

(४) पूर्वी समुद्र में जाने वाली नदियाँ प्रायः धीमे बहती हैं (यथा—गोदावरी और कावेरी), और भारी जल वाली होती हैं। पूर्व की ओर बहने वाली नदियों का जल सुश्रुत में भारी कहा है [सूत्र० अ० ४५]

(५) पारियत्र पर्वत, विन्ध्य, सह्याद्रि पर्वत से उत्पन्न नदियों का जल शिर, हृदय रोग, कण्ठ, श्लीपद रोग का कारण है।[1] सुश्रुत में पारियत्र से उत्पन्न नदियों का जल पथ्यकारक, बल और आरोग्य देने वाला कहा है (सूत्र अ० ४५)।

पारियत्र से निकलने वाली नदियाँ--सिन्धु (मध्य भारत की सिन्ध नदी); पारा (वर्तमान पार्वती नदी); चर्मण्वती (चम्बल); वेत्रवती (बेतवा); विदिशा (वेश); मही और क्षिप्रा है।

पारियत्र—पारियत्र (पारियत्र), ऋक्षवत और विन्ध्य पर्वत मध्यभारत के हैं। बौधायन धर्मसूत्र में पारियत्र का उल्लेख सबसे पहले है। उसमें इसको आर्यावर्त्त के दक्षिण में बताया है। संकटा पुराण में इसे कुमारी खण्ड की अन्तिम दूरी कहा है। पार्जीटर ने पारियत्र की पहिचान मध्यभारत में भोपाल के पश्चिम में स्थित विन्ध्य पर्वतमाला से की है, जिसके साथ में अरावली (अड़ावला) पर्वत श्रृंखला भी है।[2]

विन्ध्य—विन्ध्य पर्वत को नर्मदा और ताप्ती का उद्भव कहा है, विन्ध्य के जिस भाग से ये नदियाँ निकलती हैं, टोलोमी ने उतने भाग को विन्ध्य माना है। विन्ध्यपर्वत के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं। शत-पुरा पर्वत को भी विन्ध्य पर्वतमाला की श्रृंखला माना जाता है।[3]

सह्याद्रि—पश्चिम घाट में कोयम्बटूर से ऊपर का भाग सह्याद्रि है। सह्याद्रि पर्वत श्रृंखला पश्चिम घाट के साथ-साथ कोमरीन अन्तरीप से प्रारम्भ होकर ताप्ती घाटी तक चली गई है। पश्चिम घाट में त्रिकूट (जिससे त्रैकुटक बना है), गोवर्धन (नासिक पर्वत), कृष्णगिरी (कन्हेरी), ऋष्यमूक, मलय-वत, प्रस्रवण और गोमन्त हैं। ऋष्यमुख और गोमन्त सह्याद्रि के साथ मिले

१. चरक० सू० अ० २७।

२. हिस्ट्रौरीकल जिग्रौफी ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया—पृ० १९।

३. वहीं, पृ० २०।

हैं। पार्जिटर ऋष्यमुख की पहिचान अहमद नगर से लेकर नलदूर्ग और कल्याणी तक फैली पर्वतमाला से करता है। गोमन्त की पहिचान नासिक के दक्षिण-पश्चिम में स्थित पर्वत से करते हैं। राय चौधरी के अनुसार गोमन्त के उत्तर में वनवासी है, इसलिये इसको मैसूर राज्य में गिनना चाहिये।[१]

पुनर्वसु आत्रेय का विचरने का स्थान हिमालय प्रदेश ही रहा। केवल एक बार वे काम्पिल्य में आये थे। दक्षिण या पूर्व का उल्लेख चरक में नहीं मिलता, जो है, वह दृढ़बल की देन है। इसलिये नदियों का या इन पर्वतों का उल्लेख प्रतिसंस्कर्ता का दीखता है, क्योंकि सुश्रुत में सह्याद्रि का उल्लेख है (चि० अ० २९।२७)। इसके सिवाय सुश्रुत में अर्बुद (आबू), महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरी के भी नाम आये हैं।

चन्द्रभागा—पुनर्वसु का नाम चान्द्रभागी है (सू० अ० १३।१००, भेल संहिता-पृ० ३९)। यह नाम चन्द्रभागा का पुत्र होने से है, चन्द्रभागा इनकी माता का नाम मानते हैं।

लाहौल घाटी में चन्द्रा और भागा दो नदियाँ है, जो आगे चल कर मिल जाती हैं, जिस से अब इनका नाम चन्द्रभागा (चनाव) हो जाता है। सम्भवतः इस नदियों के दोआब में उत्पन्न होने से इनका यह नाम हो गया हो। यह एक सम्भावना ही है। श्री हेमराज शर्मा जी ने चन्द्र भागा—अत्रिपुत्र की माता का नाम माना है।[२]

इस प्रकार से चरक संहिता आयुर्वेद का शास्त्र होने पर भी इसमें पाणिनि के व्याकरण, पतंजलि के महाभाष्य की भाँति भौगोलिक नामों का उल्लेख आया है। इससे इतना भी स्पष्ट है कि चरक का मुख्य भूगोल भारत के उत्तर-पश्चिम भाग से अधिक सम्बन्धित है, उस भाग में रहने से वाह्लीक वैद्य कांकायन, गान्धार देश के राजर्षि नग्नजित् से अत्रिपुत्र का सम्बन्ध रहा है। काम्पिल्य का उल्लेख केवल एक ही स्थान पर है, शेष सारी संहिता में हिमालय का उत्तर पश्चिम प्रान्त, कैलास, हिमालय का उत्तरीय भाग का ही उल्लेख मिलता है।

---

१. वही, पृ० २१-२२।

२. काश्यप संहिता-उपोद्घात—पृ० ७७ में आत्रेय।

चरक की अपेक्षा सुश्रुत में दक्षिण का भूगोल अधिक है, सुश्रुत में सह्याद्रि, श्रीपर्वत, देवगिरी आदि दक्षिण के पर्वतों का उल्लेख है, उत्तर कुरू, मूंजवन्त आदि सुदूरवर्त्तिनाम, वितस्ता, सिन्धु आदि नद, कश्मीर का नाम मिलता है।[1] चरक संहिता में इतने नामों का उल्लेख नहीं है। इससे अनुमान होता है कि उनका क्षेत्र सीमित था। काम्पिल्य विद्वानों का स्थान था, इसलिए अत्रिपुत्र शिष्य मंडली के साथ गंगा के किनारे-किनारे घूमते हुए (वन विचारमनुविचरन्) उधर आ गये थे। चरक संहिता के जो नाम, देश सात्म्य-दृढ़बल ने दिया है वह भी पुराने ग्रन्थों के आधार पर ही दिया है, इसीसे सैन्धव में क्षीरसात्म्य और उत्तर पश्चिम में मन्थ सात्म्य कहा है। दृढ़बल के दिये भौगोलिक नाम तीसरी-चौथी ईस्वी शती के हैं, सम्भवतः उस समय भी यही सात्म्य वहाँ का होगा—सिन्ध की गायें आज भी 'घटोघ्नी'—बहुत दूध वाली मानी जाती हैं।

चरक संहिता का भूगोल संक्षिप्त होने पर भी महत्वपूर्ण है। पच-गंगा शब्द बदिरका धाम की वास्तविक स्थिति को बता देता है। महाभारत में इसको गन्धमादन पर्वत के नाम से कहा है। परन्तु पीछे का नाम सम्भवतः पंच-गंगा ही होगा—क्योंकि इसमें पाँच गंगायें और पाँच प्रयाग हैं, जो आज भी हैं।

इस प्रकार से चरक संहिता का भूगोल भी अन्य विषयों की भाँति सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. सुश्रुत चि० अ० १९।२७-३०।

दसवाँ अध्याय

चरक संहिता की भाषा

चरक संहिता की भाषा न तो काश्यप संहिता की भाषा के समान पुरानी है, और न काश्यप संहिता की भाषा के समान इसमें भिन्न-भिन्न स्तर ही मिलते हैं।[1] सुश्रुत संहिता की भाषा के समान सीधी, सरल भी नहीं है। इसमें बहुत से शब्द ऐसे मिलते हैं, जो कि संस्कृत वाङ्मय में अन्यत्र कहीं नहीं बरते गये, यथा—

क—**प्रचरणमिव भिक्षुकस्य**—(वि० अ० ८।१४९)—भिक्षु भिक्षा के लिए जब अपने घर से चलता है, तो कुछ अन्न अपने भिक्षापात्र में डाल लेता है, वही अन्न भिक्षा से बढ़ जाता है (प्रचरणं भिक्षामूलं तण्डुलादि पात्रस्थम्—चक्रपाणि)।

ख—**भूतधात्री**—(तांभूतात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः—सू० अ० २१।५९), निद्रा के लिए भूतधात्री शब्द इसमें नया है **(भूतानि प्राणिनो दधाति-पुष्णातीति भूतधात्री, धात्री व धात्री—चक्रपाणि)**।

ग—**अवक्रान्ति**—इसका सामान्य अर्थ नीचे आना है, उत्क्रान्ति का अर्थ—ऊपर जाना है, परन्तु पालि साहित्य में अवक्रान्ति का अर्थ गर्भाशय में आना है

---

१. काश्यप संहिता की भाषा के कुछ उदाहरण देखिये—
"अथोवृद्धजीवक ! ब्राह्मणीं समाविष्टां गृहानागतां स्त्रीं प्रत्युपतिष्ठतेऽभिवादयते, संव्यवहरते संवदतिसंस्पृशति संभुक्तेऽभिहन्त्याऽक्रोशयत्युपशेते यदमृतुनिर्मात्यवासोऽलंकारमाक्रामति वा तस्य ब्राह्मणी जातहारिणी भवति। अथो आहुः—सेवेनां ब्राह्मणी ऋतुमतीमवसिञ्चेद्। सैवतत्र प्रायश्चितिः। स्वेनैवेनां मागधेयेन प्रजावतीं करोति। नास्या ब्राह्मणी जातहारिणी भवति। या एवं **वेद**।"—पृ० १६१।

उपनिषदों की भाषा में अथो आहुः, या एवं वदे—आदि वचन मिलते हैं, (यथा—य एवं वेद ॥ इत्युपनिषत्—तैत्तिरीयोपनिषत्—३।१०।६)।

(ट्र डिसैण्ड इण्टू ए वौम्ब–पालि डिक्शनरी), गर्भाधान अर्थ है। चरक में यह शब्द इसी अर्थ में आया है (**शुक्रशोषित संसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति**–शा० अ० ३।३); (देखिये पृ० ३६)।

ब—वेदना—इस शब्द का अर्थ भी पालि साहित्य के अनुसार सुखवेदना, दुःखवेदना, और अदुःखमसुख वेदना से है (देखिये पृ० ३७-३८)।

ङ—संख्यात—यह शब्द पाणिनि व्याकरण का है, (**संख्यातरात्रः, संख्याताह्नः, संख्याताहः** ५।४।८७, ५।४।८८)। इनमें संख्यात का अर्थ गिनना है, परन्तु चरक संहिता में संख्यात शब्द--जाने हुए अर्थ में आता है (संख्यातज्ञातम्—चक्रपाणि, सू० अ० १३।३ की व्याख्या में); प्रख्यात, विख्यात शब्द संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है; संख्यात नहीं है।

च—भंगोदक—इसका अर्थ पालि साहित्य में पत्तों का क्वाथ है।[१] चरक संहिता में भी यह शब्द इसी अर्थ में आया है (**पत्रभंगोदकैः क्वाथैः शौचंकुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा**—चि० अ० १४।१६९), इसी प्रकार से छोटे के अर्थ में क्षुद्रक के लिए 'खुड्डाक' शब्द (पालि में खुद्दक); गरम घर के लिये जेन्ताक (पालि में जेन्ताक) शब्द आते हैं।[२] इस प्रकार से चरक संहिता में पालि साहित्य की झलक दीखती है, चरक में आया 'अभ्यस्येत्' शब्द (वि० अ० ८-७) अपाणिनीय है।

इसी प्रकार दूध में जामन लगाने के लिए **अभिषुत**, जामन के लिए **अभिषवण**; खेतों में बने तिनकों की पुरुषाकृति के लिए **तृणपूली** शब्द नये हैं।[३]

इसी प्रकार ईषत् के अर्थ में दक शब्द [दकोदर, दकलावणिक यूषेण] है; यहाँ संस्कृत में कम के अर्थ में आनेवाला कद शब्द विपरीत हो गया है; जिस

---

१. विनयपिटक–भैषज्यस्कन्ध, पृ० २२०।

२. जेन्ताक–स्नानगृह–जो गरम होता था; गरम पानी से जहाँ आकर जनता स्नान करती थी; यह एक सार्वजनिक स्नानगृह था; सम्भवतः इसीलिये जेन्ताक नाम दिया हो। जन से जनता शब्द, जेन्ताक बना दीखता है।

३. चरक शा० अ० ८। १७, चि० अ० २।१।१८। काश्यप संहिता में अभिषव शब्द औषधियों के सात भेदों में कहा है–यथा तद्वदेव निशाव्युष्टोऽभिषवः साधु शाधितः॥ खिल० अ० ३।३८. द्रव्य को रात्रि भर जल में रखकर अच्छी प्रकार सिद्ध किया जाये तो अभिषव कहलाता है।

प्रकार से खन धातु खादने के अर्थ में है; उससे विपरीत होने पर नख बना है;' इसी प्रकार यहाँ पर कद से दक बन गया है।

उपनिषदों से साम्य—चरक संहिता में उपनिषद् की भाषा की भी सामान्य रचना मिल जाती है, परन्तु यह बहुत ही कम है, उदाहरण के लिये—

त्रयो उपस्तम्भाः इति–आहार स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति–चरक० सू० अ० ११।३५
त्रयो धर्मस्कन्धाः–यज्ञोऽध्ययनं दानमिति–छान्दोग्य० २।२३।१।

इसी प्रकार से चरक संहिता में भेल संहिता और उपनिषदों की भाँति मनुष्य की तीन इच्छाओं का उल्लेख है, परन्तु इसमें उपनिषद् और भेल सहिता की इच्छाओं से थोड़ा शब्द परिवर्तन है, यथा—

चरक संहिता में—'तिस्रः एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति (सू० अ० ११।३)।

भेल संहिता में—'प्राणैषि (ष) णास्या(त्) प्रथमा द्वितीया तु ब (ष) नेषि (ष) णा। धर्मैषि (ष) णा तृतीयातु पुरुषस्य भवत्यथ। (पृ० २५)

उपनिषद् में—पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति—बृहद० ३।५।१।

चरक में प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा—तीन इच्छायें बताई हैं, भेल संहिता में प्राणैषणा, धनैषणा और धर्मैषणा—ये तीन इच्छायें कहीं हैं। उपनिषद् में पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा—तीन इच्छायें बताई हैं। तीनों में—केवल नाम का ही भेद है, अर्थ प्रायः समान ही है।

उपनिषद् की भाँति चरक संहिता में परस्पर विचार-गोष्ठी से विचार करने की परम्परा मिलती है। प्रश्नोपनिषद् में—भारद्वाज, शैव्य, सत्यकाम, सौर्यायणी, गार्ग्य, कौशल्य, आश्वलायन, भार्गव, वैदर्भी, कबन्धी, कात्यायन—ये सब मिलकर ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार करते हैं। चरक संहिता में वातकला कलीय अध्याय (सूत्र अ० १२), रसविनिश्चय के आत्रेयभद्रकाप्यीय (सूत्र० अ० २६), फलमात्र सिद्धि (सि० अ० ११) अध्याय इस सम्बन्ध में देखे जा सकते हैं।

---

१. प्राकृत में ईसद् अर्थ में दर शब्द आता है; पाली में सम्भवतः उसका दल हुआ हो—दरस्फुटित वृत्तेभरावनत आ [दर फुडिअ भारोणी आइ] गाथा सप्तशती–६०।

प्रश्नोपनिषद् में कवन्धी कात्यायन ने भी जानना चाहा कि प्रजा कहाँ से उत्पन्न हुई (१।४), उसी प्रकार से काशिपति वामक ने भी पूछा कि पुरुष जिससे उत्पन्न होता है, क्या रोग भी उसी से उत्पन्न होते हैं (सू० अ० १५।१५)।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में चरक संहिता के सूत्र स्थान (२५) का यज्ञः पुरुषः प्रश्न का विचार परिषद् रूप में मिलता है और उत्तर भी उसी रूप में मिलता है यथा—

(१) किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवामकेन चक्संप्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताकेन सुखेतरेषुवर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।
(२) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःख हेतोः ।।

यही प्रश्न और लगभग यही उत्तर एवं परिषद् विचार आपको चरक के इस अध्याय में मिलता है—(देखिये इसी में पृ० २०३)।

उपनिषदों के विचार चरक संहिता में मिल जाते हैं, परन्तु भाषा सर्वथा भिन्न है। चरक संहिता की भाषा में पालि साहित्य के शब्द हैं, पाणिनि व्याकरण से जकड़ी, कालिदास आदि की भाषा के समान सुसंस्कृत (अन्य भाषा के शब्दों से अछूती) यह भाषा नहीं है। सुश्रुत की भाषा के समान सीधी होने पर अप्रसिद्ध शब्द इसमें मिलते हैं।

इन सब बातों को देखते हुए चरक संहिता की भाषा पहली शती से पूर्व की अथवा सम्भवतः पहली ही शती की हो। सुश्रुत से तो निश्चित पूर्व की है, चरक-संहिता का निम्न वचन सुश्रुत में (सूत्र अ० ४।५) इसी रूप में मिलता है—

"यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुल बुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः' (सू० अ० १५।५)।

भास और कालिदास की भाषा से प्राचीन है, यह इसकी भाषा में आये नवीन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है।

पालि साहित्य के शब्दों का चरक में होना, तथा उपनिषदों के विचारों का चरक संहिता में मिलना, इसकी भाषा की प्राचीनता को सिद्ध करता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'पालि' भाषा [बोल-चाल की भाषा] का समय ईसा से ५००

वर्ष पूर्व से लेकर पहली शती है। उससे पहले संस्कृत भाषा का समय १५०० ई० पूर्व है—सरल भाषा विज्ञान—प्रो० गौतम कृत।

छन्द रचना—चरक संहिता में प्रचलित छन्दों का प्रयोग प्रायः मिलता है, यथा—अनुष्टुप्, उपजाति, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, आर्या आदि। अष्टांग संग्रह आदि पिछले ग्रन्थों की भाँति शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित आदि छन्द इसमें नहीं हैं या कम हैं। सामान्यतः एक अध्याय में एक ही प्रकार का छन्द आता है, परन्तु कई अध्यायों में इसका अपवाद भी है (यथा चि० अ० ४ में)। आर्या छन्द भी दृढ़बल से सम्पूर्ण किये भाग में आता है (यद्यपि इस विषय में विभिन्न मत है—चि० अ० ७)। स्वागता, रुचिरा, वियोगिनी आदि अप्रसिद्ध छन्द बहुत विरले हैं, कहीं एक-दो पद्य इनके मिलते हैं। अधिकतः प्रचलित छन्दों का ही उपयोग हुआ है, इसमें भी अनुष्टुप छन्द अधिक है।

छन्दों की रचना लालित्यपूर्ण है, उदाहरण के लिये—

(१) दाहे प्रशस्ताः सजला सुशीताः।
पद्मोत्पलानां च कलापवाताः॥
(२) सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां
चन्द्रोदयानां कमलाकरणाम्।
मनोऽनुकूलः शिशिराश्च सर्वाः
कथा सरक्तं शमयन्ति पित्तम्॥ (चि० अ० ४।१०८, १०९)

सुखाः सहायाः परपुष्ट घुष्टाः फुल्ला वनान्ताविशदान्नपानाः।
गान्धर्व शब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रुवं च॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य।[1]
वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परम नराणाम्॥
(चि० अ० २।२९, ३०)

इन श्लोकों की प्रथम और चौथी पंक्ति अश्वघोष के निम्न श्लोक से मेल खाती है—

---

१. दूसरा चरण अष्टांग संग्रह में मिलता है (उत्तर तंत्र—अ० ५० में ताम्बूलवर्णन) पृष्ठ १०८ में "यदायुधं मूर्त्तमिवात्मजस्य।"

निरीक्षमाणस्य जलं सपद्मं, फुल्लं वनान्तं परपुष्टघुष्टम् ।

कस्यास्ति धैर्यं नवयौवनस्य, मासे मधौस धर्मपलभूते ॥ (सौ० ७।२३)

चरक संहिता में निम्न छन्द मिलते हैं। एक अध्याय में एक या दो अथवा तीन-चार छन्दों का प्रयोग भी मिलता है (यथा चि० अ० १।१ में अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा और वंशस्थ छन्द है)।

	अनुष्टुप	दीर्घंजीवतीय–सू० अ० १
	इन्द्रवज्रा	आरग्वधीय सू० अ० ३
	उपेन्द्रवज्रा	प्राणकामीय (रसायनपाद) चि० अ० १।२
	उपजाति	अष्टोदरीय सू० अ० १९
	वंशस्थ	गोमयचूर्णीय इ० अ० १२
	इन्द्रवज्रा	श्वयथुचिकित्सा चि० अ० १२
	स्वागता	गुल्म निदान नि० अ० ३
	पुष्पिताग्रा	रोगभिषग्जितीय वि० अ० ८
	रुचिरा (प्रभावती)	रोगभिषग्जितीय वि० अ० ८
	कुसुमलता वेल्लिता	श्वयथुचिकित्सा चि० अ० १२
	वियोगिनी	फलमात्रसिद्धि सि० अ० ११
जाति	आर्या	अर्शचिकित्सा चि० अ० १४
	गीति	विष चिकित्सा चि० अ० २३
	उपगीति	तृष्णारोगचिकित्सा चि० अ० २२

उपमायें--चरक संहिता में आई उपमायें बहुत सरल और सचोट हैं, जो कि उपमेय के साथ पूर्णरूप से मेल खाती हैं, यथा—

(१) गर्भवती स्त्री की रक्षा अतिशय सावधानी से करनी चाहिये, उसको किसी भी प्रकार का संक्षोभ नहीं होने देना चाहिये, जिस प्रकार कि तेल से भरे पात्र को बहुत सम्भाल कर रखना पड़ता है, अथवा तरुण-अपक्व अण्डे की रक्षा करनी होती है, उसी प्रकार से सब अपचार से इसको बचाना चाहिए—

क–पूर्णामिव तैलपात्रम् संक्षोभयताऽन्वर्तत्नी भवत्युपचर्या–शा० अ० ८।२३

ख–यथाऽण्डं तरुणं पूर्णं तैल पात्रं यथैव च ।

गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मापदाचारतः ।। (सि० अ० १२।३)

(२) मलिन वस्त्र पर जिस प्रकार से रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार से मलिन शरीर में वृष्य योग लाभदायक नहीं होते, इसलिए पहले शरीर का संशोधन करना चाहिए—

तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं, बलानुरूपं न हि वृष्य योगाः ।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे तथा वाससि रागयोगाः ॥
(चि० अ० २।१।५१)

चरक संहिता का काव्य साहित्यिक न होने पर भी उसमें अपना ही माधुर्य से मिला वैशिष्ट्य देखने में आता है, और कहीं-कहीं उसकी पदावली में साहित्यिक ग्रन्थों जैसा सौन्दर्य पाठक को अनुभव होता है। इसलिए कदाचित् यह अनुचित न होगा कि वाण और कालिदास जैसे कवियों की शैली दृष्टि से हम चरक संहिता की विवेचना कर सकते हैं।

(३) बहुत दोष वाले पुरुषों में दोषों को बाहर ही निकालना चाहिए, जिस प्रकार कि खेत की मेढ़ (भित्ति) तोड़ने से ही खेत में भरा जल सुखाया जा सकता है, इसी प्रकार इन दोषों को बाहर निकालना चाहिए।

बहुदोषाणांपुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वल प्रसेको ऽस्ति, तद्वद् दोषावसेचनम्—वि० अ० ३।४४ ।

(४) जिस प्रकार कि आकाश में स्थित सूर्य अपनी शक्ति से पृथ्वी के वृक्षों का पानी (रस) खींच लेता है, उसी प्रकार से उदर में स्थित वस्ति शिर से लेकर पैर तक के सब दोषों को खींच लेती है—

आपादतलमूर्धस्थान् दोषान् पक्वाशये स्थितः ।
वीर्येण वस्तिरादत्ते स्वस्थोऽर्कोभूरसानिव ॥ सि० अ० ७।६४

(५) पानी में घुले कुसुम्भ के रंग को वस्त्र जिस प्रकार से खींच लेता है, उसी प्रकार से द्रवीकृत देह से निरूह मलों को बाहर निकाल लेता है—

यद्वत् कुसुम्भ संमिश्रात्तोयाद्रागं हरेत् पटः ।
तद्वद् द्रवीकृताद् देहान्निरूहो निर्हरेन्मलान् ॥ सि० अ० ७।६५

(६) जिस प्रकार कि धनुष की डोरी की आवाज मात्र से बटेरे उड़ जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् के पहुँचने पर थोड़ा जानने वाले मूर्ख भाग खड़े होते हैं—

शब्दामात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैक देशिकाः ।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तंत्रे ज्याशब्देनैव वर्त्तकाः ॥ ——सू० अ० ३०।७५

(७) जिस प्रकार से ईख में रस, दही में घृत, तिलों में तैल सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार से शुक्र शरीर के एक-एक कण में व्याप्त है। और जिस प्रकार कि ईख को निचोड़कर रस, दही को मथकर घी और तिलों को पीसकर तैल प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार चेष्टा-पीड़न-संकल्प से शुक्र शरीर से बाहर आता है, जिस प्रकार कि गीले वस्त्र से जल चूता है।

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।[1]
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥
तत् स्त्रीपुरुष संयोगे चेष्टा संकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानात् जलमार्द्रात् पटादिव ॥ चि० अ० २।४।४६-४७

गद्य-रचना—कवि बाण भट्ट ने अच्छे गद्य के लिए कहा है—

'उत्कृष्ट कविगद्यमिव विविधवर्ण श्रेणीप्रतिपद्यमानाभिनवार्थ संचयम्'

—कादम्बरी

उत्तम कवि के गद्य में नाना प्रकार के नये-नये वर्ण—शब्द-रचना से नया ही अर्थ मिलता है। प्रत्येक क्षण में जो वस्तु नूतन—नये रूप में सामने आती है; वही रमणीय है। सूर्यास्त या सूर्योदय अथवा चन्द्रोदय का वर्णन एक बार जो कर दिया, दूसरी बार उसी को नये शब्दों में, नये अर्थ से उपस्थित करना ही उत्तम कवि की कसौटी है। नैषध में कवि श्रीहर्ष ने दमयन्ती का वर्णन कई स्थानों पर किया है, परन्तु प्रत्येक बार नये शब्द, नयी दृष्टि उपस्थित की है। सुन्दर वस्तु बार-बार खाने से भी अरुचि-अनिच्छा पैदा करती है, इसलिए पुरानी वस्तु को भी नई बोतल में, नये साँचे में उतार कर प्रस्तुत करना ही श्रेष्ठ कवि का काम है।

चरक संहिता में गद्य शैली तीन प्रकार की मिलती है, एक समास-बहुल, दूसरी अल्प समास वाली और तीसरी समास रहित। समासों से भरी शैली का

१. यही उपमा श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी मिलता है—तिलेषु तैलं दध्नीव सर्पिः… १।१५

प्राचीन नाम उत्कलिका, छोटे-छोटे समासयुक्त पदों में बिखरी हुई शैली का नाम चूर्णक और समासरहित शैली का नाम आविद्ध था।[1]

प्रायः बड़े-बड़े वर्णनों से उत्कलिका शैली का आश्रय लिया गया है, यथा शास्त्र परीक्षा में (वि० अ० ८।३)। परन्तु चरक संहिता में लम्बे समास वाली रचना कम है। छोटे-छोटे समास वाली रचना या बिना समास की रचना ही अधिक है। छोटे-छोटे समास की रचका के उदाहरण रूप देवोन्मत, राक्षसोन्मत्त, पिशाचोन्मत्त रोगी का वर्णन देखा जा सकता है (चि० अ० ९।२०)। समासरहित रचना की अधिकता है, इसका उत्तम उदाहरण सद्वृत्त का उपदेश है (सू० अ० ८।१९-२०)।

चरक की रचना में गद्य के बीच में पद्य, पद्यरचना के बीच में गद्य अथवा पूर्णतः पद्य-रचना या सम्पूर्ण गद्य-रचना मिलती है (यथा—नि० अ० ३।७)।

संस्कृत साहित्य की रचना एवं चरक संहिता की भाषा में अलंकारों का बहुत भेद है। चरक संहिता में साहित्य की भाँति श्लेष, विरोधाभास आदि रचनायें नहीं हैं। इसकी भाषा सीधी-सरल, प्रांजल और साफ है, एक शब्द से एक ही अर्थ ज्ञात होता है, इसकी पदावली दृढ़, वर्ण सुरुचिपूर्ण, सूझ मौलिक, वस्तु का यथातथ्य चित्रण मिलता है, उदाहरण के लिये—उन्माद रोगी का वर्णन लीजिये—

"स्वप्नेचाभीक्ष्णं दर्शनं भ्रान्त चलितानवस्थितानां रूपाणामप्रशस्तानां च तिलपीड़कचक्राधिरोहणं वातकुण्डलिकाभिश्चोन्मथनं निमज्जनंच कलुषाणामम्भसामावर्ते"—चरक० नि० अ० ७।

कोल्हू के लिए **तिलपीडक चक्र**, वायु के बवण्डर के लिए **वातकुण्डलिका** शब्द विशेष रूप से ध्यान खींचते हैं। तिलपीड़क शब्द कोल्हू के अर्थ में अन्य स्थान पर भी आया है, जिस प्रकार कि कोल्हू पर बैठा मनुष्य अपने गन्तव्य

---

१. चूर्णकमल्पसमासं दीर्घसमासमुत्कलिकाप्रायम्।
समासरहितमाविद्धं वृत्तभागान्वितं वृत्तगन्धि॥

—हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन से।

स्थान पर—ध्येय पर नहीं पहुँचता, उसी प्रकार विवाद में पक्ष और विपक्ष में निरन्तर बहस करते जानेसे [उलझे रहने पर] कहीं पर भी समाप्ति नहीं होती।[१]

संस्कृत-साहित्य में कवि बाण की शैली को पंचाली कहते हैं, शब्द और अर्थ का समान रूप में जहाँ गुम्फन होता है, उसे पंचाली कहते हैं। बाण की शैली इसका उत्तम उदाहरण मानी जाती है। वैदर्भी का उत्कृष्ट उदाहरण कवि अश्वघोष और कालिदास की रचनायें हैं, इसमें माधुर्य, सरलता भरी है, इसमें भावों की कोमलता, वर्णन की सजीवता बनी रहती है। पदावली इतनी सुकुमार होती है कि जिस प्रकार कि व्याघ्री दाँतों से पकड़कर बच्चे को उठाती है, जिससे कि वह गिरता भी नहीं और पीड़ित भी नहीं होता, इसी प्रकार से इस शैली में रचना रहती है। शब्द मधुर, गूँथे, कानों के लिये प्रिय होते हैं।

बाण की रचना में यदि कई पृष्ठों में समाप्त होनेवाले लम्बे-लम्बे समास हैं, तो उसी की रचना में छोटे-छोटे सरल और हृदयग्राही नाट्य भी हैं। कालिदास की पद्य रचना अपनी उपमा के लिये प्रसिद्ध है। उसकी संचारिणी 'दीप शिखैव रात्रौ' वाला श्लोक कालिदास को दीपशिखा नाम से प्रसिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। रघुवंश में गंगा-यमुना के संगम का किया वर्णन बेजोड़ है।

चरक संहिता में ऐसी सुन्दर साहित्यिक रचना सम्भवतः विद्वत् जनों का सन्तोष न कर सके। परन्तु तथापि इसके साथ में बैठने योग्य पदावली, पद्य-गद्य रचना सुगमता से मिलती है, उदाहरण के लिये—

गद्य-रचना के लिये कहा जाता है कि—गद्य की तेजस्विता—उसका जीवन समासबहुल रचना में ही है (**ओजः समासभूमियस्त्वमतत् गद्यस्य जीवितम्**)। समासबहुल रचना गठी रहती है, ढीली नहीं होती, उसकी पकड़ मजबूत होती है, उसमें से कोई वर्ण छिटक नहीं सकता। यदि उसमें कर्णप्रिय शब्दों का प्रयोग किया गया है, तब तो वह मन को बाँध लेती हैं, देखिये—

"प्राणकामाः शुश्रुध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्-भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसःस्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहर-

---

१. (क) सू० अ० २५।२७।

(ख) जुन्नर—शातवाहन के नासिक वाले शिलालेख में तिलपिष्टक शब्द आता है; श्री कृष्णदत्त वाजपेयी की सूचना से।

मनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरमवद्धमांसहरमन्तरग्निसन्धुक्षणं प्रभावर्ण स्वरोत्तमकरं रसायनविधानम् ।"—चि० अ० १।२।२।

इतनी लम्बी रचना देने के पीछे ही तुरन्त छोटी, सरल रचना प्रस्तुत कर दी गयी—

"अतो निमित्तं हि शिथली भवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयः, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दन्तेचानल्पभेदः, न सन्धीयतेऽस्थिपु मज्जा, शुक्रं न प्रच्यवते क्षयमुपेत्यौजः, स एवं भूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितो निरुत्साह श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शरीरमानसानां, नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति ।"—चि० अ० १।२।३।

इस रचना में वाक्य छोटे, सरल, सुन्दर हैं, अर्थ ज्ञान में कुछ भी कठिनता नहीं।

सुन्दर कर्णप्रिय रचना का एक और उदाहरण लीजिये—इसमें आनुप देश का वर्णन है, आनूप देश जल बहुल होता है, वहाँ पर सदा हरियाली छाई रहती है, वहाँ के वृक्ष भी छोटे, सरस और मधुर फल वाले होते हैं। जांगल देश की भाँति वहाँ पर कीकर, खैर, असन, तिनिश, बेर, तिन्दुक नहीं होते, वहाँ की वायु भी जांगल देश की भाँति धूल-रेत मिली, कर्कश, शरीर को चीरने वाली नहीं होती, मनुष्य भी दृढ़ और कठोर नहीं होते; अपितु कोमल, नाजुक प्रकृति के होते हैं—

"अथानूपो हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहनः, सरित्समुद्रपर्यन्तप्रायः, शिशिरपवनबहुलः, वञ्जुलवानीरोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगतभूमिभागः, क्षितिधर निकुंजोपशोभितः मन्दपवनानुवीजितक्षितिरुहगहनः, अनेकनराजी पुष्पितवनगहनभूमिभागः, स्निग्धतरुप्रतानोपगूढ़ः, हंस-चक्रवाक-बलाका-नन्दीमुख-पुण्डरीक-कादम्ब-मद्गु-भृंगराज-शतपत्र-मत्तकोकिलानुनादिततरुविटपः, सुकुमारपुरुषः, पवनकफप्रायो ज्ञेयः।"[1]

जिस प्रकार का सुकुमार देश है, उसी प्रकार के कोमल, नाजुक प्रकृति के वहाँ के मनुष्य हैं, वैसे ही पशु-पक्षी हैं, और वैसी ही वनस्पतियाँ हैं।

---

१. क० अ० १।८।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आदि छोटे-छोटे वाक्यों में दिये गये उपदेश की भाँति चरक में भी करणीय कार्यों का उपदेश इसी प्रकार के छोटे-छोटे वाक्यों में दिया गया है, यथा—

"अग्निमुपाचरेत्, औषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौकालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्चवैमल्यमादध्यात्, त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः, सुमनाः सुगन्धिस्यात्, साधुवेशः, प्रसाधितकेशः, मूर्ध श्रोतृघ्राणपादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्त्ता…।"—सू० अ० ८।१८

"नानृतं ब्रूयात्, नान्यस्वमाददीत, नान्यस्त्रियमभिलेषन्नान्यश्रियं, न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापं, न पापेऽपि पापीस्यात्, नान्यदोषान् ब्रूयात्, नान्यरहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकेर्नरेन्द्रधिष्टैः सहासीत, नोन्मत्तैर्नपतितैर्नभ्रूण हन्तृभिर्नक्षुद्रैर्नदुष्टैः न दुष्ट्यानान्यारोहेत्।"—सू० अ० ८।१९।

इस रचना में वाक्य छोटे हैं, परन्तु सरल, पढ़ने में सुरुचिपूर्ण—तुरन्त अर्थज्ञापक हैं।

गद्य में लम्बे समास की रचना का उदाहरण देखना हो तो चन्दनाद्यतैल (चि० अ० ३।२५८), वमनविरेचन—आस्थापन स्कन्ध (वि० अ० ८।१३५-१३७) देखे जा सकते हैं। मधुर, अम्ल, कटु, कषाय गणों में द्रव्यों का परिगणन एक लम्बे समास के रूप में मिलता है (वि० अ० ८।१३९-१४४)। उत्तर काल जन्य अर्श के कारणों का उल्लेख लम्बे समास का उत्तम उदाहरण है (चि० अ० १४।८)।

इस प्रकार से चरक संहिता का गद्य समास दृष्टि से ओज से भरा, छोटी-छोटी पदावली में कर्णप्रिय—सरल मिलता है। इसके समझने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं।

पद्य रचना—पद्य रचना में लालित्य, मनोहर पदावली, विषयानुसार शब्दावली, छन्द रचना मिलती है। उदाहरण के लिये कुछ पद्य उपस्थित हैं—

'सरिद्ह्रदानां हिमवद् दरीणां, चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः, कथा सरक्तं शमयन्ति पित्तम्॥

(चि० अ० ४।१०९)

धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम् ।
वैदूर्यमुक्ता मणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः ॥
(चि० अ० ४।१०६)

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसोगुडूच्यास्तु समूल पुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः ॥
(चि० अ० १।३।५०)

क्षय रोगी का हुबहू चित्र चरक संहिता में मिलता है--

स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः ।
पाणिपादतलैश्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी ॥ चि० अ० १८।२७

रोगी के मुख की ओर त्वचा की कान्ति स्निग्ध और निर्मल होती है, ऐसा मालूम होती है कि अभी साबुन या बेसन से साफ किया है, आँखें मुक्ता की कान्ति से भरी--ऐश्वर्य सम्पन्न-लावण्यमयी (पानी से भरी) होती हैं, हथेली और पैरों के तलवे चिकने-साफ दीखते हैं। यदि क्षय रोगी को कभी देखने का अवसर हुआ हो तो इन लक्षणों की सत्यता अनुभव की जा सकती है। इस रोग में यही विशेषता है कि ज्यों-ज्यों रोग बढ़ता है, मुख की कान्ति-लावण्य निखरता जाता है, आँखें कमल के समान बड़ी और साफ हो जाती हैं।

यह सत्य है कि पिछले कवियों की भाँति चरक में अनुप्रास, यमक, श्लेष वाली रचना नहीं, परन्तु सीधी-सरल-सुन्दर पदावली है--आमलक घृत की प्रशस्ति में कहा है--

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च ।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्ति पूजासुखचित्तभाक् च ॥
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्रया स्वरो घनौघस्तमितानुकारी ।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरं च समश्नतो योगमिमं नरस्य ॥
(चि० अ० १।२।५-६)

वर्णन की दृष्टि से भी चरक संहिता की पदावली पूर्ण है। हिमालय का वर्णन कालिदास, अश्वघोष, नावनीतक के समान नहीं है, यह सत्य है, परन्तु सीधा और सरल है। मद्यपान के वर्णन में गुप्तकाल का पुट अवश्य मिलता है, उस में तत्कालीन वैभव की झलक है--

हिमालय का वर्णन दो स्थानों पर है, एक गद्य रचना में और दूसरा पद्य रचना में कैलास का वर्णन--

कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे ।
पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसंपदैः ।
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान् सर्वतः स्वभ्यलङ्कृते ।
विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥ चि० अ० २१।३-४

हिमालय का वर्णन--

'अपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गंगाप्रभवममरगन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षि सिद्धचरणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधि प्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपति गुप्तं जग्मुः--

(चि० अ० १।४।३)

मद्यपान का वर्णन--

देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते ।
संवाससंमते मुख्ये धूपसंमोदबोधिते ॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने ।
उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीर सुखेस्थित ॥
सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि ।
भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥
रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः ।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः ॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः ।
संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ॥

(चि० अ० २४।१३-१७)

मद्यपान की दृष्टि से यह वर्णन उपयुक्त ही है। हेमन्तचर्या, ग्रीष्मचर्या का वर्णन (सू० अ० ६।१४-१८,३०) ऋतुवों के वर्णन की दृष्टि से अनुकूल है, संक्षिप्त एवं सरल है। इस वर्णन से मनुष्य की रुचि का पता लग जाता है।[१]

---

१. आयुर्वेद में साहित्य की दृष्टि से वर्णन अत्रिदेव विद्यालंकार लिखित—संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद–पृ० २८८-२३३ में देख सकते हैं।

इसी प्रकार से मोक्ष की इच्छा वाले व्यक्ति के लिये मोक्ष के जो उपाय बताये हैं, वह सन्दर्भ गद्य शैली का उत्तम उदाहरण है, इसमें छोटे और सरल वाक्य हैं, यथा—

"तत्र लोक दोष दर्शिनोमुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं तदार्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ता क्रियाः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असंगतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितम-परुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनम्, सर्वप्राणीषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणम-संकल्पनमप्रार्थनमनभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनंप्रच्छादनार्थं, धातुराग निवसनं, कन्थासीवन हेतोः सूची पिप्पलकं, शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्षचर्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्नोऽभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्क पर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यान हेतो कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सत्कारस्तुतिगर्हावमान क्षमत्वं, लोकपुरुषयोसर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकाला-त्यय भयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबला-धानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च, सर्वप्रवृत्तिष्वध-संज्ञा, सर्वसन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः—एषमार्गोऽपवर्गाय अतोन्यथाबध्यते—
(शा० अ० ५।१२।)

इस प्रकार अनेक स्थल चरक संहिता में से चुने जा सकते हैं, दीर्घ समासबहुल रचना के लिये अगर्वादितैल (चि० अ० ३।२६७), विकृत देश का लक्षण (वि० अ० ३।३-७) देख सकते हैं।

गद्य और पद्य दोनों की दृष्टि से चरक की भाषा प्रांजल, सुगठित (सुबद्ध-ढीली नहीं) है, शब्द और अर्थ साथ-साथ चलते हैं, सरल है, पढ़ने के साथ-साथ विषय स्पष्ट होता है, दुरूहता नहीं है। भाषा में कहीं-कहीं पर तात्कालिक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो कि पीछे से लुप्त हो गये प्रतीत होते हैं—

उदाहरण के लिए—

१—शम्या और ताल शब्द—ताल शब्द संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है (नृत्तं ताललयाश्रयम्—नृत; ताल और लय के आश्रित होता है); परन्तु शम्या

का प्रयोग साहित्य में नहीं देखा जाता है, साथ ही ताल शब्द भी एक दूसरे अर्थ में आया है—

शम्या दक्षिणहस्तेन, वामहस्तेन, तालकः ।
उभाभ्यां वादनं यत्तु सन्निपातः स उच्यते ॥

विशाखि-(चक्रपाणि टीका) नि० अ० ७।७

दक्षिण हाथ से बजाना शम्या, वाम हाथ से बजाना ताल है, दोनों हाथ से बजाना सन्निपात कहा ज़ाता है। चरक में शम्या और ताल शब्द का प्रयोग है- 'शम्यातालशब्दानुकरणमसाम्ना—नि० अ० ७।७ (१) ।

चरक संहिता के साथ अश्वघोष का उपमा सादृश्य—

२. धातुसाम्य—परस्पर मिलने पर कुशल-क्षेम पूछने पर धातुसाम्य का प्रयोग अश्वघोष ने किया है।

अश्वघोष की रचना में कुशल शब्द नहीं आया। कालिदास ने कुशल शब्द का प्रयोग किया है (अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः—मेघदूत उत्तरमेघ ४।१) ।

धातुसाम्य का अर्थ ही आरोग्य है, यही इस तन्त्र का चरम लक्ष्य-प्रयोजन है (**धातुसाम्य क्रियाचोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्**—सू० अ० १।५३)। धातुसाम्य का अर्थ ही आरोग्य है (**विकारोधातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते**—सू० अ० ९।४)। अराड् ने भगवान् बुद्ध के मिलने पर उसकी प्रकृति धातुसाम्य शब्द से ही पूछी थी—

तावुभौन्यायतः पृष्ट्वा धातुसाम्यं परस्परम् ।
दार्व्योर्मेध्ययोर्वृष्योः शुचौ देशे निषेदतुः ॥—बु०च० १२।१३ ।

३. चरक संहिता की उपमायें अश्वघोष की उपमाओं से मिलती हैं, यथा—

चित्रघट की उपमा—चरक में, '**न च तुल्योयोगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदतां**'—वि० अ० ३।३६ ।

अश्वघोष की रचना में—

शरीरसामाद्पिमृन्मयाद्घटादिदं तु निःसारतमं मतं मम ।
चिरं हि तिष्टेद् विधिवद्धृतोघटः समुच्छ्रयोऽयं सुधृतोऽपिभिद्यते ॥

—सौ० ९।११ ।

चित्र प्रदीप की उपमा—चरक में सन्तान रहित पुरुष की उपमा चित्र प्रदीप से दी है, जिस प्रकार एक जलते दिये से दूसरा दिया जल सकता है, जलता दिया दूसरों को प्रकाश दे सकता है, परन्तु चित्र में बना दीपक न प्रकाश दे सकता है और न दूसरे दीपों को जला सकता है—व्यर्थ ही है, उसी प्रकार से सन्तान रहित पुरुष है—

अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ।
चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः ॥—चि० अ० २।१।१७

अश्वघोष ने भी चित्र प्रदीप की उपमा दी है—

पाणौकपालमवधाय विधायमौण्ड्यं मानं निधाय विकृतं परिधाय वासः ।
यस्योद्भवो न धृतिरस्ति न शान्तिरस्ति चित्रप्रदीप इव सोऽस्ति च नास्तिचैव ॥
—सौ० ७।८

यह एक झूठे संन्यासी का वर्णन है, जो कि एक चित्र प्रदीप की भाँति ही है।[1]

इससे स्पष्ट है कि चरक संहिता की भाषा अश्वघोष से पहले की या उस समय की है, जो कि कुषाण काल की (कनिष्क के समय पहली शती पूर्व या पश्चात्) की है। इस भाषा में बहुत से नये शब्द हैं, जो पीछे उच्च श्रेणी की संस्कृत से लुप्त हो गये हैं। छन्द रचना भी सरल थी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित आदि छन्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। गद्य सरल और स्पष्टार्थ है, इसमें श्लेष या विरोधाभास की रचना नहीं हैं। लम्बे-लम्बे वाक्य बहुत नहीं, समासरचना होने पर भी वाक्य में दुरुहता नहीं आई (यद्यपि चरक ने प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए लम्बी कठिन शब्द रचना बरतने को कहा है—'**वाक्य** '**धारणा हीनमाविद्धदीर्घ सूत्रसंख्यैर्वाक्य दण्डकैः**'—वि० अ० ८।२१)। इसकी पदावली सुन्दर, रचनाक्रम-गटित, शब्द और अर्थ का परस्पर मेल, भाषा ललित है, पाठक के मन को खींचती है। उसे उसके आस्वादन में बेस्वाद नहीं होता, अर्थ-व्यक्ति साथ-साथ में होती जाती हैं; उपमायें सरल, लोकप्रसिद्ध हैं।

---

१. चरक संहिता और अश्वघोष की भाषा की तुलना के लिए अत्रिदेव विद्यालंकार की लिखी पुस्तक '**संस्कृत साहित्यमें आयुर्वेद**' में कवि अश्वघोष देखा जा सकता है।

सहायक पुस्तकें

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिये काम में आने वाली मुख्य-मुख्य पुस्तकों की तालिका

आयुर्वेद साहित्य :

१. अष्टांग संग्रह—अत्रिदेव विद्यालंकार का अनुवाद।

२. अष्टांग संग्रह—इन्दु टीका—तंजौर—१९२४।

३. अष्टांग हृदय—अत्रिदेव विद्यालंकार का अनुवाद—बनारस १९५०।

४. आयुर्वेद का इतिहास—अत्रिदेव विद्यालंकार—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग—प्रथम संस्करण।

५. काश्यप संहिता—श्री हेमराजजी शर्मा द्वारा सम्पादित—काठमाण्डू १९३८।

६. चरक संहिता—श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य सम्पादित—१९१४ का संस्करण—बम्बई।

७. चरक संहिता—गुलाब कुंवरबा सोसायटी—जामनगर—६ भागों में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ११५०।

८. चरक संहिता—श्री योगीन्द्रनाथ सेन—चरकोपस्कार टीका—कलकत्ता।

९. चरक संहिता—जैज्जट टीका—मोतीलाल बनारसीदास—लाहौर से प्रकाशित।

१०. चरक संहिता—अत्रिदेव विद्यालंकार अनुवाद—: द्वितीय संस्करण : भार्गव पुस्तकालय, बनारस।

११. चरक संहिता—श्री गंगाधर कविराज—जल्पकल्पतरु टीका—प्रथम संस्करण, कलकत्ता।

१२. चरक संहिता—श्री जयदेव विद्यालंकार का अनुवाद—चतुर्थ संस्करण—बनारस।

१३. नावनीतकम्—मेहरचन्द लक्ष्मण दास से प्रकाशित—लाहौर का प्रथम संस्करण।

१४. प्रत्यक्ष शारीरम्—श्री गणनाथ सेनजी—कलकत्ता पंचम संस्करण।
१५. भेल संहिता—कलकत्ता विश्वविद्यालय—कलकत्ता—१९२१।
१६. सुश्रुत संहिता—अत्रिदेव विद्यालंकार का अनुवाद—द्वितीय संस्करण, बनारस।

वैदिक और संस्कृत साहित्य :

१. अथर्ववेद—श्री पं० दामोदर सातवलेकरजी किला पारड़ी—सूरत बम्बई।
२. कठोपनिषद—निर्णयसागर प्रेस—अष्टाविंशत्युपनिषद—मूलमात्र—बम्बई।
३. कादम्बरी—पण्डित पुस्तकालय—बनारस।
४' काव्य मीमांसा—श्री पं० केदारनाथ सारस्वत का अनुवाद—पटना।
५. कमसूत्र—चौखम्भा संस्कृत सीरीज—बनारस।
६. कुमार सम्भव—कालिदास ग्रन्थावली—बनारस।
७. छान्दोग्योपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस—अष्टाविंशत्युपनिषाद—मूलमात्र—बम्बई।
८. जावालोपनिषद—निर्णय सागर प्रेस ,, ,, ,, ।
९. पंचतन्त्र—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
१०. पादताड़ित—श्री श्यामल विरचित—डॉ० अग्रवाल एवं डॉ० मोतीचन्द का अनुवाद।
११. प्रश्नोपनिषद—अष्टाविंशत्यपनिषद—मूलमात्र, बम्बई।
१२. बुद्ध चरित—सूर्यनारायण चौधरी का अनुवाद—चम्पारन से प्रकाशित।
१३. भगवद्गीता—गीता प्रेस गोरखपुर—गुटिकानुवाद।
१४. मेघदूत—कालिदास ग्रन्थावली—बनारस।
१५. मृच्छकटिक चौखम्भा संस्कृत सीरीज—बनारस।
१६. रघुवंश—कालिदास ग्रन्थावली—बनारस।
१७. ललितविस्तर—श्री आलतेकर द्वारा सम्पादित—पटना।
१८. विक्रमांकदेवचरित—मूल।
१९. बृहदारण्यकोपनिषद—निर्णयसागर—अष्टाविंशत्युपनिषद मूलमात्र—बम्बई।
२०. वाल्मीकि रामायण—पण्डित पुस्तकालय—बनारस।
२१. गाथा सप्तशती—काव्यमाला में प्रकाशित, निर्णयसागर प्रेस।

अनुवाद एवं हिन्दी, संस्कृत के साहित्य :

२२. कौटिल्य अर्थशास्त्र—श्री उदयवीर जी शास्त्री—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर।
२३. गीता रहस्य—लोकमान्यतिलक—पूना—हिन्दी संस्करण।
२४. महाभारत—गीताप्रेस गोरखपुर।
२५. मनुस्मृति—पण्डित पुस्तकालय, बनारस।
२५. संस्कार विधि—स्वामी दयानन्द-अजमेर।
२६. संस्कार विधि विमर्श—अत्रिदेव विद्यालंकार, बनारस।
२७. संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद—अत्रिदेव विद्यालंकार-भारतीय ज्ञानपीठ-बनारस।

दार्शनिक एवं ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य :

१. अध्यात्म विचारणा—पं० श्री सुखलाल जी जैन।
२. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलीस्फी—श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त-भाग १-२।
३. न्यायदर्शन—चौखम्बा संस्कृत सीरीज—बनारस।
४. भारतीय दर्शन—श्री बलदेवजी उपाध्याय—बनारस।
५. भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास—हिन्दी समिति—लखनऊ।
६. योगदर्शन—चौखम्बा संस्कृत सीरीज—बनारस।
७. वैशेषिक दर्शन— ,, ,, ,, ,,।
८. बृहत्संहिता— ,, ,, ,, ,,।
९. सांख्यकारिका— ,, ,, ,, ,,।
१०. सांख्य दर्शन का इतिहास—श्री उदयवीर जी शास्त्री, देहली।

इतिहास सम्बन्धी साहित्य

१. इतिहास प्रवेश—श्री जयचन्दजी विद्यालंकार—इलाहाबाद।
२. कादम्बरी एक अध्ययन—डॉ० श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल—बनारस।
३. पाणिनि कालीन भारतवर्ष— ,, ,, ,, ।
४. प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास—डॉ० श्री रमाशंकर जी त्रिपाठी—बनारस।
५. प्राचीन भारत के प्रसाधन—अत्रिदेव विद्यालंकार—भारतीय ज्ञानपीठ—बनारस।

६. प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली—श्री आलेतकर—इलाहाबाद ।
७. मिलिन्द प्रश्न—श्री जगदीश काश्यप का अनुवाद—बनारस ।
८. राज तरंगिणी—हिन्दी सुलभ पुस्तकमाला—बनारस ।
९. रामायण कालीन संस्कृति—श्री शान्तिकुमार—नानूराम व्यास—देहली ।
१०. विनयपिटक—श्री राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद—बनारस ।
११. वैदिक संस्कृति की विकास धारा—डॉ० मंगलदेवजी शास्त्री—बनारस ।
१२. हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० वासुदेवशरणजी—पटना ।
१३. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
१४. हिन्दू सभ्यता—अनु० श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल—देहली ।
१५. हिन्दू परिवार मीमांसा—हरिदत्त जी वेदालंकार—इलाहाबाद ।
१६. हिस्टौरीकल जियोग्राफी ऑफ इण्डियन—श्री विमल चन्द—कलकत्ता ।
१७. धर्मशास्त्र का इतिहास—(हिन्दी अनुवाद)—हिन्दी समिति—लखनऊ से प्रकाशित ।

पत्र-पत्रिकायें

औपनिषद धारा की मूल प्रवृत्तियाँ—कल्पना पत्रिका में—श्री डा० मंगलदेव शास्त्रीजी—हैदराबाद—१९५९ ।
पंचाग—ज्ञानमण्डल—बनारस ।

मंगल कामना

यो मेऽद्यस्मिन्ह्यते तस्य शिवमस्तु सदा भुवि।
यश्चमां द्वेष्टि लोकेऽस्मिन् सोऽपि भद्राणि पश्यतु ॥ मा० पु०

आयुर्वेद की आत्मा

अष्टांग संग्रह

भारतवर्ष के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से स्मरण किये जानेवाले गुप्त काल की आयुर्वेद की प्रामाणिक और अन्तिम रचना यह है। इसके सम्बन्ध में रचनात्मक कार्यकर्त्ता, चुस्त गान्धीवादी नासिक सर्वसेवा संघ के स्थापक वैद्य **श्री विन्धुमाधव** जी का कहना है—

"चरक-सुश्रुत आदि ऋषि ग्रन्थ पढ़ने का प्रयास न कर प्रथम वृद्ध वाग्भट [अष्टांग संग्रह] ग्रन्थ पढ़ने और पढ़ाने का प्रयत्न किया जाये; तो कम कष्ट वाला और अधिक लाभ देनेवाला होगा; ऐसा हमारा मत अष्टांग संग्रह सूत्र-स्थान का आठ दस वाचन करने से हुआ है।"

वैद्य बापालाल-षष्टि पूर्त्ति गौरव ग्रन्थ से। वैद्यराज श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के कथनानुसार अष्टांग संग्रह के पढ़े बिना, केवल चरक सुश्रुत के पढ़ने से आयुर्वेद का ज्ञान भली प्रकार नहीं होता। यही कारण है कि कविराज श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम० ए० ने अपनी चरकोपस्कार व्याख्या में कदम-कदम पर इसकी सहायता ली है; शायद ही कोई ऐसा पृष्ठ होगा, जिसमें इस ग्रन्थ का उद्धरण न दिया हो।

ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मूल के साथ अविकल हिन्दी अनुवाद एवं पाद टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया है। प्रथम भाग ११ रुपया, द्वितीय भाग—२५ रुपया—पैकिंग-पोस्टेज पृथक्।

